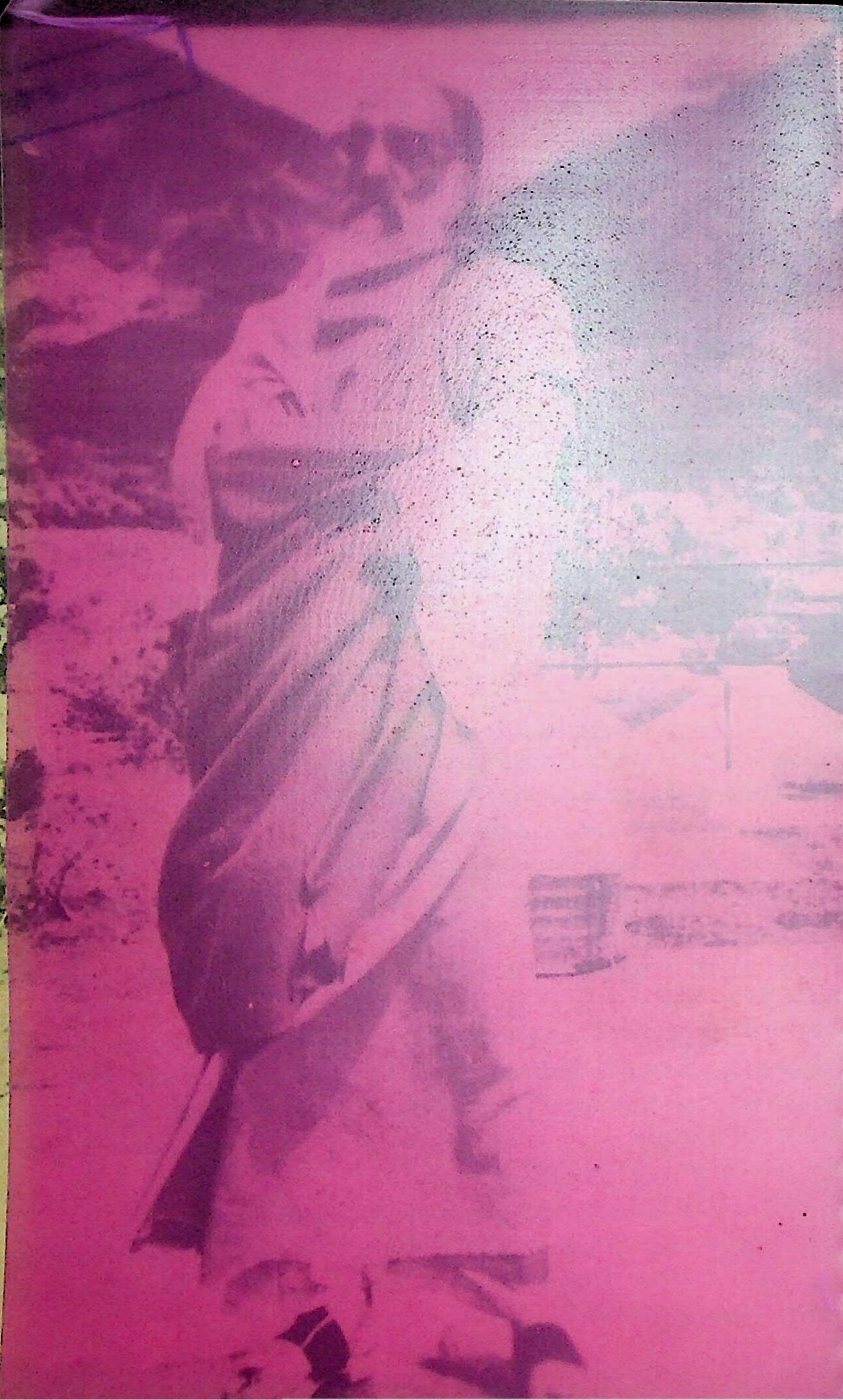
श्रीमद्भगवद्गीता

(गीतामृतमञ्जूषा)

त्रयोदशोऽध्यायः

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द
सरस्वती महाराज का प्रसाद

गीतामण्डली
माधवीकुञ्ज
५०, शिवकुटी, पं० केवलरीकाइन्स
इलाहाबाद—४



श्रीमद्भगवद्गीता

(गीतामृतमञ्जूषा)

त्रयोदशोऽध्यायः

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द
सरस्वती महाराज का प्रसाद

गीतामण्डली
माधवीकुञ्ज
५०, शिवकुटी, पो० केवलरीलाइन्स
इलाहाबाद—४

श्रीमद्भगवद्गीता

(गीतामृतमञ्जूषा)

त्रयोदशोऽध्यायः

परमहंसपरिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीमद्भागवतानन्द
सरस्वती महाराज का प्रसाद

गीतामण्डली

माधवीकुञ्ज

५०, शिवकुटी, पो० केवलरीलाइन्स

इलाहाबाद—४

प्रकाशक :
प्रोफेसर निशीथ कुमार तरफदार, बी० ई०
बिहार कॉलेज ऑफ इंजिनियरिंग
पटना—५ (बिहार)
मुद्रक :
नरेन्द्रकुमार प्राणलाल आचार्य
आचार्य मुद्रणालय
कर्णघण्टा, वाराणसी—१

प्राप्तिस्थान

१—अध्यक्ष, गीतामण्डली,
५० शिवकुटी, इलाहाबाद—४

२—श्री शिवशंकर स्वामी
२३ पुराना किला, लखनऊ

३—श्रीमती छबि बोस
३ ए/११ आजाद नगर, कानपुर

४—श्रीमती रमा मित्रा
११२/२४८ स्वरूपनगर, कानपुर

५—श्रीमती उमादानी
द्वारा श्री डी. आर. दानी, लक्ष्मी-
निवास, सिविल लाइन्स, मुरादाबाद

६—प्रो० निशीथ कुमार तरफदार बी० ई०
बिहार इंजिनियरिंग कालेज,
पटना ५ (बिहार)

७—डॉ० मदन मोहन,
रमा आई हौस्पिटल,
१० कान्वैंट रोड, देहरादून

८—श्री हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, एडवोकेट,
प्रभु टाऊन, रायबरेली

९—श्रीमती माधवी कर,
द्वारा डॉ. एच.एम. कर
सिविल सर्जन, मिर्जापुर

१०—श्री एस. सी. मित्र, १४ बी०,
तिलक ब्रिज, आफिसर्स रेलवे
कॉलोनी नगर, न्यू दिल्ली—१

११—श्री रामकुमार रस्तौगी
धामपुर (बिजनौर)

विज्ञप्ति

भगवान् की असीम कृपा से परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीभागवतानन्द सरस्वती महाराज द्वारा प्रणीत "गीतामृतमञ्जूषा" का त्रयोदश अध्याय (क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग) प्रकाशित हो रहा है। यह अध्याय बहुत ही रहस्यपूर्ण है। आशा है सभी जिज्ञासु पाठक स्वामीजी की इस विस्तृत व्याख्या से लाभ उठा सकेंगे।

जिन दानवीर महापुरुषों की सहायता से पिछले कई अध्यायों का प्रकाशन सम्भव हुआ है, यह अध्याय भी उनकी निःस्वार्थ सहायता से ही प्रकाशित हो रहा है, इसलिए गीतामण्डली उनके प्रति बारंबार कृतज्ञता प्रकाश कर रही है।

इति

शिवरात्रि
१३-२-७२

श्रीनिशीथ कुमार तरफदार बी. ई.
सचिव, गीतामण्डली
इलाहाबाद।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीमद्भगवद्गीता

त्रयोदशोऽध्यायः

"क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगः"

[समस्त गीता तीन षट्क में विभक्त हैं। उनमें से प्रथम षट्क में अर्थात् प्रथम से लेकर षष्ठ अध्यायतक 'त्वम्' पदार्थ का तथा द्वितीय षट्क में अर्थात् सप्तम से द्वादश अध्याय तक 'तत्' पदार्थ का अर्थ निर्णय किया गया है। तृतीय षट्क में अर्थात् त्रयोदश से अष्टादश अध्याय तक 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का प्रतिपाद्य 'त्वम् व तत्' पदार्थ का एकत्वज्ञान अर्थात् जीव और ब्रह्म का अभिन्नता-ज्ञान वर्णित होगा।]

सातवें अध्याय में ईश्वर की दो प्रकृतियाँ वर्णित हुई हैं। पहली आठ प्रकार से विभक्त त्रिगुणात्मिका प्रकृति (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश तन्मात्रा) तथा मन बुद्धि और अहंकार—इन आठ प्रकार से विभक्त प्रकृति जो संसार का कारण होने से अपरा नाम से अभिहित है, और दूसरी पराप्रकृति जो कि जीवभूता (जीवरूपा), क्षेत्रज्ञरूपा ईश्वरात्मिका है, इन दोनों प्रकृतियों से ही ईश्वर जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का कर्ता होता है। ईश्वर (भगवान्) दोनों प्रकृति का ही अधीश्वर होने के कारण प्रकृति से बद्ध नहीं होता है। अपरा प्रकृति जिसको आगे क्षेत्र कहा जायगा वह सर्वदा ही दृश्य (ज्ञेय) है और पराप्रकृति उस क्षेत्र को सदा ही जानती है, देखती है, इसलिए उसको क्षेत्रज्ञ (साक्षी, द्रष्टा, विज्ञाता इत्यादिरूप से) कहा जाता है। किन्तु

क्षेत्रज्ञ जब अपने स्वरूप को भूलकर क्षेत्र में आत्माभिमान करता है अर्थात् ज्ञाता (द्रष्टा) जब ज्ञेय (दृश्य) के साथ तादात्म्याभिमान (यह मैं हूँ इस प्रकार अभिमान) करता है तब व्यष्टि क्षेत्र में (शरीर में) जो क्षेत्रज्ञ है वह शरीराभिमानी होकर संसारी जीव बन जाता है यद्यपि वह क्षेत्रज्ञरूप में शुद्धचैतन्यस्वरूप ईश्वर (ब्रह्म) ही है। अतः क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ को पृथक् करने की असमर्थता ही (अपने यथार्थस्वरूप के सम्बन्ध में अज्ञान ही) संसारबन्धन का मूल कारण है। इसलिए इन दोनों प्रकृतियों के अर्थात् क्षेत्र और क्षेत्रज्ञरूप प्रकृतियों के भेदनिरूपणद्वारा उन प्रकृतियों से युक्त ईश्वर का भी तत्त्व निश्चित करना सम्भव होगा, इस अभिप्राय से यह क्षेत्रविषयक अध्याय आरम्भ किया जाता है। [इस अध्याय का दूसरा जो प्रतिपाद्य विषय है वह यह है-] इसके पूर्ववर्ती बारहवें अध्याय में 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादि श्लोक से लेकर उस अध्याय की समाप्ति तक तत्त्वज्ञानी संन्यासियों की निष्ठा (अर्थात् वे किस प्रकार स्थित रहते हैं) यह कहा गया है। वे तत्त्वज्ञान से युक्त होकर किस प्रकार उपर्युक्त धर्मों [अद्वेष्टादि धर्मसमूहों (गीता-१२।१३,१९)] के आचरण द्वारा भगवान् के प्रिय होते हैं-इसको समझाने के लिए भी यह त्रयोदश अध्याय आरम्भ किया जाता है। [मधुसूदन सरस्वती इस अध्याय के उपक्रम में इस प्रकार प्रार्थना करते हैं—

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति॥

अर्थात् योगी लोग ध्यानाभ्यास के द्वारा वश में किये हुए मन से यदि किसी श्रेष्ठ और निष्क्रिय ज्योति का साक्षात्कार करते हैं तो वे भले ही करें। हमारे तो नेत्रों को चमत्कृत करने के लिए चिरकालतक वही रहे जो एक श्याम तेज यमुनाजी की रेती में इधर-उधर दौड़ लगा रहा है। बहुत से द्वैतवादी इस श्लोक का उल्लेख कर मधुसूदन सरस्वती के द्वैतवाद में पक्षपात का प्रतिपादन करते हैं। अद्वैतसिद्धि नामक ग्रन्थ का प्रणेता तथा गीता की व्याख्या में सर्वत्र ही द्वैतवाद का खण्डन कर अद्वैतत्व को दृढ़भाव से प्रतिष्ठित करनेवाले मधुसूदन को द्वैतवाद का समर्थकरूप से निर्णय करना

एक प्रकार से मूढ़ता का ही परिचायक है। जो लोग ध्यानाभ्यास से मन के द्वारा किसी ज्योति का साक्षात्कार करते हैं वे भगवान् (परमब्रह्म) को दृश्यरूप में ही देखते हैं। दृश्यमात्र ही कल्पित (मायारचित) होने के कारण वह कोई तत्त्व नहीं है। साधक का उस दृश्य को छोड़कर निर्विकल्प होकर (कल्पित नामरूपात्मक दृश्य की कल्पना को त्यागकर) अपनी सत्ता का भी लय कर संसाररूपी कालिन्दी के तट की नामरूपी तथा क्रियारूपी रेती में जो एक निष्क्रिय निर्विकार अद्वितीय महान् (सर्वव्यापी) नील (अनन्त) स्वयंप्रकाश सत्ता दौड़ रही है वही मेरे दर्शन में बराबर रहे अर्थात् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'वासुदेवः सर्वमिति' इस प्रकार साक्षादनुभूति मेरी रहे, यही मधुसूदन प्रार्थना कर रहे हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि जो अपने में तथा विश्व में सर्वत्र एक ही सत्ता देखना चाहते हैं उनके विचार में द्वैतबुद्धि लेशमात्र भी नहीं है। संसार की सभी वस्तुएँ काल के गाल में पड़ी हैं, अतः संसाररूपी प्रवाह को कालिन्दी नदी कहा जाता है। पुलिन या तट नदी के प्रवाह को सीमित रखता है। नामरूप तथा विशेष-विशेष क्रियाएँ भी संसार को सीमित कर रखती हैं, यद्यपि वे सभी पूर्ण (अनन्त) ब्रह्मस्वरूप ही हैं। सीमित में असीम को देखना, विनाशशील वस्तु में अविनाशी को देखना तथा अपूर्ण में पूर्ण को देखना यही तो अद्वैत तत्त्वज्ञान है। अतः मधुसूदन सरस्वती के लिए इस स्तुति के सम्बन्ध में किसी भ्रान्ति का स्थान नहीं है।] इस अध्याय की भूमिका रूप से मधुसूदन सरस्वती कहते हैं—पहले छ अध्यायों में 'त्वम्' पदार्थ का तथा बीच के छ अध्यायों से 'तत्' पद के अर्थ का निरूपण किया गया है। अब अन्तिम षट्क में (त्रयोदश से अष्टादश अध्याय तक) जीव और ब्रह्म के एकत्व अनुभव से जो सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होता है उस सम्यक् ज्ञान को ही विशेषरूप से कहा गया है अर्थात् तत्त्वमसि महावाक्य में 'असि' पद का तात्पर्य वर्णित किया गया है। पूर्वाध्याय में (१२।७ श्लोक में) भगवान् ने कहा है कि जिसका चित्त मुझमें आविष्ट रहता है उसका मैं इस मृत्युयुक्त संसाररूपी सागर से शीघ्र ही उद्धार कर देता हूँ। अज्ञान ही इस मृत्युयुक्त संसार का कारण है। अतः तत्त्वज्ञान के बिना इससे उद्धार होना सम्भव ही नहीं है। अतः जिस प्रकार के आत्मज्ञान से मृत्युरूप संसार की निवृत्ति होती है और जिस तत्त्वज्ञान से सम्पन्न हुए अद्वेष्टृत्वादि गुणों वाले संन्यासियों का पहले निरूपण

किया जा चुका है उसी आत्मज्ञान का इस अध्याय में वर्णन किया गया है। वह आत्मज्ञान तो अद्वितीय परमात्मा के साथ जीव के अभिन्न बुद्धि (एकत्वबुद्धि) से ही हो सकता है क्योंकि सारे अनर्थ का कारण जीव और परमात्मा में भेदबुद्धिरूप भ्रम ही है! यदि शंका हो कि प्रत्येक क्षेत्र में (शरीर में) भिन्न-भिन्न संसारी जीवों का असंसारी अद्वितीय परमात्मा के साथ अभेद (एकत्व) कैसे हो सकता है तो उसके उत्तर में कहा जाता है कि—संसार और भिन्नत्व तो अविद्या कल्पित है तथा अनात्म के (देह-अन्तःकरण आदि के) धर्म ही हैं। इसलिए पारमार्थिक दृष्टि से जीव के संसारित्व तथा परमात्मा से भिन्नत्व नहीं है। देह, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण आदि के संघात (समष्टि) रूप क्षेत्र से विवेक (पृथक्) करके जो क्षेत्रज्ञ पुरुष निर्णीत होता है, वह एक तथा निर्विकार ही है—यह प्रतिपादन करने के उद्देश्य से इस अध्याय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवेक किया जाता है। सातवें अध्याय में 'अपरा' और 'परा' शब्द से कहे जाने वाली जो भूमि आदि क्षेत्ररूप से और जीवरूप क्षेत्रज्ञ से दो प्रकृतियाँ कही गयी हैं उनके विवेक द्वारा (उनके पार्थक्य का निर्देश कर) तत्व का निरूपण करने के लिए श्रीभगवान् ने कहा—]

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

अन्वय—हे कौन्तेय! इदं शरीरं क्षेत्रम् इति अभिधीयते एतद् यः वेत्ति, तद्विदः तं क्षेत्रज्ञः इति प्राहुः।

अनुवाद—भगवान् ने कहा, हे कुन्तिनन्दन! यह शरीर 'क्षेत्र' नाम से कहा जाता है। जो इसे जानता है उसे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का भेद जानने वाले पुरुष 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं।

भाष्यदीपिका—**हे कौन्तेय**—हे कुन्तिपुत्र अर्जुन! [कुन्ति मुझ ईश्वर के प्रति अनन्य भक्ति से, विवेक ज्ञान से सम्पन्न हुई थी, तुम उनके पुत्र हो—तुम भी क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ को विवेक (पृथक्) कर आत्मज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होंगे, इस प्रकार

कहने के लिए यहाँ 'कौन्तेय' शब्द से भगवान् ने अर्जुन को सम्बोधित किया है।] **इदम्**—यह प्रत्यक्ष दृश्यमान वस्तु को **शरीरम्**—इस विशेषण से स्पष्ट करते हैं। देह, इन्द्रिय तथा अन्तः करण के संघातरूप शरीर [प्रकृति त्रिगुणात्मिका है एवं वह समस्त प्रकार के कार्य कारण तथा विषय रूप में परिणत होती है और जीव के भोग तथा अपवर्ग (मोक्ष) की सिद्धि के लिए देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि के आकार में संहत होती है अर्थात् उन सबको एकत्रित कर विशेष मूर्ति या शरीर रूप में परिणत होती है इसलिए शरीर शब्द से इन्द्रिय तथा अन्तःकरण सहित भोग आयतन (भोग के आश्रय) जो देह हैं उसे सूचित कर रहे हैं। यहाँ 'शरीर' शब्द से समस्त दृश्यमान अनात्मा (जगत् प्रपञ्च) को समझा रहे हैं क्योंकि पन्द्रहवें अध्याय में सोलहवें श्लोक में कहेंगे 'क्षरः सर्वाणि भूतानि'।] **क्षेत्रमिति अभिधीयते**—'क्षेत्र है' इस प्रकार कहा जाता है। [(१) शरीर द्वारा संसाररूपी 'क्षत से त्राण (मुक्ति) प्राप्त हो सकता है अर्थात् शरीर की तपस्या द्वारा शमदमादि सम्पत्ति से युक्त पुरुष को संन्यासरूपी अनर्थ से त्राण प्राप्त होता है, इसलिए 'क्षतात् त्रायते इति क्षेत्रम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार शरीर को क्षेत्र कहा कहा जाता है। अथवा (२) (क्षरणात् क्षेत्रम्) दीपशिखा के समान इसका प्रतिक्षण शनैः शनैः क्षय (नाश) होता है, इस शरीर को क्षेत्र कहा जाता है। अथवा (३) राग द्वेषादि दोषविशिष्ट अविद्याग्रस्त पुरुष की शरीर के प्रति आसक्ति रहने के कारण क्षय (नाश) प्राप्त होता है इसलिए शरीर को क्षेत्र कहते हैं अथवा (४) क्षेत्र में बीज वपन करने पर बीज के अनुसार फल प्राप्त होता है, उसी प्रकार कृत कर्मों के अनुसार शरीर में शुभाशुभ कर्मफल प्राप्त होते हैं, इसलिए यह शरीर क्षेत्र है ऐसा कहा जाता है। यहाँ 'इति' शब्द 'एवं' शब्द के अर्थ में ('इसप्रकार' अर्थ में) है अर्थात् 'इति अभिधीयते' इस पद का अर्थ है—शरीर क्षेत्र है, इसप्रकार कहा जाता है। [अत्र दृश्य क्षेत्र रूप शरीर के सम्बन्ध में कहकर उससे अतिरिक्त क्षेत्र के जानने वाले का परिचय दे रहे हैं] **एतद्**—इस शरीर रूप क्षेत्र को **यः वेत्ति**—जो जानता है अर्थात् पादतल से (चरणों से लेकर मस्तक पर्यन्त शरीरों को जो ज्ञान का विषय करता है अर्थात् स्वाभाविक या उपदेश द्वारा प्राप्त अनुभव से अपने से क्षेत्र को पृथक् (विभाग) कर इसे स्पष्ट जानता है। [मैं

मनुष्य हूँ, शरीर नहीं हूँ यह स्वाभाविक ज्ञान है और देह दृश्य वस्तु है अतः द्रष्टात्मा शरीर नहीं हो सकता है, यह उपदेशजनित ज्ञान है। इसप्रकार स्वाभाविक अथवा उपदेश द्वारा प्राप्त अनुभव से (ज्ञान से) जो अपने को दृश्य शरीर से पृथक् कर द्रष्टारूप से क्षेत्ररूप शरीर को जानता है—] **तम्**—उस जानने वाले को **क्षेत्रज्ञः इति**—क्षेत्रज्ञ, इस प्रकार के शब्द से **प्राहुः**—कहते हैं। (यहाँ भी 'इति' शब्द पहले की भांति एवम् शब्द के अर्थ में ही है।) कौन कहते हैं ? **तद्विदः**—उनको जानने वाले अर्थात् उन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों को जो जानते हैं वे ज्ञानी पुरुष इस प्रकार कहते हैं। [स्थूलदर्शी व्यक्ति यह नहीं जानते हैं कि प्रत्येक शरीर में एक ही चैतन्य स्वरूप द्रष्टा या विज्ञाता समस्त शरीर को व्याप्त कर उसके जानने वाले रूप से नित्य विद्यमान है किन्तु ज्ञानी पुरुष क्षेत्र से अपने क्षेत्रज्ञ स्वरूप को पृथक् कर क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ कौन है, यह जानने में तथा कहने में समर्थ होता है। इसलिए यही (यह ज्ञानी ही) 'तद्विदः' शब्द का तात्पर्य है। कहने का अभिप्राय इस प्रकार है क्षेत्र=शरीर=समस्त दृश्य पदार्थ=क्षर (विनाशशील) समस्त कार्यवर्ग, गीता १५ और क्षेत्रज्ञ=क्षेत्रों के जानने वाला (द्रष्टा अथवा विज्ञाता)=अक्षर पुरुष (कूटस्थ साक्षी जीव–गीता १५) क्षेत्रज्ञ स्वरूपतः शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा ही है। परन्तु जब वह अन्तः करण में प्रतिफलित (प्रतिबिम्बित) चैतन्यरूप प्रमाता में (ज्ञाता में) अभिमान (अहं बुद्धि) रखता है तब उसको क्षेत्रज्ञ, जीवात्मा, फलभोक्ता इत्यादि नाम से समझाया जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि क्षर तथा अक्षर से विलक्षण पुरुषोत्तम सत्ता में स्थित होकर जो क्षर क्षेत्र (अपरा प्रकृति तथा अक्षर क्षेत्रज्ञ (परा प्रकृति) इन दोनों को जानते हैं उनको 'तद्विद्' कहा गया है]।

टिप्पणी (१) मधुसूदन—यहाँ अभिधीयते ऐसा कर्मवाच्य प्रयोग होने से क्षेत्र में जड़त्व होने के कारण कर्मत्व है तथा 'क्षेत्रज्ञ' शब्द के साथ बिना द्वितीय विभक्ति के ही 'इति' शब्द का प्रयोग करने का तात्पर्य यह है कि क्षेत्रज्ञ स्वयं प्रकाश होने के कारण उसमें कर्मत्व का अभाव सूचित किया गया है। इस पर भी क्षेत्र का तो किन्हीं भी पुरुषों द्वारा निरूपण किया जा सकता है उसके लिए किसी कर्तृगत विशेषता की अपेक्षा नहीं है। किन्तु क्षेत्रज्ञ का वर्णन कर्मत्व के बिना केवल विवेकी

लोग ही कर सकते हैं क्योंकि स्थूलदृष्टि पुरुषों का यह विषय नहीं है अर्थात् विषयासक्त अज्ञानी पुरुष इसे नहीं जान सकता। यह कहने के लिए ही भिन्न प्रकार की वचनभंगी से कर्तृ पद को ग्रहण करते हुए भगवान् इनका निर्देश करते हैं।

टिप्पणी (१) श्रीधर—

भक्तानामहमुद्धर्ता संसारादित्यवादि यत्।
त्रयोदशेऽथ तत्सिद्ध्यै तत्त्वज्ञानमुदीर्यते ॥

बारहवें अध्याय में 'मैं भक्तों का संसार से उद्धार करने वाला होता हूँ' इत्यादि जो कहा गया, उसकी सिद्धि के लिये अब तेरहवें अध्याय में तत्त्वज्ञान का वर्णन किया जाता है।

'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् भवामि' अर्थात् मैं उनका मृत्युरूप संसार-समुद्र से उद्धार करने वाला होता हूँ। यह पहले प्रतिज्ञा की थी परन्तु आत्मज्ञानके बिना संसार से उद्धार सम्भव नहीं है अतः तत्त्वज्ञान का उपदेश करने के लिए प्रकृति-पुरुष विवेक नामक त्रयोदश अध्याय का आरम्भ किया जाता है। सातवें अध्याय में जो परा और अपरा इस प्रकार की दो प्रकृतियाँ बतायी गयीं उन दोनों को अविवेक से जीवभाव प्राप्त चेतन के अंश को इस संसार में भटकना पड़ता है। इन दोनों प्रकृतियों को लेकर जीव के उपभोग के निमित्त ईश्वर जगत् की सृष्टि आदि करने में प्रवृत्त होते हैं पूर्व में कही गयी परा प्रकृति को क्षेत्र तथा अपरा प्रकृति को क्षेत्रज्ञ शब्द से कहा गया है। उन दोनों प्रकृतियों का परस्पर पृथक्-पृथक तत्त्वों से निरूपण करने के लिए श्रीभगवान् बोले—**इदं शरीरं कौन्तेय इत्यादि**—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह भोगों का स्थान शरीर 'क्षेत्र' इस नाम से कहा जाता है क्योंकि क्षेत्र (जमीन) में जिस प्रकार बीज वपन करने पर फसल की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार यह शरीर रूप क्षेत्र भी संसार-उत्पत्ति की भूमि है। **एतद् यः वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः**—इसे जो जानता है उसको 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं क्योंकि खेती करने वाले किसान की भांति वह शरीर से अनुष्ठित शुभाशुभ कर्मों के फल का भोक्ता है कौन कहते हैं? **तद्विदः**—उन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को जानने वाले तत्त्ववेत्ता पुरुष।

(३) **शंकरानंद**—(१) मुमुक्षुओं की चित्तशुद्धि के लिए ईश्वर की

उपासना अवश्य ही करनी चाहिए। इसलिए मंद, अतिमंद और अत्यन्त मंदबुद्धि युक्त मुमुक्षुओं के अधिकार के अनुसार पृथक्-पृथक् उपासनाओं का प्रतिपादन भगवान् ने पूर्ववर्ती अध्याय में किया है। तथा (२) उपासना द्वारा जिनलोगों का अन्तःकरण परिशुद्ध हो चुका है उनको अक्षर ब्रह्मकी उपासना विदेहमुक्ति की सिद्धि के लिए करनी चाहिए यह सूचित करने के लिए श्रवण से मनन श्रेष्ठ है तथा मनन से निदिध्यासन श्रेष्ठ है, इस प्रकार श्रवणादि साधनों का उत्तरोत्तर उत्कृष्टत्व का भी प्रतिपादन किया है तथा (३) जीव और ब्रह्मके एकत्व विज्ञान से (मैं जीव और शुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म एकही हूँ इस प्रकार साक्षात् अनुभव से) जो तत्त्वज्ञानी (ब्रह्मवित्) पुरुष अनात्मसंसार बन्धन से सम्पूर्णतया मुक्त होकर जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त किये हैं उनका जो अद्वेष्टत्वादि स्वाभाविक (स्वतः सिद्ध) लक्षण दिखाई पड़ता है वही मुमुक्षुओं का अनुष्ठान करने के योग्य साधन है, यह भी प्रतिपादित किया है। अब केवल मोक्षकी कामनावाले जिज्ञासुको (क) कैसे जीव और ब्रह्मके एकत्व का विज्ञान होता है ? (ख) ब्रह्म क्या है ? (ग) आत्मा कौन है ? (घ) 'अनात्मा' शब्द से कौन सी वस्तु सूचित की जाती है ? (ङ) अनात्मा के द्वारा किस प्रकार का बन्धन होता है ? (च) बन्धन ज्ञान से कैसे निवृत्त होता है ? (छ) ज्ञान क्या है ? (ज) ज्ञानका साधन क्या है ? (झ) कैसे जीवन्मुक्ति होती है ? ऐसी आकांक्षा होने पर (क) अनात्मा (अपरा प्रकृति या क्षेत्र) और और आत्मा (पुरुष या पराप्रकृति या क्षेत्रज्ञ) इन दोनों का विवेचन, (ख) विविक्त (अर्थात् अपरा प्रकृति से पृथक् किया गया है) क्षेत्रज्ञ जीवका ब्रह्मके साथ एकत्व, (ग) विविक्त होने पर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में जो विलक्षणता (भिन्नता) का ज्ञान होता है उस ज्ञानको दृढ़ करने के लिए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का बार-बार विवेचन (घ) प्रकृति में बन्धकत्व तथा आत्मा में भी अध्यासजनित बन्धकत्व आदि का बोधन करने के लिए तथा (ञ) भलीभांति आत्मा के अद्वितीयत्वका प्रतिपादन करने के लिए त्रयोदश अध्यायका आरम्भ किया जाता है। उसमें पहले क्षेत्रज्ञ का क्षेत्र से संक्षेपतः विवेक (पृथक्) करके विविक्त आत्मा का ब्रह्मसे एकत्व बोधन करने के लिए श्रीभगवान् कहते हैं-**इदं शरीरम्**—सत्त्व आदि तीनों गुणों की साम्यावस्थारूप जो अपरा प्रकृति है वही भोक्ता पुरुष के अदृष्ट के द्वारा ईश्वर की प्रेरणासे गुणों की विषमताको प्राप्त होकर

सुख-दुःखोंके अनुभव जिन कारणों से होता है तथा बन्ध और मोक्ष के जो साधन होते हैं उन देह, इन्द्रिय, प्राण, बुद्धि आदि रूप से, राग-द्वेष आदि रूप से, शमदमादि रूपसे, शब्दादि विषय रूप से तथा जागरण आदि के (जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति के) आकार से भी अनेक प्रकार के परिणामों को प्राप्त होती है। उसका परिणामभूत कार्य कारण संघातरूप शरीर को (जिसका प्रत्यक्ष से अनुभव होता है उसको) क्षेत्र कहा जाता है [रागद्वेषादि से विशिष्ट पुरुष इस शरीर के साथ-साथ क्षीण होता है इसलिए शरीर को क्षेत्र कहा जाता है। अथवा क्षतात्त्राणात्क्षेत्रम् अर्थात् क्षयसे (विनाश की ओर ले जाने वाले संसाररूप अनर्थ से) यह शरीर शमादि से युक्त पुरुष का त्राण करता है इसलिए यहक्षेत्र है। अथवा 'क्षीणोति इति क्षेत्रम्' अर्थात् दीपक की शिखा के समान स्वयं शरीर क्षीण होता है, इसलिए शरीर को क्षेत्र कहते हैं अथवा 'क्षेत्रवदाचरति इति क्षेत्रम्' अर्थात् सुख-दुःखादि फल के उपपादन करने में क्षेत्र के समान यह शरीर आचरण करता है, इसलिए यह शरीर 'क्षेत्र' कहा जाता है किससे कहा जाता है ? (उत्तर) विद्वानों के द्वारा शरीर क्षेत्र शब्द से कहा जाता है। प्रकृति और प्राकृत अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न सब दृश्य वर्ग क्षेत्र है। वही यह शरीर है। क्षेत्र शब्द से अनात्म स्वरूपका निरूपण करके अब आत्मस्वरूपका) निर्देश करने के लिए कहते हैं **एतद् यो वेत्ति इत्यादि**—यह जो शरीर रूप क्षेत्रका साक्षात् अनुभव हो रहा है उसको जो जानता है अर्थात् स्वाभाविक ज्ञान से पादतल से लेकर मस्तकतक सब अवयवों को लक्ष्य करके मैं' इस प्रकार जो जानता है और गुरु के उपदेश से उत्पन्न हुए ज्ञान से, बुद्धि से लेकर स्थूल तक यह शरीर है, यह चक्षु है, यह प्राण है, यह शब्द है, यह गन्ध है इसप्रकार प्रत्यक्षतः 'इदम्' शब्द से व्यवहार किये जाने वाले अपने विषयभूत सम्पूर्ण दृश्यवर्गों को जो जानता है अर्थात् प्रकृति और प्राकृत सब अनात्म दृश्यजातको जो अपने से भिन्न जानता है वह क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मा है। अभिप्राय यह है कि जो अनात्मभूत दृश्यजातको जानता है उस अहम् प्रतीति के विषय ('मैं' इस शब्द का विषय) जो चेतन पुरुष है वही क्षेत्रज्ञ है बाहर-भीतर सर्वत्र सब दृश्यों को प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जो साक्षात् (व्यवधान के विना) जानता है, वही क्षेत्रज्ञ आत्मा है ऐसा **तद्विदः प्राहुः**—आत्मा के स्वरूपको जानने वाले विद्वान लोग कहते हैं अथवा क्षेत्र ज्ञेयरूप है और क्षेत्रज्ञ ज्ञातारूप

है क्षेत्र प्रकाश्यरूप है, क्षेत्रज्ञ प्रकाशकरूप है तथा क्षेत्र विकारीरूप है एवं क्षेत्रज्ञ अविकारीरूप है, इस प्रकार के लक्षणों से दोनों के स्वरूपों की परस्पर विलक्षणता (पार्थक्य) जो जानते हैं वे 'तद्विद्' हैं। वे कहते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मा और अनात्मा के स्वरूप को जानने वाले वशिष्ठादि 'जो कुछ ज्ञेय (जानने योग्य-दृश्य) है, वह सब अनात्मा है, और जो उसको जानने वाला आत्मा है वही अहम् पदका अर्थ है' ऐसा कहते हैं। यदि शंका हो कि कार्य-कारण संघात से (शरीर से) भिन्न 'अहम्' पद के अर्थ रूप से (विषयरूप से) कोई पृथक ज्ञाता दिखाई नहीं देता है, फिर कैसे यह शरीर क्षेत्र है और इसको जानता है वह क्षेत्रज्ञ है, यह कहा जाता है ? प्रत्यक्षादि प्रमाण से भी इसमें विरोध है क्योंकि मैं चलता हूँ, मैं उपभोग करता हूँ इसप्रकार गन्तव्य और भोक्तव्य पदार्थ का शरीररूप संघात ही ज्ञाता तथा क्रिया करने वाला है ऐसा देखने में आता है। 'यह इसका पुत्र है, इसके समान आकृति वाला है' इस प्रकार अनुमान और उपमान से 'इदम्' (यह) शब्दका अर्थ संघात ही है। 'यह यजमान आयुकी इच्छा करता है' इस प्रकार कहने से संघात में ही आयु आदि की इच्छा सुनने में आती है, क्योंकि 'असौ' (यह शब्द प्रत्यक्ष अर्थका (विषयका) वाचक है। इसप्रकार की शंका हो तो उत्तर इस प्रकार है—इस विषय में आपसे पूछा जाता है कि क्या ज्ञाता यहाँ (१)देह है या (२) इन्द्रियां हैं या (३) प्राण है या (४) मन है या (५) बुद्धि है या (६) अहंकार है अथवा (७) इनका समुदाय है ? पहला पक्ष युक्त नहीं है क्योंकि निद्रा से वशीभूत होने पर देह में ज्ञान देखने में नहीं आता है और मेरे पैर में वेदना (पीड़ा) है, मेरे सिर में सुख है इसप्रकार देह के सुख-दुःख ज्ञाता देह से भिन्न प्रतीत होता है। द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है क्योंकि मेरी दृष्टि मन्द है, मेरी वाणी स्पष्ट है इसप्रकार इन्द्रियों के सौष्ठव तथा असौष्ठव का ज्ञाता इन्द्रियों से भिन्न है, ऐसा स्पष्ट रूप से जाना जाता है। तृतीय पक्ष भी युक्त नहीं है क्योंकि निद्रादि में अपना अथवा दूसरे का ज्ञान देखने में नहीं आता है। चतुर्थ, पञ्चम तथा षष्ठ पक्ष भी युक्त नहीं है क्योंकि मेरा मन दुःखी है, मेरी बुद्धि चपला है, मेरा अहंकार दुष्ट है, इसप्रकार मन आदि उनसे अन्य ज्ञाता द्वारा जाने जाते हैं, यह स्पष्ट है। जो ज्ञेय होता है वह जड़ होता है क्योंकि ज्ञेय घटादि में जड़त्व देखने में आता है। अतः जड़भूत मन आदि के लिए ज्ञाता होना

सम्भव नहीं है। यदि मनादि ज्ञाता हो तो घट में भी ज्ञातृत्व मानना होगा क्योंकि ज्ञेयत्व (दृश्यत्व) दोनों में समान है। सातवां पक्ष भी युक्त नहीं है क्योंकि अवयवों के (देह, इन्द्रिय, मन इत्यादि के) अचेतन होने पर अवयवी भी काष्ठ के भार के समान अचेतन ही होगा। अतः उसमें ज्ञातत्व नहीं हो सकता। यदि कहो कि ऐसा मानने पर चैत्र से ज्ञात मैत्र में भी अचेतनत्व की प्राप्ति होगी तो इस पर कहता हूँ कि चैत्रने मैत्रके शरीर को ही जाना है और शरीरादि में अचेतनत्व तो है ही। अतः यह प्रसंग हमारे लिए अनर्थका कारण नहीं है, फिर 'देह आदि का ज्ञाता देहादि से भिन्न ही होता है, ज्ञाता होने से, घटके ज्ञाता के समान' इत्यादि युक्तियों से तथा 'चक्षुका द्रष्टा, कर्णका द्रष्टा, वाणी का द्रष्टा, मन का द्रष्टा, बुद्धिका द्रष्टा, अन्धकार का द्रष्टा, सबका द्रष्टा' इत्यादि श्रुतियों से सम्यक् प्रकार से विचार करने पर अनात्मा क्षेत्र का, उसके धर्मों का और उसकी अवस्थाओं का ज्ञाता क्षेत्र से भिन्न ही होता है–देहेन्द्रियादिरूप क्षेत्र ज्ञाता नहीं होता है क्योंकि ऐसा होने पर तो 'मेरा यह शरीर है मेरी चक्षु है' इसप्रकार शरीरादि में अपनी भिन्नताका ज्ञान नहीं होगा। विवेकियों को ऐसा ज्ञान अवश्य होता है कि शरीरादि मुझसे भिन्न है। अतः यह मानना पड़ेगा कि क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ भिन्न ही है। इसलिए सर्वज्ञ भगवान् कहते हैं–यह शरीर क्षेत्र है और इसको जो जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है। तुमने जो प्रत्यक्षादि प्रमाण के बारे में कहा वह अविवेकियों की दृष्टि में ही प्रमाण है ज्ञानी की दृष्टि में नहीं, इसलिए यहाँ कोई विरोध नहीं है। यदि कहो कि क्षेत्रसे भिन्न क्षेत्रके ज्ञातारूप से क्षेत्रज्ञ नामके किसी को 'यह है' इसप्रकार प्रत्यक्षतः देखा नहीं जाता है और न देखने से उसका अस्तित्व का अभाव ही सिद्ध होता है तो तुमसे इस विषय में प्रश्न होगा कि तुम क्षेत्र का अभाव कहते हो या क्षेत्रज्ञ का ? पहला पक्षतो युक्त नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष से दिखाई देने वाला क्षेत्र का अभाव है— यह कहना सम्भव नहीं है। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है क्योंकि यदि क्षेत्र के ज्ञाता क्षेत्रज्ञ का अभाव हो तब यह शरीर है, यह घट है, यह पट है, इत्यादि रूप से जो दृश्य वस्तु का ज्ञान होता है उसके अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा। जैसे सूर्य के अभाव से जगत् प्रकाशशून्य हो जाता है, ऐसा ही क्षेत्रज्ञ का अभाव होने पर जगत् प्रकाश-रहित हो जायेगा। जैसे सूर्य सबको प्रकाशित करता है, ऐसे ही क्षेत्रज्ञ अपने ज्ञानरूप

तेज से महत्तत्व से लेकर स्थूल पर्यन्त दृश्य समुदाय वस्तु को बाहर भीतर व्याप्तकर उसको प्रकाशित करता है और उससे 'यह है'—इसप्रकार सबका ज्ञान होता है। यदि ऐसा न हो तो महदादि आन्तर (भीतर के) पदार्थों के, घटादि बाह्य पदार्थों के, सुखादि प्रत्ययों के, जाग्रदादि अवस्थाओं के स्वरूपका विवेक पूर्वक विशेष ज्ञान होना असम्भव है। प्रत्यक्ष आदि सब प्रमाणों का और अहं आदि प्रमेयों का प्रामाण्य जिससे सिद्ध होता है उसका अभाव किसके द्वारा सिद्ध किया जा सकता है क्योंकि इसके अभाव होने पर अपना ही अभाव प्राप्त हो जायगा। यदि कहो कि सब प्रमाणों के प्रामाण्यों का निर्बाह करने वाला चिदाभास ही तो प्रमाता होगा तो यह कहना युक्त नहीं है क्योंकि चिदाभास भी विकारी वस्तुओं के अन्तर्गत है, इसलिए उसमें सर्वज्ञता नहीं हो सकती चिदाभास अन्तःकरण के विकारों के साथ क्षण-क्षण में विकृति को प्राप्त होता है। अतः वह (चिदाभास) भी विकारी तथा अन्तः करण के भावों का अनुसरण करता है। अतः जाग्रत आदि अवस्थाओं में इस सम्पूर्ण व्यवहार का विज्ञान होना उससे (चिदाभास से) सम्भव नहीं है। यदि कहो कि जाग्रत आदि अवस्थाओं के जानने वाले विश्वादि है ही, तो वह युक्त नहीं है क्योंकि अनेक क्षेत्रज्ञ हैं—ऐसा मानना पड़ेगा। श्लोक में भी 'एतद्यो वेत्ति' (इसको जो जानता है)—इसप्रकार एकवचन से क्षेत्रज्ञ सुनने में आता है और यदि विश्वादि में से किसी एक को क्षेतज्ञ माना जाय तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि अभिमान विकार प्राप्त होता है (बदलता है)। अतः जाग्रदादि अवस्था के अभिमानी विश्वके स्वप्न तथा सुषुप्ति अवस्थाओं में विकार होने के कारण विश्वादि के अभिमानी पुरुष में नित्यत्व सम्भव नहीं है। अतः उनमें किसी एक को जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं का ज्ञान नहीं हो सकता है। जिसने जाग्रत का अनुभव किया, जिसने स्वप्न देखा और जो सुषुप्ति में सुख से सोया वहीं मैं स्थित हूँ, इसप्रकार तीनों अवस्थाओं का ज्ञाता विश्वादि से भिन्न रूप से ही ज्ञात होता है। सब कारणों से विश्वादि का अविकारित्व तथा नित्यत्व सिद्ध नहीं होता है। फिर नित्यत्व के सिद्ध न होने पर तीनों अवस्थाओं का ज्ञान भी सिद्ध नहीं होता है। इसलिए विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ इन तीनों अभिमानियों से भिन्न अविकारी नित्य एक चेतन सब क्षेत्रका ज्ञाता क्षेत्रज्ञ आत्मा ही है, यह सिद्ध हुआ। यदि कहो कि आत्मा क्षेत्रज्ञ हो, तो भी 'यह है'

इसप्रकार क्षेत्र के ज्ञाता प्रत्यक्ष अनुभव का विषय नहीं होता है। वह कैसे ? तो इस पर कहते हैं–आत्मस्वरूप क्षेत्रज्ञ क्षेत्रका ज्ञाता होने पर भी दूसरा ज्ञाता न होने से क्षेत्रज्ञ के ज्ञान का अभाव है और यदि दूसरे ज्ञाता को माना जाय तो अनवस्था का प्रसंग होगा। 'यह है'–इसप्रकार 'इदं' रूप से क्षेत्रज्ञ का ज्ञान होने पर क्षेत्र धर्म (दृश्यत्व) प्राप्त हो जायगा, अतः उसका क्षेत्रज्ञत्व नहीं रहेगा और उस क्षेत्रज्ञ में अनित्यत्व अचेतनत्वादि दोष भी प्राप्त होंगे। फिर श्रुति कहती है–'वह एक देव है, एक एव साक्षी स्वप्रकाशः' (स्वयंप्रकाश साक्षी एकही है), [अजो नित्यः शाश्वतः' इत्यादि श्रुतियों के वाक्यों के साथ विरोध उपस्थित होगा, इसलिए आत्मा घटके समान इन्द्रियों के ज्ञान का विषय नहीं है।]

प्रश्न—'तरति शोकमात्मवित्' (आत्मवित् शोक को तर जाता है,) इस प्रकार के वाक्य से आत्मा को जानने वाले का संसाररूप शोक से तरना सुना जाता है। अतः (१) 'यह मैं हूँ' इसप्रकार आत्मा के ज्ञान बिना विद्वान् का शोक से तरना किस प्रकार सिद्ध होगा ? (२) इससे 'यह आत्मा है' इसप्रकार आत्माको कैसे जाना जा सकता है ? इसके उत्तर में कहते है–श्रौतज्ञान से (वेदवाक्य के अर्थ के ज्ञानसे) आत्माको जानना उचित है। वह कैसे ?–ऐसा यदि कोई प्रश्न करे तो कहते हैं–'नान्तः-प्रज्ञं, न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं, न प्रज्ञानधनं, प्रज्ञं, नाप्रज्ञं, अदृष्टम्, अव्यवहार्यम् अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्, आत्मप्रत्ययसारम्, प्रपञ्चोपशमं, शान्तं, शिवम्, अद्वैतम्, चतुर्थं मन्यन्ते, स आत्मा स विज्ञेयः' (मा० उ०) इस श्रुति से आत्मा में 'नान्तः प्रज्ञम्' इत्यादि से तैजस, विश्वादि से भिन्नत्व तथा तैजसादि में अनात्मत्व प्रतिपादन कर 'अदृष्ट' इत्यादि से अहं आदि सर्वदृश्य से भिन्नत्व, 'अव्यवहार्य' शब्द से आत्मा कर्मेन्द्रिय का विषय नहीं है, 'अग्राह्य' शब्द से ज्ञानेन्द्रियों का विषय नहीं है, 'अलक्षण' शब्द से अनुमान का विषय नहीं है, 'अचिन्त्य' शब्द से मन का भी विषय नहीं है, 'अव्यपदेश्य' शब्द से वाणी का भी विषय नहीं है, 'एकात्म प्रत्ययसार' शब्द से चैतन्य स्वरूप आत्मा का एक रस है तथा स्वगतभेद से शून्य है। 'प्रपञ्चोपशम' शब्द से विजातीय भेद से शून्य है 'अद्वैत' शब्द से सजातीय भेद से रहित है, 'शिव' शब्द से वह आनन्दधन है और 'चतुर्थ' शब्द से चिदाभास सहित विश्व आदि तीनों की

अपेक्षा आत्मा तुर्य तथा सर्व दृश्य से विलक्षण है–यह भलीभांति प्रतिपादित करके जो इसप्रकार सम्पूर्ण दृश्य से विलक्षण तथा अपने लक्षणों से लक्षित जो चिदानन्द एकरस आत्मा है उसे 'यह मैं हूँ' इसप्रकार अपने आत्मरूप से विद्वान् पुरुष को जानना चाहिए, ऐसा बोधन किया जाता है। इस प्रकार श्रौत (वैदिक) ज्ञान से अविद्या और उसके कार्य के सम्बन्ध से रहित आत्माको अपना स्वरूप जानकर विद्वान् संसार से मुक्त होता है। अतः आत्मा सर्व दृश्य से विलक्षण है और क्षेत्र को जानता है, ऐसा आत्मा का लक्षण सिद्ध हुआ है।

(३) नारायणी टीका—(क) (त्रयोदश अध्याय की भूमिका)– सप्तम अध्याय का परिशिष्ट (नारायणी टीका) में यह कहा गया है कि प्रथम षट्क का अर्थात् प्रथम अध्याय से षष्ठ अध्याय का उद्देश्य है 'तत्त्वमसि' इस वेदान्त वाक्य के अन्तर्गत त्वम् पदार्थ का शोधन। त्वम् पदार्थ की लक्ष्य वस्तु शुद्धचैतन्यस्वरूप ब्रह्म-सत्ता ही है एवं वही जीव का यथार्थ स्वरूप हैं, ऐसा निर्णय कर उस तत्त्व में पहुँचने का क्या उपाय है वह गीता के पहले छः अध्यायों में निर्दिष्ट किया गया है। तृतीय षट्क में उक्त महावाक्य के अन्तर्गत 'तत्' पदार्थ का शोधन किया गया है अर्थात् तत् पदार्थ का वाच्यार्थ जो ईश्वर है वह भी माया उपाधि से रहित होने पर शुद्ध-चैतन्य मात्र ब्रह्मसत्ता ही है, यह निर्णय किया गया है। जो मनुष्य (विचार शक्ति के अभाव तथा मन की चंचलता के कारण अपने यथार्थ स्वरूप में (अक्षर ब्रह्म में) स्थित नहीं रह सकता है उनके लिये माया-युक्त ईश्वर की ही भक्तिपूर्वक उपासना करने पर 'तत्' पदार्थ का लक्ष्य निर्गुण अक्षरब्रह्म का (जो कि जीव का भी यथार्थ स्वरूप है उसका) साक्षात्कार का उपाय जो भक्तियोग है वह विस्तृत रूप से द्वितीय षट्क में (अर्थात् सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक) विस्तृत रूप से वर्णित किये हैं। इस प्रकार 'त्वम्' पदार्थ (जीव) तथा 'तत्' पदार्थ (ईश्वर) का स्वरूप एक ही शुद्ध-चैतन्यस्वरूप अक्षर ब्रह्म है, यह निर्देश कर अब जीव और ब्रह्म के एकत्व का अपरोक्ष साक्षात्कार करने के उपायों का उपसंहार कर के कहा गया है। पुरुष (नित्य शुद्धचैतन्य स्वरूप परमात्मा) अपनी कल्पना शक्ति से (अर्थात् प्रकृति या माया से) समस्त जगत् की सृष्टि कर उस प्रकृति के कार्य में 'मैं' और 'मेरा' तथा 'तू–तेरा' इसप्रकार अभिमान

कर बद्ध हो गया है। अतः अज्ञान से उत्पन्न हुई शरीरादि में (क्षेत्र में) आत्मबुद्धि का नाश तथा अपने नित्य सत्य शुद्धचैतन्यस्वरूप क्षेत्रज्ञ आत्मा का यथार्थ ज्ञान जबतक नहीं होता है, तबतक स्वरूपतः परमब्रह्म होकर भी जीव को संसारचक्र में भ्रमण करना पड़ता है। अतः क्षेत्रज्ञ को क्षेत्र से पृथक् जानना ही यथार्थ ज्ञान है। इसलिए त्रयोदश अध्याय में क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ के विभाग का उपाय भगवान् ने विशेषकर कहा है एवं परवर्ती अध्यायों में परम पुरुष में यथार्थ भक्ति कैसी होती है तथा ज्ञान व भक्ति का यथार्थ स्वरूप एवं आत्मसाक्षात्कार के सहायक सात्विक गुण की वृद्धि किस प्रकार हो सकती है—उन सब का निर्देश किया गया है।

(ख) प्रथम श्लोक का तात्पर्य—[सातवें अध्याय में कहा है कि परमेश्वर की दो प्रकृतियाँ हैं—(१) पराप्रकृति, (२) अपरा प्रकृति।

(१) अपरा प्रकृति अष्टधा विभक्त है—(क) अव्यक्त (अव्याकृत या प्रधान), (ख) महत् (महत्तत्व), (ग) अहंकार और (घ) अहंकार के तामस अंश से उत्पन्न हुई पञ्च तन्मात्रा—इन अष्ट अपरा प्रकृति से ही २४ तत्व बन जाते हैं क्योंकि पञ्च तन्मात्रा से (शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा एवं गन्ध तन्मात्रा से) यथा क्रम पञ्च स्थूल महाभूत (अर्थात् आकाश, वायु, तेज (अग्नि), जल, पृथ्वी) की सृष्टि होती है, अहंकार के राजसिक अंश से पञ्च ज्ञानेन्द्रिय (चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वचा) एवं पञ्च कर्मेन्द्रिय [वाक्, पाणि (हस्त), पाद, पायु (मल द्वार) एवं उपस्थ (जननेन्द्रिय)] की सृष्टि होती है, और अहंकार सात्विक अंश से मन (अन्तःकरण) की सृष्टि होती है (विशेष विवरण के लिए ७ अध्याय की नारायणी टीका पृ० ३०—३१ द्रष्टव्य है)। अपरा प्रकृति (उक्त २४ तत्त्व) ही जड़ दृश्य जगत् रूप से परिणत हैं, प्रतिक्षण जागतिक सभी वस्तु की गति नाश की ओर होने के कारण अपरा प्रकृति से जो कुछ उत्पन्न हुए हैं उनको 'क्षर' (विनाशशील) कहा जाता है (गीता १५।१६)। अपरा प्रकृति, क्षेत्र, शरीर, जगत्—ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं।

(२) जीव चैतन्य को परा प्रकृति कहा जाता है। परा प्रकृति (अर्थात् जीव) जब चतुर्विंशति तत्त्व विशिष्ट देहादि में आत्मबुद्धि (आत्माभिमान) करता है तब

वह 'क्षर' (विनाशशील अर्थात् जन्म मृत्यु के अधीन) होता है और जब अपरा प्रकृति से अर्थात् शरीर रूप क्षेत्र से अपने को पृथक् कर अपरा प्रकृति को (क्षेत्र को) साक्षात् रूप से जानता है तब उनको क्षेत्रज्ञ या 'अक्षर' पुरुष (गीता १५।१६) कहा जाता है। समष्टि क्षेत्र का जो ज्ञाता है उसको ईश्वर कहा जाता है अर्थात् भिन्न भिन्न देह में जो साक्षीचैतन्य है वह क्षेत्रज्ञ जीव है और सर्व क्षेत्र में जो एकही साक्षी (क्षेत्रज्ञ) पुरुष है वह ईश्वर है। दोनों ही सर्वप्रकार उपाधि से रहित होने पर अखण्ड अद्वय सच्चिदानन्द ब्रह्म रूपता को प्राप्त होते हैं। अतः क्षेत्रज्ञ ईश्वर और क्षेत्रज्ञ जीव स्वरूपतः एक ही है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य का भी यह तात्पर्य है। कहने का अभिप्राय यह है कि क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ को विविक्त (पृथक्) करने से जीव और ब्रह्म का एकत्व ज्ञान होता है। इसप्रकार अपने स्वरूप का साक्षात् अनुभव होने पर ही पुरुष प्रकृति से मुक्त हो जाता है। एवं अज्ञानजनित सर्व दुःखों से निवृत्त होकर परमानन्द प्राप्त होता है। यह ही त्रयोदश अध्याय का तात्पर्य है।

(ग) क्षेत्रज्ञ कौन है ? क्षेत्र कौन है ?—पूर्वाध्याय में भगवान् ने कहा कि तत्त्व ज्ञान द्वारा जो मेरे साथ सदा ही युक्त रहता है एवं अद्वेष्टादि धर्मों में निष्ठा रखते हैं वे मेरे प्रिय हैं किन्तु तत्त्व ज्ञान तो तभी सम्भव है जब मायारचित जड़ दृश्य से नित्य शुद्धचैतन्य सत्ता को पृथक् कर उसका साक्षात् अनुभव होता है। इसलिए अर्जुन के मन में दृश्य जगत् (क्षेत्र) से उनके जानने वाले चैतन्यस्वरूप को किस प्रकार पृथक् किया जा सकता है, इसप्रकार प्रश्न हो सकता है ऐसी आशंका कर भगवान् कहते हैं— हे अर्जुन ! यह देव, मनुष्यादि शब्द से जिसका निर्देश किया जाता है तथा जो इन्द्रिय प्राणादि से युक्त होकर भोग का आयतन (स्थान) बन जाता है उस शरीर को क्षेत्र कहा जाता है। [त्रिगुणात्मिका प्रकृति पुरुष के भोग और अपवर्ग का सम्पादन करने के लिये जो देहेन्द्रियादि के आकार से संहत (मूर्तिमान) होती है उस संघात को ही शरीर कहा जाता है। 'क्षीणोत्यात्मानमविद्यया त्रायते च विद्ययेति' अथवा 'क्षेत्रं कर्मबीजफलोत्पत्तिस्थानम्' अर्थात् अविद्या द्वारा जो आत्मा को क्षीण (नष्ट) कर देता है (स्वरूप से च्युत कर देता है) एवं विद्या द्वारा जो आत्मा को त्राण करता है (अपने स्वरूप में स्थित कर देता है) अथवा क्षेत्र के समान पाप पुण्यरूप कर्म बीज से दुःख सुख-

रूप फल उत्पन्न करता है उसे क्षेत्र कहा जाता है]। शरीर ही सुख दुःखादि भोग का तथा बन्धन और मोक्ष का क्षेत्र है इसलिए शरीर को क्षेत्र कहा गया है। [श्लोक में 'इति' शब्द एवं (इसप्रकार) अर्थ में हैं]। जो इस शरीर रूप क्षेत्र को चरणों से लेकर मस्तक पर्यन्त जानता है (ज्ञान का विषय करता है अर्थात् स्वभावतः या किसी से उपदेश प्राप्त होकर क्षेत्र से (शरीर से) अपनी आत्मा को विभाग पूर्वक जो जानता है उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। कौन कहते हैं ?

उत्तर—उन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों को जो जानते हैं वे तत्त्वज्ञ पुरुष ऐसा कहते हैं।

प्रश्न—शरीररूप क्षेत्र को सभी जीव जानते हैं अतः सभी तो क्षेत्रज्ञ हैं। ऐसा ही यदि हो तो 'तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः' (जो क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ इन दोनों को जानते हैं वे तत्त्वज्ञ पुरुष क्षेत्र के जानने वाले को क्षेत्रज्ञ कहते हैं) इस प्रकार कहने का तात्पर्य क्या है ? क्या जो क्षेत्र को जानता है वह स्वयं क्षेत्रज्ञ है इस प्रकार का बोध (ज्ञान) उसको नहीं रहता है ?

उत्तर—अज्ञानी पुरुष भी 'यह शरीर ऐसा है' 'यह इन्द्रिय कार्य नहीं कर रही है, 'चित्त चंचल है, सुखी है, दुःखी है' इत्यादि प्रायशः कहते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि शरीरादि को अपने से पृथक् कर वे कभी-कभी देखते हैं (जानते हैं) किन्तु अज्ञान जनित संस्कार के वशीभूत होकर शरीर से (क्षेत्र से) वह पृथक् ज्ञाता (द्रष्टा या साक्षी) मात्र है यह भूल जाते हैं एवं उसी कारण शरीरादि में तादात्म्याभिमान कर (आत्म बुद्धि कर) 'मैं युवक हूँ मैं वृद्ध हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ इत्यादि मानते हैं। अतः अज्ञानी अपने शरीर से पृथक् देखता हुआ भी नहीं देखता है जानता हुआ भी नहीं जानता है बल्कि अनात्मा शरीर को ही आत्मा मानता है अर्थात् शरीर में 'अहं, मम' (मैं मेरा) इस प्रकार अभिमान करता है। इसलिये वह स्वरूपतः क्षेत्रज्ञ होता हुआ भी नहीं जानता है कि आत्मा चैतन्यस्वरूप होने के कारण वह क्षेत्रज्ञ (शरीरादि क्षेत्र का द्रष्टा या विज्ञाता। किन्तु जो तत्त्वज्ञ पुरुष माया से रचित (प्रकृति से रचित) क्षेत्र (शरीरादि रूप जड़ दृश्य-ज्ञेय वस्तु) से प्रति क्षेत्र में (शरीर में) विद्यमान चैतन्य स्वरूप क्षेत्रज्ञ शरीर आदि का द्रष्टा या जानने वाला

होने के कारण पृथक् है ऐसा जानते हैं वही कह सकते हैं कि क्षेत्रज्ञ कौन है ? यही 'तद्विदः प्राहुः' पद का तात्पर्य है। कहने का अभिप्राय यह है कि बद्ध जीव भी क्षेत्रज्ञ है क्योंकि क्षेत्र को (शरीर को) वह भी जानता है किन्तु अपना स्वरूप न जानने के कारण 'मैं क्षेत्रज्ञ हूँ' यह स्वयं नहीं जानता है एवं इस अज्ञान के कारण संसार दुःख में भटकता रहता है। किन्तु वह बद्ध जीव ही जब शास्त्र तथा गुरु की कृपा से 'मैं शरीर हूँ मैं तो शरीर का (क्षेत्र का) जानने वाला चेतन पुरुष हूँ' इस प्रकार विवेक ज्ञान से क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का यथार्थ स्वरूप विभाग पूर्वक जान लेता है तब वह व्यष्टि जीवव्यापक सच्चिदानन्द परमात्मा रूप में स्थित होकर सर्व दुःख से मुक्त होता है। इस प्रकार त्वं (जीव) और तत् (परमात्मा) का एकत्व निश्चय करना ही तेरहवें अध्याय का उद्देश्य है।

प्रश्न—'एतद्यो वेत्ति' 'क्षेत्रमित्यभिधीयते' इन दोनों वाक्यांश का तात्पर्य क्या है ?

उत्तर—अज्ञानी जीव नहीं जानता है कि जिस शरीर में वह 'मैं और मेरापन' करता है वह क्षेत्र है और जैसे कृषक क्षेत्र से पृथक् है ऐसे ही वह भी शरीर से पृथक् है अर्थात् अज्ञानी जीव इस शरीर को शरीर रूप से या इसमें आत्मबुद्धि करके आत्मरूप से जानता है किन्तु इस शरीर को जिस कारण से तत्त्वज्ञ पुरुष क्षेत्र कहते हैं (क्षेत्रमित्यभिधीयते) यह (एतत्) नहीं जानता। [यहाँ 'एतत्' शब्द केवल शरीर को नहीं किन्तु 'इदम्' से लेकर 'अभिधीयते' तक पूरे वाक्य को ही सूचित कर रहा है।] ज्ञानी की दृष्टि में यह शरीर क्षेत्र है क्योंकि क्षेत्र में जिस प्रकार कृषक विष वृक्ष का बीज वपन कर विषाक्त फल उत्पन्न कर सकता है किन्तु यदि वह चाहे तो उपयुक्त वृक्ष का बीज वपन कर स्वाद तथा अमृत सदृश फल का स्वाद भी ले सकता है उसी प्रकार देह स्थित पुरुष अज्ञान को आश्रय कर इस क्षेत्र में आत्माभिमान कर इसकी पुष्टि तथा तुष्टि के लिये मिथ्या, अनित्य पुत्र कलत्र तथा अन्यान्य भोग्य विषयों की सेवा में यदि सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करें (विता दे) तो दुःखमय संसार रूप फल प्राप्त होता है और यदि शास्त्रविहित कर्मों द्वारा चित्त शुद्धि लाभ कर शरीर की जीवित अवस्था में ही तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर सके तो अमृतत्त्व (मोक्ष) प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है।

यही 'क्षेत्रमित्यभिधीयते' एवं 'एतत् यो वेत्ति' पदों का तात्पर्य है। इसप्रकार शरीर से अपने को पृथक् जानकर शरीर को क्षेत्र के रूप में प्रयोग कर जो मोक्ष (परमानंदरूप फल उत्पन्न कर सकता है वही यथार्थ क्षेत्रज्ञ है केवल शरीरज्ञ नहीं है)। यही भगवान् के निःश्वास रूप वेद का तात्पर्य है। इसलिये भगवान परवर्ती श्लोक में कहेंगे 'तत् ज्ञानं मतं मम' [यही यथार्थ ज्ञान अर्थात् परमार्थ दर्शन है, ऐसा मत (निश्चय अर्थात् सिद्धान्त है)]

[पूर्व श्लोक में शरीर अर्थात् देह, इन्द्रियादि के संघात को क्षेत्र कहा गया है एवं उसको जो जानता है उसे क्षेत्रज्ञ कहा गया गया है। वह क्षेत्रज्ञ केवल एक विशेष शरीर को ही जानने के कारण संसारी (संसार में भ्रमण करने वाला) क्षेत्रज्ञ है। अब प्रश्न होगा क्या इतने ज्ञान से ही इस प्रकार कहे गये क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का यथार्थ तत्त्व जाना जा सकता है ? इस पर कहते हैं कि नहीं—]

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

अन्वय—हे भारत ! सर्वक्षेत्रेषु अपि मां च क्षेत्रज्ञं विद्धि क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः यत् ज्ञानं तत् ज्ञानं मम मतम्।

अनुवाद—हे भरतनन्दन ! समस्त क्षेत्र में क्षेत्रज्ञ तुम मुझे ही जानो। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही यथार्थ ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है।

भाष्यदीपिका—हे भारत !—हे भरतवंश में उत्पन्न अर्जुन [जब पवित्र भरत राजा के कुल में तुमने जन्म लिया है तब तुम सर्वभूत में स्थित क्षेत्रज्ञ को (परमात्मा को) भी जानने में समर्थ होगे इस विषय में क्या संशय रह सकता है ? यही 'भारत' शब्द से सम्बोधन करने का अभिप्राय है। **सर्वक्षेत्रेषु अपि**—समस्त क्षेत्र में (शरीर में) ही **मां च**—मुझे ही अर्थात् मुझ असंसारी (अविकारी) (एक स्वयंप्रकाश चैतन्यस्वरूप नित्य और सर्वव्यापी) परमेश्वर को ही (मधुसूदन) **क्षेत्रज्ञं विद्धि**—उपर्युक्त लक्षणों से युक्त अर्थात् दृश्य देहादि से विलक्षण क्षेत्रज्ञ रूप से जानो। अभिप्राय यह है कि समस्त शरीरों में जो ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त अनेक रूप

उपाधि से विभक्त हुआ क्षेत्रज्ञ है वह वस्तुतः समस्त उपाधि भेद से रहित एवं सत् तथा असत् आदि शब्द प्रत्यय के अगोचर (अविषय) है अर्थात् किसी प्रकार का शब्द उसको विषय नहीं कर सकता और वही मैं हूँ, ऐसा जानो। [क्षेत्रज्ञ नाना शरीररूप उपाधि से युक्त होकर अविद्या से ही पृथक्-पृथक् रूप में प्रतीत होता है एवं अविद्या में ही उसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि संसार धर्म आरोपित होता है परन्तु शुद्धचैतन्यस्वरूप, स्वप्रकाश, नित्य, सर्वव्यापी जो क्षेत्रज्ञ सब शरीर को व्याप्त कर स्थित है वह परमार्थतः समस्त उपाधिकृत भेद से रहित है एवं 'यह सत् है,' यह असत् है ऐसा कोई शब्द-जनित प्रतीति का विषय नहीं है। अतः अविद्या द्वारा कल्पित कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि धर्मों से विमुख (रहित) असंसारी, अद्वितीय, चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर से अभिन्न क्षेत्रज्ञ ही प्रति देह में आत्मरूप में स्थित है, ऐसा जानना चाहिए क्योंकि वही यथार्थ ज्ञान है। सांख्य मतावलम्बी पुरुष के समान क्षेत्रज्ञ केवल दृश्य क्षेत्र से पृथक् है—ऐसा जानना ही पर्याप्त नहीं। अपि तु वह क्षेत्रज्ञ सर्वभूतों में एक अविनाशी परमात्मा से नित्य विद्यमान है, ऐसा जानना होगा। यही कहने का अभिप्राय है। **क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः यत् ज्ञानं तत् ज्ञानं मम मतम्**—जिस कारण से क्षेत्र (समस्त शरीर) अर्थात् दृश्य प्रपञ्च एवं क्षेत्रज्ञ तथा ईश्वर इनके यथार्थ स्वरूप के अतिरिक्त और कोई ज्ञान का विषय (अर्थात् जानने योग्य दूसरी कोई वस्तु) शेष नहीं रहता है, इसलिए ज्ञेयस्वरूप क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का जो यथार्थ ज्ञान है अर्थात् जिस ज्ञान से क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है वही अविद्या का विरोधी तथा मोक्ष का साधन होने के कारण यथार्थ ज्ञान है—ऐसा मुझ ईश्वर (विष्णु) का मत है क्योंकि और सब ज्ञान (भिन्न-भिन्न विषय का ज्ञान) उसका विरोधी होने के कारण अज्ञान ही है। क्षेत्र तो मायाकल्पित तथा मिथ्या है तथा क्षेक्षत्र सब भ्रमों का अधिष्ठान होने पर भी परमार्थ सत्यवस्तु है। इसलिए उसका ज्ञान ही श्रेष्ठ ज्ञान है]।

जीव तथा ईश्वर का भेद अविद्या से कल्पित है किन्तु इनकी अभिन्नता (एकत्व ही) परमार्थ तत्त्व है, यह अब भाष्यकर शंकराचार्य की युक्ति द्वारा विशेषरूप से प्रतिपादित कर रहे हैं—

पूर्वपक्ष—यदि जीव और ईश्वर अभिन्न हो तो समस्त देहों में एक ही ईश्वर

विद्यमान है, उससे अतिरिक्त अन्य कोई भोक्ता नहीं है—ऐसा माने तो (क) ईश्वर संसारी है—ऐसा माना पड़ेगा और नहीं तो (ख) ईश्वर से अतिरिक्त अन्य संसारी का अभाव होने के कारण संसार के अभाव का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। यहाँ दोनों ही अनिष्ट है क्योंकि (क) ईश्वर ही यदि संसारी हो तब बन्ध व मोक्ष और उनके कारण का प्रतिपादन करने वाले सभी शास्त्र अनर्थक (व्यर्थ) हो जाते हैं। [श्रुति में जीव के बन्धन के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' अर्थात् एक ही हृदय वृक्ष में जीव और परमात्मा बैठे हैं, उनमें जीव अपने कर्मफल का भोग कर रहे हैं। यदि जीव और ईश्वर अभिन्न हो, तो बन्धन नाम की कोई अवस्था नहीं रह सकती एवं बन्ध का हेतु जो कर्म है उससे मुक्तिलाभ करने के लिए वेदादि शास्त्रों में जो निष्काम कर्म का ईश्वरार्पण बुद्धि से अनुष्ठान करने के उपदेश हैं वे सभी व्यर्थ हो जाते हैं। फिर श्रुति में असंगो ह्ययमात्मा (बृ० उ०) अर्थात् यह आत्मा असंग है, इस प्रकार कहा है। अतः संसार ईश्वर के आश्रित होने पर भी संसार की कोई वस्तु ईश्वर को स्पर्श नहीं कर सकती। इस प्रकार के असंख्य वाक्यों से श्रुति ने ईश्वर के जो अकर्तृत्व, अभोक्तृत्वादि का प्रतिपादन किया है वे सब वाक्य भी व्यर्थ हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त श्रुति में जो कहा है कि ज्ञान से ही मोक्ष होना सम्भव है, वह भी व्यर्थ हो जायगा क्योंकि ईश्वर से भिन्न यदि कोई अज्ञानी जीव न रहे तो ज्ञान से किसका मोक्ष होगा ?] और (ख) संसार के अस्तित्व का अभाव भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरुद्ध है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से तो सुख-दुःख और उनका कारण रूप यह संसार देख ही रहा है। अतः 'संसार है नहीं' इस प्रकार का संशय प्रत्यक्षविरुद्ध है। इसके अतिरिक्त जगत् की विचित्रता को देखकर यही अनुमित होता है कि संसार के प्राणियों के धर्म तथा अधर्म (पुण्य तथा पाप) की विचित्रता ही इस जगत् की विचित्रता का मूल कारण है। जीवात्मा तथा ईश्वर की एकत्व सिद्धि होने पर प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगमरूप प्रमाणों द्वारा जो जीव और ईश्वर के भिन्नत्व तथा संसार का अस्तित्व सिद्ध होता है, वे सभी अनुपपन्न (अयुक्त) होंगे।

उत्तरपक्ष—इसके उत्तर में यह कहा जायगा कि यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान और अज्ञान में भेद होने के कारण यह सभी सम्भव है। श्रुति में कहा

है कि 'दूरमेते विपरीते विषुची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता (क० उ० १।२।४)' अर्थात् प्रसिद्ध जो अविद्या और विद्या है वे अत्यन्त विपरीत और भिन्न समझी गयी हैं। उसी श्रुति में उन विद्या तथा अविद्या का फल भी श्रेय और प्रेय इस प्रकार परस्पर विरुद्ध दिखलाया गया है। इनमें विद्या का फल श्रेय (मोक्ष) और अविद्या का फल प्रेय [इष्ट अर्थात् प्रार्थित (आकांक्षित) भोगों की प्राप्ति] है। व्यास जी ने भी इस प्रकार ही कहा है। "द्वाविमावथ पन्थानौ" (महा० शान्ति० २४१।६) इत्यादि अर्थात् यह दोनों ही मार्ग हैं और गीताशास्त्र में भी ज्ञानयोग तथा कर्मयोग ये दो निष्ठायें कही गई हैं (गीता ३।३)। इसके अतिरिक्त श्रुति, स्मृति और न्याय से भी यह सिद्ध होता है कि विद्या के द्वारा (अविद्या के) कार्य सहित अविद्या का नाश करना चाहिए।

श्रुति में इस प्रकार वर्णित है—

'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः' (के० उ० २।५) अर्थात् यहाँ (इस जन्म में ही) यदि (आत्मा को) जान लिया जाय तो परमार्थ सत्यवस्तु का लाभ होता है और यदि यहाँ नहीं जाना तो बड़ी भारी हानि है। 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' (नृ० पू० उ० ६) अर्थात् 'उसको (आत्मा को) इस प्रकार जानने वाला यहाँ ही अमृत हो जाता है'। 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वे० उ० ३।८) अर्थात् परमपद की (मोक्ष की) प्राप्ति के लिए (विद्या के सिवा) अन्य मार्ग नहीं है। 'विद्वान्न बिभेति कुतश्चन' (तै० उ० २।४) अर्थात् विद्वान् किसी से भी भयभीत नहीं होता। किन्तु अज्ञानी के (ब्रह्म तथा आत्मा में जो भेदबुद्धि रखता है उसके) विषय में कहा है कि 'अथ तस्य भयं भवति' (तै० उ० २।७) अर्थात् उसको भय होता है (संसारगति प्राप्त होता है)। 'अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः' (क० उ० १।२।५) अर्थात् जो कि अविद्या के बीच में ही पड़े हुए हैं। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' (मु० उ० ३।२।९) अर्थात् जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है। 'अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्' अर्थात् यह देव अन्य है और मैं अन्य हूँ इस प्रकार जो मानता है वह आत्मतत्त्व को नहीं जानता जैसे (मनुष्यों का) पशु होता है वैसे ही वह देवताओं का पशु है अर्थात् देवतालोग उनको अपने काम के लिए पशु के

समान नियुक्त करते हैं' किन्तु जो आत्मज्ञानी है उसके विषय में कहा है कि—'स इदं सर्वं भवति' (बृह० उ० १।४।१०) अर्थात् वह यह सब कुछ हो जाता है। 'यदा चर्मवत्. (श्वे० उ० ६।२०) अर्थात् यदि आकाश को चर्म के समान लपेट लेने की कोई चेष्टा करे तो वह जैसे असमर्थ होता है, उसी प्रकार सर्वव्यापी परमात्मा को भी कोई बाहर से वेष्टन (व्याप्त) कर नहीं सकता है अर्थात् परमात्मा को दृश्यरूप से कोई प्राप्त नहीं कर सकता है अर्थात् जबतक परमात्मा को अपनी आत्मा रूप से कोई साक्षात् अनुभव नहीं करता है तबतक कोई संसार से मुक्तिलाभ कर नहीं सकता है। स्मृतियों में (गीता में) भी इस प्रकार वर्णित है—

'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः', 'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः', 'समं पश्यन्हि सर्वत्र' इत्यादि—अर्थात् 'ज्ञान अज्ञान से ढका हुआ है, इसलिए जीव मोहित हो रहे हैं' (गीता ५।१५) 'जिनका चित्त समता में स्थित है उन्होंने यहीं संसार को जीत लिया है (गीता ५।१६)' सर्वत्र (सर्वभूतों में) समानभाव से अवस्थित भगवान् को जो देखता है वह अपना हनन (नाश) नहीं करता है (गीता १३।२८) युक्ति से भी इस प्रकार सिद्ध होता है—

'सर्पान्कुशाग्राणि तथोदपानं ज्ञात्वा मनुष्याः परिवर्जयन्ति।
अज्ञानतस्तत्र पतन्ति केचिज्ज्ञाने फलं पश्य तथा विशिष्टम्'॥
(महा० शा० २०१।१६)

अर्थात् 'सर्प, कुश-कण्टक और तालाब को जान लेने पर मनुष्य उनसे बच जाते हैं, किन्तु बिना जाने कई एक उनमें गिर जाते हैं, इस न्याय से ज्ञान का जो विशेष फल है उसको समझ लो'।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों से यही स्पष्ट होता है कि देहादि में जो अविद्वान् स्वयंप्रकाश चैतन्यस्वरूप होते हुए भी अज्ञानवश देहादि में आत्मबुद्धि करता है वह रागद्वेषादि दोषों से प्रयुक्त (प्रेरित) होकर धर्माधर्म (पुण्य-पाप) कर्मों का अनुष्ठान करता है एवं उसके फलस्वरूप जन्म तथा मृत्यु को प्राप्त होता है, परन्तु देहादि के अतिरिक्त आत्मा का साक्षात्कार करनेवाले पुरुषों के राग-द्वेषादि दोष विनष्ट (निवृत्त) हो

जाने से उनकी धर्माधर्म विषयक प्रवृत्ति शान्त हो जाती है एवं वे मुक्त हो जाते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि राग-द्वेष देहादि में आत्माभिमान रहने पर ही उत्पन्न हो सकते हैं अन्यथा नहीं। राद्व-द्वेष के प्रभाव से प्रत्येक व्यक्ति के धर्माधर्म में प्रवृत्ति होती है एवं राग-द्वेष का अभाव होने पर उस धर्माधर्म कर्मों की प्रवृत्ति का भी उपशम (निवृत्ति) होता है एवं उससे चित्त की स्थिरता होने के कारण आत्मस्वरूप का साक्षात्कार होता है। इसके फलस्वरूप अज्ञान तथा अज्ञान के सब कार्य नष्ट होने के कारण संसार से मुक्ति प्राप्त होती है। यह सिद्धान्त कोई भी युक्ति द्वारा (न्याय से) प्रत्याख्यान नहीं कर सकता। अतः यह सिद्ध होता है कि वास्तव में (पारमार्थिक दृष्टि से) क्षेत्रज्ञ ईश्वर ही अविद्या द्वारा आरोपित उपाधि के कारण भेदभाव प्राप्त होकर संसारी हो जाता है, जिस प्रकार जीव को देहादि में आत्मबुद्धि हो जाती है। समस्त जीवों का जो देहादि अनात्म पदार्थों में आत्मभाव प्रसिद्ध है वह निःसंशय अविद्या (अज्ञान) का ही कार्य है। जिस प्रकार स्थाणु में (स्तम्ब में) भ्रान्तिवश मनुष्यबुद्धि होती है परन्तु उससे मनुष्य के धर्म स्थाणु में तथा स्थाणु के धर्म मनुष्य में नहीं हो जाते हैं, ऐसे ही चेतन के धर्म देह में एवं देह के धर्म चेतन के नहीं हो सकते। जरा तथा मृत्यु के समान सुख-दुःख, मोहादि भी अविद्या के ही कार्य हैं। अतः वे आत्मा के धर्म नहीं हो सकते।

पूर्वपक्ष—यदि ऐसा कहा जाय कि विभ्रम होने के कारण जो दृष्टान्त दिया गया है वह ठीक नहीं है क्योंकि स्थाणु और पुरुष दोनों ही ज्ञेय वस्तु होने के कारण स्थाणु में जब पुरुष बुद्धि होती है तब वह अन्योन्य-अध्यास से होता है अर्थात् स्थाणु तथा पुरुष उन दोनों से विलक्षण ज्ञाता एक में दूसरे को (स्थाणु में पुरुष को) भ्रान्ति-वश आरोप (अध्यास) करता है किन्तु देह तथा आत्मा में जो अध्यास होता है वह इतरेतराध्यास है अर्थात् देह और आत्मा में ज्ञेय और ज्ञाता का ही एक दूसरे में अध्यास होता है। अतः दृष्टान्त सम नहीं होने के कारण देहादि का धर्म (सुख-दुःखादि) ज्ञेय होने पर भी ज्ञाता आत्मा का ही धर्म है, ऐसा यदि कहा जाय तो ?

उत्तरपक्ष—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि देहादि का धर्म यदि आत्मा का धर्म माना जाय तो देहादि के समान आत्मा भी अचेतन जड़ है, इस प्रकार प्रसंग आ

जाता है। यदि ज्ञेयरूप शरीरादि क्षेत्र के सुख, दुःख, मोह, इच्छादि धर्म ज्ञाता (आत्मा) के भी होते हैं, इस प्रकार स्वीकार किया जाय (जैसे नैयायिक लोग मानते हैं) तो यह बतलाना चाहिए ज्ञेयरूप क्षेत्र के कुछ धर्म (सुखदुःखादि धर्म) तो अविद्या द्वारा आरोपित होकर आत्मा में होते हैं और कुछ जरा-मरणादि नहीं होते—इस विशेषता का (विरुद्ध कल्पना का) कारण क्या है ? [नैयायिक लोग आत्मा को सुख-दुःख आदि का अनुभव होता है, ऐसा मानते हैं परन्तु साथ-साथ आत्मा में जरा-मरणादि नहीं है ऐसा कहते हैं। इसलिए ही इस प्रकार की शंका का उत्थापन किया गया है।] किन्तु नैयायिक लोगों के सिद्धान्त भ्रान्तिमूलक हैं। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि जरादि के समान सुख-दुःखादि, काम संकल्प इत्यादि सभी धर्म आत्मा में आरोपित होते हैं एवं वे सभी हेय (त्याज्य) अथवा उपादेय (ग्राह्य) होने के कारण आगमापायी हैं (अर्थात् आते हैं एवं जाते हैं अर्थात् अनित्य हैं)। इस कारण से वे दृश्य तथा अनित्य देहादि क्षेत्र के ही धर्म हो सकते हैं, नित्य तथा ज्ञानस्वरूप आत्मा के धर्म नहीं। ऐसा होने से यह सिद्ध होता है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व-रूप यह संसार ज्ञेय (जड़) वस्तु में ही स्थित है अर्थात् ज्ञेयत्व शरीरादि का ही धर्म हैं किन्तु अविद्या द्वारा ज्ञाता आत्मा में आरोपित होते हैं। अतः उससे ज्ञाता आत्मा के स्वरूप की किसी प्रकार हानि (दोष) या वृद्धि हो नहीं सकती जिस प्रकार बाल बुद्धि लोग यदि आकाश में तलमलिनता (भूतल की मलिनता) का अध्यारोप करते हैं तब उससे आकाश का कुछ भी नहीं बिगड़ता है। अतः समस्त शरीरों में (सभी क्षेत्र में) समभाव रखते हुए भी एकमात्र क्षेत्रज्ञ ईश्वर में संसारित्व के गन्धमात्र की भी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि इस लोक में कहीं भी अविद्या द्वारा आरोपित धर्म से किसी का भी उपकार या अपकार हुआ है ऐसा नहीं देखा जाता है। फिर तुमने जो कहा था कि स्थाणु में (स्तम्भ में) मनुष्यों के भ्रम का दृष्टान्त सम (तुल्य) नहीं है, यह कहना ठीक नहीं है। क्यों ठीक नहीं है ? वह अब कह रहा हूँ। दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक का सादृश्य अर्थात् उदाहरण तथा प्रकृत विषय का सादृश्य (समानता) अविद्या से जो अध्यास आरोपित हुआ है उसी आरोपित अंश को अवलंबन कर ही कहा गया है। पुरुष का धर्म जैसे स्थाणु (स्तम्भ) में अज्ञान के कारण आरोपित होता है

उसी प्रकार देहादि के धर्म जागरण स्वप्न आदि तथा तज्जनित सुख-दुःखादि अविद्या द्वारा ही आत्मा में आरोपित होते हैं, यही कहने का अभिप्राय है अर्थात् अविद्या के कारण जो अध्यास (एक के धर्म का दूसरे पर आरोप हुआ है केवल उसमें ही दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक की समानता कही गयी है। अतः इसमें कोई दोष (विषमता) नहीं है और यदि कहो कि ज्ञाता में ज्ञेय वस्तु की (दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक की विषमता है अतः दृष्टान्त असंगत है तब इसके उत्तर में कहा जायगा कि तुम्हारे (नैयायिक पण्डितों के) मत में भी इस प्रकार की विषमता का दोष है, वह जरा-मरणादि से प्रदर्शित किया गया है अर्थात् जरा-मरणादि धर्मों के समान सुखित्व दुःखित्वादि धर्म भी ज्ञेय होने के कारण वे सब ज्ञेय शरीरादि के ही धर्म हैं अर्थात् क्षेत्रधर्म हैं। अतः किसी प्रकार से वे क्षेत्रज्ञ आत्मा के धर्म नहीं हो सकते। इस प्रकार से तुम्हारी युक्ति का दोष दिखला दिया गया है।

पूर्वपक्ष—यदि ऐसा कहे कि अविद्या युक्त होने से क्षेत्रज्ञ को ही संसारित्व प्राप्त हुआ तो ?—

उत्तरपक्ष—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अविद्या तामस प्रत्यय है अर्थात् तमोगुण के कार्यरूप से जो चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है वही अविद्यावृत्ति है। तामस प्रत्यय चाहे विपरीत ग्रहण करने वाला (विपर्यय) हो, चाहे संशय उत्पन्न करने वाला हो और चाहे कुछ भी ग्रहण न करने वाला हो वह आवरणरूप होने के कारण अविद्या ही है, क्योंकि विवेकरूप प्रकाश के उदय होने पर अर्थात् वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान उत्पन्न होने पर अविद्या का अभाव हो जाता है अर्थात् विवेक रूप प्रकाश तथा अविद्या एक साथ नहीं रह सकते। चित्त की तामस वृत्ति से आवरणरूप तमोमय तिमिरादि दोष उपस्थित होने पर ही (क) विपरीत ज्ञान, (ख) संशय तथा (ग) यथार्थ स्वरूप का अग्रहण—इन तीन प्रकार की अविद्या का अस्तित्व उपलब्ध होता है।

प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम प्रमाण से अविद्या का अस्तित्व प्रमाणित होता है। (१) मैं अज्ञ हूँ अथवा सुषुप्ति अवस्था से जाग्रत होकर प्रत्येक व्यक्ति कहता है कि

सुषुप्ति अवस्था में मैंने कुछ नहीं जाना अर्थात् विषय ज्ञान का अभाव (अज्ञान या अविद्या) सबको ही प्रत्यक्ष रूप से उपलब्ध होता है (२) अविद्या के कार्य (दृश्य-प्रपंच) से अविद्या का अनुमान किया जाता है। अतः अविद्या अनुमान प्रमाण से सिद्ध होती है। (३) वेदादि शास्त्रों में अज्ञान या अविद्या के सम्बन्ध में बहुवाक्य हैं। अतः आगमरूप प्रमाण द्वारा भी अविद्या सबके निकट प्रसिद्ध है।]

पूर्वपक्ष—तब तो अविद्या ज्ञाता का धर्म हुआ।

उत्तरपक्ष—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि तिमिर रोगादि से उत्पन्न हुआ दोष चक्षु आदि कारणों में ही देखे जाते हैं—ज्ञाता आत्मा में नहीं। तथापि तुम यदि मानते हो कि अविद्या ज्ञाता का धर्म है और अविद्यारूप धर्म से युक्त होना ही उसका संसारित्व है इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि ईश्वर ही क्षेत्रज्ञ है और वह संसारी नहीं है किन्तु तुम्हारा इसप्रकार कहना युक्त नहीं हैं क्योंकि चिदाभासयुक्त (अविद्या-विशिष्ट) अंतः करण ही 'मैं जीव हूँ' इसप्रकार अभिमान कर संसार चक्र में भ्रमण करता है वह संसारित्व इस क्षेत्रज्ञ में केवल आरोपित है, वस्तुतः ज्ञाता सदा ही एक रूप में रहने के कारण उसका जन्म मरण नहीं होता है। नेत्ररूप करण ही विपरीत ग्रहण इत्यादि से दोषयुक्त होता है अर्थात् नेत्र तिमिर रोग से आक्रान्त होने पर वस्तु का अग्रहण, विपरीत ग्रहण इत्यादि दोषों से युक्त होता है किन्तु वे विपरीत आदि ग्रहण या उनके कारण रूप तिमिरादि दोष ज्ञाता के नहीं हो जाते (ऐसे ही देह के धर्म भी आत्मा के नहीं हो सकते। कहने का अभिप्राय यह है कि चिकित्सारूप संस्कार से आँख के तिमिरादि प्रतिबन्धक को हटा देने पर ग्रहीता पुरुष में वही दोष नहीं देखे जाते, इसलिए वे ग्रहीता पुरुष के धर्म नहीं हैं। उसी प्रकार अग्रहण, विपरीत ग्रहण और संशय आदि प्रत्यय तथा उनके करणरूप तिमिरादि दोष भी किसी न किसी करण के ही (इन्द्रियों के ही) हो सकते हैं परंतु वे ज्ञाता क्षेत्रज्ञ के नहीं। विपरीत ग्रहणादि दोष या सुख दुःख आदि सम्वेद्य (ज्ञान के विषय) होने के कारण दीपक के प्रकाश के समान ज्ञाता के धर्म नहीं हो सकते। तात्पर्य यह है कि कोई वस्तु उसके अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तु से ही प्रकाशित होती है जैसे अंधेरे घर में किसी वस्तु को प्रकाशित करने के लिये उससे व्यतिरिक्त प्रदीप के प्रकाश की आवश्यकता होती है।

अतः विपरीत ग्रहणादि प्रत्यय ज्ञाता (क्षेत्रज्ञ) द्वारा प्रकाशित होने के कारण वे ज्ञाता से भिन्न किसी के धर्म होंगे–ज्ञाता के नहीं।

छ—कैवल्य अवस्था में आत्मा का समस्त करणों से (इन्द्रियों से) वियोग होने के पश्चात् आत्मा सर्व प्रकार से अविद्यादि दोषों से रहित होती है, यह सभी वादी स्वीकार करते हैं। उष्णता अग्नि का स्वतःसिद्ध धर्म है, अतः जब तक अग्नि रहती है तब तक उष्णता का विनाश नहीं होता है। उसी प्रकार यदि सुख-दुःख अविद्यादि क्षेत्रज्ञ आत्मा के अपने धर्म हों तो उनसे आत्मा का कैवल्य अवस्था में भी वियोग नहीं हो सकेगा। दूसरी बात यह है कि आकाश के समान सर्वव्यापक अमूर्त, अपरिच्छिन्न असीम) सर्वप्रकार विकार से रहित आत्मा का किसी के संयोग या वियोग होना संभव नहीं है। अतः इन सब युक्तियों से एवं आत्मा अनादि निर्गुण है इत्यादि भगवान् के वचनों से (गीता १३।३१) यह सिद्ध होता है कि क्षेत्रज्ञ जीव नित्य ही ईश्वरस्वरूप है।

ज–**पूर्वपक्ष**—यदि क्षेत्रज्ञ जीव ईश्वर स्वरूप हो तथा ईश्वर अविकारी होने के कारण यदि संसारी न हो तो संसारी कहीं नहीं रहेगा एवं संसारी न रहने से संसार का भी अस्तित्व नहीं होगा। अतः संसार और संसारित्व का अभाव हो जाने के कारण बन्ध मोक्ष के प्रतिपादक शास्त्रों की व्यर्थता आदि दोष उपस्थित होंगे?

उत्तरपक्ष—नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि यह दोष तो सभी ने स्वीकार किया है अर्थात् मुक्तात्मा पुरुष जिनके संसार रूप बीज सम्पूर्णतया नष्ट हो गये हैं उनके सांसारिक व्यवहार न रहने के कारण उनके लिये संसार या संसारी शब्द का कोई तात्पर्य नहीं रहता है। अतः ऐसे मुक्तात्मा के लिये शास्त्रादि अवश्य ही निरर्थक हैं। यह सभी वादी (आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न मत पोषण करने वालों) ने स्वीकार किया है। अतः इस प्रकार के दोष का किसी एक के लिये (अद्वैतवादी के लिये) ही परिहार करना आवश्यक नहीं है।

पूर्वपक्ष—इसे सबने कैसे स्वीकार किया है?

उत्तरपक्ष—सभी आत्मवादियों ने आत्मा में संसार और संसारित्व (संसारी-पन) के व्यवहार का अभाव माना है परंतु इससे उनके मत में शास्त्र की अनर्थकता

आदि दोषों की प्राप्ति होती है, ऐसा नहीं माना गया। जिस प्रकार समस्त द्वैतवादियों के मत से बन्ध अवस्था में ही शास्त्र आदि की सार्थकता है किन्तु मुक्त अवस्था में वे सब निरर्थक है, ऐसा स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार हमारे (अद्वैतवादियों के) मत में क्षेत्रज्ञ जीवों का ईश्वर के साथ एकत्व ज्ञान हो जाने पर यदि शास्त्र की निरर्थकता होती हो तो आपत्ति का क्या कारण हो सकता है ? क्योंकि हमलोग भी मानते हैं कि अविद्यावस्था में तो विधि-निषेध-प्रतिपादक शास्त्र की सार्थकता है ही।

ञ—पूर्वपक्ष—हम सब द्वैतवादियों के सिद्धान्त से तो आत्मा की बन्धावस्था मुक्तावस्था दोनों ही वास्तव में सत्य हैं, ऐसा माना गया है। अतः हेय (दुःख), उपादेय (दुःख निवृत्ति और सुख की प्राप्ति एवं उनके साधन (उपाय) भी सत्य है। इस कारण शास्त्र की सार्थकता है किन्तु अद्वैतवादियों के मत में जब आत्मा से अतिरिक्त द्वैतभाव केवल अविद्या से ही प्रतीत होता है परन्तु उसकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है अर्थात् वह सब मिथ्या है, इसलिये आत्मा की बद्धावस्था भी अविद्या का ही कार्य होने के कारण अपारमार्थिक ही (मिथ्या ही) होगी। अतः बन्ध मोक्ष, गुरु-शिष्य इत्यादि सभी मिथ्या होने के कारण शास्त्र का कोई विषय नहीं रहता है। इसलिये शास्त्र ने भी जो कुछ प्रतिपादित किया वह भी मिथ्या होने के कारण सभी अवस्था में शास्त्र आदि की व्यर्थता का दोष अद्वैतवादी परिहार नहीं कर सकते।

उत्तर पक्ष—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि आत्मा के अवस्था भेद (बद्ध-मुक्त अवस्था का भेद) नहीं हो सकते। यदि आत्मा में अवस्था भेद मान भी लें तो प्रश्न होगा कि आत्मा की ये बन्ध और मुक्त अवस्थाएँ युगपत् (एक साथ) होनी चाहिये या क्रम से ? एक साथ होना असंभव है क्योंकि स्थिति या गति ये दोनों विरुद्ध धर्मवाली होने के कारण एक साथ एक में हो नहीं सकतीं। उसी प्रकार बंध तथा मोक्ष परस्पर विरुद्ध होने के कारण एक ही आत्मा में एक साथ नहीं रह सकते। यदि क्रम से होना मानें तो आत्मा की बन्धावस्था के विना निमित्त का होना मानना पड़ेगा। यदि ऐसा ही हो तो आत्मा की मुक्ति की कोई संभावना नहीं रहेगी। यदि कहो कि आत्मा से अतिरिक्त किसी से आत्मा का बन्धन होता है तो वह बन्धन आत्मा का स्वाभाविक धर्म न होने के कारण अपारमार्थिक (मिथ्या) होगा। ऐसा होने पर

अर्थात् आत्मा के बन्धन का अपारमार्थित्व सिद्ध होने से तुम द्वैतवादी जो आत्मा में बन्ध-अवस्था पारमार्थिक सत्य मानते हो तो उस सिद्धान्त की हानि होगी अर्थात् तुम्हारा सिद्धान्त कट जाता है। इस प्रसंग में एक बात और विचारणीय है। आत्मा की बन्ध–अवस्था और मुक्त–अवस्था का आगा पीछा निरूपण किया जाने पर पहले बन्ध–अवस्था का होना माना जायगा। ऐसा होने पर आत्मा की बन्ध-अवस्था को आदि-रहित तथा अंतयुक्त मानना पड़ेगा। यह प्रमाण-विरुद्ध है क्योंकि जिसका आदि नहीं है उसका अंत कभी नहीं हो सकता है। यदि मोक्ष-अवस्था पीछे आ जाती है तो वह भी आदियुक्त तथा अंतरहित होगी। यह भी प्रमाण-विरुद्ध है क्योंकि जिसका आदि है वह अंतरहित कैसे हो सकता है? फिर यदि आत्मा को अवस्थावाला तथा एक अवस्था से (बंध अवस्था से) दूसरी अवस्था में (मोक्ष अवस्था में) जानेवाला मान लिया जाय तो आत्मा का नित्यत्व सिद्ध करना भी संभव नहीं है।

ट—जब कि आत्मा में अनित्यत्व के दोष का परिहार करने के लिये बन्ध अवस्था और मुक्त–अवस्था के भेद की कल्पना नहीं की जा सकती इसलिये द्वैतवादियों के मत में भी बन्ध मोक्ष प्रतिपादन करने वाले शास्त्र की व्यर्थता आदि दोष अपरिहार्य ही है। इस प्रकार दोनों के लिये दोष समान होने के कारण उस दोष का परिहार केवल अद्वैतवादियों द्वारा ही किया जाना आवश्यक नहीं है।

ठ—सारांश यह है कि शास्त्र पूर्णतया अनर्थक नहीं है क्योंकि इस लोक में प्रसिद्ध है कि शास्त्र अविद्वान पुरुष का ही विषय है अर्थात् अज्ञानी के लिये ही शास्त्र की सार्थकता है कारण अज्ञानी पुरुष की ही फल (देहादि तथा जाति, आयु और भोग) तथा उनके हेतु (शुभाशुभ कर्मरूप अदृष्ट) में अर्थात् इन सब अनात्म-वस्तुओं में आत्मबुद्धि रहती है, विद्वानों की नहीं, इस प्रकार अज्ञानी पुरुष के अज्ञान की निवृत्ति के लिये शास्त्रों के विधिनिषेध की सार्थकता है–यही कहने का अभिप्राय है। किन्तु विद्वान की बुद्धि में फल (देहादि कार्य) तथा हेतु (अदृष्टरूप कारण) से आत्मा का पृथक्त्व प्रत्यक्ष है, इसलिये उसका अनात्म-देहादि पदार्थों में "यह मैं हूँ" ऐसा आत्मभाव नहीं हो सकता। अतः उनके लिये शास्त्रों की कोई उपयोगिता (सार्थकता) नहीं रहती है। जो अत्यन्त मूढ और उन्मत्त है वह भी जल और अग्नि की

अथवा छाया और प्रकाश की एकता नहीं मानता है, फिर विवेकी की तो बात ही क्या है ! अर्थात् विवेकी व्यक्ति अनात्मदेहादि के सहित आत्मा की एकता नहीं मान सकता, इस विषय में क्या संशय हो सकता है ! अतः फल (देहादि कार्य) और हेतु (प्रारब्ध या अदृष्ट रूप कारण) से आत्मा को भिन्न समझ लेने वाले ज्ञानी के लिये विधि-निषेध विषयक शास्त्र नहीं है। जैसा "हे देवदत्त ! तू अमुक कार्य कर" इस प्रकार किसी कर्म में देवदत्त को नियुक्त किये जाने पर वही खड़ा होगा, विष्णुमित्र उस नियुक्ति को सुनकर भी यह नहीं समझेगा कि मैं नियुक्त हुआ हूँ। किन्तु विष्णुमित्र का यदि नियुक्ति का विषय (पात्र) कौन है, यह विवेक स्पष्टरूप से न रहे तब उस नियुक्ति वाक्य को सुनकर वह "मैं नियुक्त हूँ" ऐसा समझ सकता है। इसी प्रकार फल और हेतु से पृथक् आत्मा की विवेक बुद्धि जिनकी नहीं है, इस प्रकार अज्ञानियों की देहादि में आत्मबुद्धि हो सकती है एवं इस कारण से उसके लिये जबतक अज्ञान की निवृत्ति न हो तब तक शास्त्र की सार्थकता है।

पूर्व पक्ष—उक्त फल और हेतु से आत्मा का पृथक्त्व का ज्ञान हो जाने पर भी स्वाभाविक सम्बन्ध की अपेक्षा से इतना बोध होना तो युक्तियुक्त ही है कि "मैं शास्त्र द्वारा मेरे इष्ट (अनुकूल) फल और उसके हेतु में प्रवृत्त हो रहा हूँ और अनिष्ट (प्रतिकूल) फल और उसके हेतु का परिहार करने के लिये शास्त्रनिषिद्ध कर्म से निवृत्त हो रहा हूँ"। लौकिक व्यवहार में भी यह देखा जाता है कि पिता पुत्रादि का आपस में एक दूसरे को भिन्न समझते हुए भी एक दूसरे के लिये नियोग (प्रवृत्ति) और प्रतिषेध (निवृत्ति) को अपने लिये समझता है (एवं उसके अनुसार उनका कार्य भी होता है)। अतः अनात्मवस्तु से आत्मा के पृथक्त्व का ज्ञान हो जाने पर भी शास्त्रविधि के अनुसार कर्मों में प्रवृत्ति एवं शास्त्र निषेध के अनुसार कर्म से निवृत्ति हो नहीं सकती है, इस प्रकार कहना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है।

उत्तर पक्ष—यह कहना ठीक नहीं क्योंकि आत्मा के पृथक्त्व का ज्ञान होने से पहले ही फल और हेतु में अर्थात् देहादि एवं उनके अदृष्टरूप कारण में आत्माभिमान होना सिद्ध है एवं उस अभिमान के कारण उनके लिये विधिनिषेध का पालन करना संभव होता है। शास्त्र द्वारा नियोग और प्रतिषेध का अभिप्राय है चित्तशुद्धि। यह

भली प्रकार जान कर ही मनुष्य फल और हेतु से आत्मा के पृथक्त्व को जान सकता है, उससे पहले नहीं। [कहने का अभिप्राय यह है कि विधिनिषेध विषयक शास्त्र के अनुसार यज्ञ, दान, तप आदि कर्मों का अनुष्ठान करने से चित्त-शुद्धि लाभ होता है एवं चित्तशुद्धि के पश्चात् ही तत्वज्ञान से कार्य (फल) एवं हेतु (कारण) से आत्मा के पृथक्त्व का ज्ञान होता है उससे पहले नहीं। इसलिये जब तक परमार्थ दर्शन (आत्मा का यथार्थ ज्ञान) नहीं होता है तब तक विधिनिषेध विषयक शास्त्र की सार्थकता (आवश्यकता) है। अतः यह सिद्ध हुआ कि विधिनिषेधरूप शास्त्र केवल अज्ञानी के लिये ही है अर्थात् जिसको तत्वज्ञान नहीं हुआ है वही विधिनिषेधरूप शास्त्रों का अधिकारी है।

पूर्व पक्ष—तुम्हारे सिद्धान्त के अनुसार "स्वर्गकामो यजेत" "कलञ्जं न भक्षयेत्" अर्थात् 'स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे', 'मांस भक्षण न करे' इत्यादि विधि-निषेध बोधक शास्त्र-वचनों में आत्मा का पृथक्त्व (अनात्म देहादि से आत्मा का पृथक्त्व) जो जान गये हैं उनकी तथा केवल देहात्मवादियों की (अर्थात् जो लोग केवल देह को ही आत्मा मानते हैं एवं देह के नाश के पश्चात् परलोक नाम से कुछ भी नहीं है इस प्रकार के मत को स्वीकार करते हैं ऐसे चारवाक–मतावलम्बी व्यक्तियों की) कोई रुचि न रहने के कारण कर्ता का अभाव होने से शास्त्र के व्यर्थ होने का प्रसंग आ जायगा, ऐसा यदि हम कहें तो?

उत्तर पक्ष—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि प्रवृत्ति या निवृत्ति तो लोक-प्रसिद्ध है। यह तो प्रत्यक्षरूप से देखा जाता है कि (क) ईश्वर या जीवात्मा की एकता का जिन ब्रह्मविद् पुरुषों ने अनुभव किया है वे कर्मों में प्रवृत्त नहीं होंगे। तथा (ख) आत्मसत्ता को न मानने वाला देहात्मवादी "परलोक नहीं है" ऐसा समझ कर शास्त्रानुसार नहीं वर्तता है अर्थात् शास्त्रविहित कर्मों में प्रवृत्त नहीं होगा, यह ठीक है परंतु लोकप्रसिद्धि से यह तो हम सबको प्रत्यक्ष है ही कि विधिनिषेध बोधक शास्त्र के श्रवण से देहादि से भिन्न आत्मा है इस प्रकार अनुमान कर लिया है [शास्त्र का श्रवण इसलिये अनिवार्य है कि उसके बिना अन्य कोई दूसरे उपाय से या युक्ति से आत्मा के अस्तित्व का अनुमान नहीं हो सकता है अतः जिसने शास्त्र प्रमाण से आत्मा का

अस्तित्व मान लिया है परंतु जिसको आत्मा के यथार्थतत्व का ज्ञान अब तक नहीं हुआ है एवं जिसके कर्मों के फल में (स्वर्गादि प्राप्ति के लिये) तृष्णा है वह श्रद्धापूर्वक शास्त्रविहित कर्मों में प्रवृत्त होता है, अतः उसके लिये शास्त्र की व्यर्थता नहीं है।

पूर्वपक्ष—यदि यह कहें कि जो लोग विवेकी (तत्त्वज्ञानी) है उनकी शास्त्र-विहित कर्मों में अप्रवृत्ति देख कर उनका अनुकरण करने वाले अज्ञानियों की भी प्रवृत्ति नहीं होगी, अतः शास्त्र व्यर्थ हो जायगा।

उत्तरपक्ष—ऐसा कहना ठीक नहीं है—

(क) क्योंकि अनेक प्राणियों में कोई एक ही विवेकी होता है जैसा कि आज-कल देखा जाता है।

(ख) इसके सिवा मूढ़ (अत्यन्त विषयासक्त होने के कारण विवेक ज्ञान हीन) पुरुष विवेकियों का अनुकरण भी नहीं करते हैं क्योंकि वे रागादि दोषों के अधीन होकर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार कर्म में प्रवृत्त होते हैं। इसके लिए मारण-मारण आदि निन्दित अभिचारों में भी लोगों की प्रवृत्ति देखी जाती है। स्वभाव के अनुसार ही प्रवृत्ति होती है। इसलिए गीता में कहा गया है "स्वभावस्तु प्रवर्तते" अर्थात् स्वभाव ही कर्मों में प्रवृत्त कराता है।

अतः यह सिद्ध हुआ है कि यह संसार अविद्या मात्र ही है अर्थात् विधि-निषेधात्मक शास्त्र के अनुसार जो प्रवृत्ति या निवृत्ति देखी जाती है, वह अज्ञान के निमित्त ही होती है। इसलिए संसार में विषयसमूह जिस प्रकार प्रतीत होता है अज्ञानी पुरुष उनको ऐसा ही सत्य मान कर व्यवहार करते हैं। अतः शास्त्र का विधिनिषेध अज्ञानियों का ही विषय है अर्थात् जब तक तत्त्व ज्ञान का उदय नहीं होता है तब तक मनुष्य अपने स्वभाव के वशीभूत होकर शास्त्र का अनुशासन पालन करता है।

फिर यदि कहो कि अविद्या तो क्षेत्रज्ञ को आश्रय कर अपना कार्य संसार भी क्षेत्रज्ञ के निकट ही उपस्थित कर देती है, अतः क्षेत्रज्ञ का ही शास्त्र में अधिकार है। इसके उत्तर में कहा जाता है कि नहीं—केवल शुद्ध क्षेत्रज्ञ में अविद्या और उसके कार्य दोनों ही नहीं हैं (क्योंकि क्षेत्रज्ञ ही एक मात्र परमार्थ सत्य वस्तु है, अतः अविद्या का

कार्य जो संसार है, उसके साथ क्षेत्रज्ञ का कोई सम्बन्ध नहीं रह सकता है कारण) मिथ्याज्ञान (अविद्या) कभी परमार्थवस्तु को दूषित करने में समर्थ नहीं होता है। जैसे ऊसर भूमि को मृगतृष्णा का जल अपनी आर्द्रता से कीचड़ युक्त नहीं कर सकता, ऐसे ही अविद्या भी क्षेत्रज्ञ का कुछ भी उपकार या अपकार करने में समर्थ नहीं है। इसलिए गीता में भगवान् ने कहा "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्' अर्थात् मुझको ही क्षेत्रज्ञरूप से जानो, अज्ञान के द्वारा ज्ञान आवृत्त है अर्थात् सर्वभूतों में क्षेत्रज्ञ आत्मा ईश्वर स्वरूप होने पर भी अज्ञान के कारण जीव अपना ईश्वरत्व (मैं ईश्वर ही हूँ यह) नहीं जानता एवम् इस कारण से संसार में मोह प्राप्त होकर भ्रमण करता है।

पूर्वपक्ष–किन्तु 'मैं यह हूँ', 'यह मेरा है' इस प्रकार का भ्रम संसारी पुरुष के समान पण्डितों को भी प्रतीत होता है।

उत्तरपक्ष—सुनो, इस प्रकार पण्डितों के क्षेत्र में (देहादि में) आत्म दर्शन अर्थात् देहादि अनात्म वस्तु को आत्मा के रूप से देखना ही उनका पाण्डित्य है किन्तु यदि मनुष्य क्षेत्रज्ञ को निर्विकारी समझ ले तो फिर 'मुझे अमुक भोग मिले' या 'मैं अमुक कर्म करूँ' ऐसी आकांक्षा नहीं कर सकता है क्योंकि भोग और कर्म दोनों विकार ही हैं। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि अविद्वान् (अनात्मज्ञ व्यक्ति) ही फल कामना के वशीभूत हो कर कर्म में प्रवृत्त होता है, किन्तु जिस ज्ञानी ने विकार रहित आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है उसमें फल की इच्छा का अभाव होने के कारण उसकी प्रवृत्ति संभव नहीं है। अतः देहादि कार्य-कारण संघात के व्यापार की निवृत्ति होने पर ज्ञानी में निवृत्ति का उपचार किया जाता है। अर्थात् ज्ञानी सभी कर्मों से निवृत्त होते हैं इसप्रकार कहा जाता है। वस्तुतः उनके देह तथा इन्द्रियादि की ही कर्मों से स्वतः उपरति होती है, उनके आत्मा की नहीं क्योंकि निष्क्रिय अविकारी आत्मा में प्रवृत्ति या निवृत्ति दोनों का ही अभाव है।] कोई-कोई इसप्रकार पांडित्य प्रकट करते हैं कि क्षेत्रज्ञ तो ईश्वर ही है और उस क्षेत्रज्ञ के ज्ञान का विषय क्षेत्र उससे (क्षेत्रज्ञ से) भिन्न है और 'मैं तो उन दोनों से भिन्न संसारी तथा सुखी दुःखी भी हूँ। मुझे क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ के ज्ञान और ध्यान द्वारा ईश्वर रूप क्षेत्रज्ञ का साक्षात् करके उस ईश्वर स्वरूप में स्थिति लाभ

कर संसार की निवृत्ति करनी चाहिए अर्थात् संसार से उपराम या मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए। जो ऐसा समझता है या दूसरों को समझाता है कि 'वह (जीव) क्षेत्रज्ञ (ब्रह्म) नहीं है तथा जो यह मानता है कि मैं इसप्रकार सिद्धान्त से संसार, मोक्ष और शास्त्र की सार्थकता सिद्ध करूँगा, वह पंडितों में अधम है तथा वह आत्मघाती भी है क्योंकि वह स्वयं मूर्ख (मोहित) होता है क्योंकि वह शास्त्र के अर्थ की सम्प्रदाय-परम्परा से रहित होने के कारण श्रुति विहित अर्थ का त्याग और वेद विरुद्ध अर्थ की कल्पना करके स्वयं मोहित होता है एवं दूसरों को भी मोहित करता है। अतः गुरु-परम्परा से शास्त्र का अर्थ जिस प्रकार चला आ रहा है वह उसको नहीं जानता है एवं इसलिये वह समस्त शास्त्रों के यथार्थ अर्थ का परिहार करता है तथा श्रुतिविरुद्ध अर्थ की कल्पना करते हैं। इस प्रकार व्यक्ति यदि समस्त शास्त्रों का ज्ञाता भी हो तो भी मूर्ख के समान वह उपेक्षणीय है। अभिप्राय यह है कि ['मैं संसारी हूँ अतः मुझे असंसारी ईश्वर का ध्यान करना कर्तव्य है एवं इस प्रकार निश्चय कर जो दूसरों को भी उपदेश देता है वह क्षेत्रज्ञ (अर्थात् क्षेत्र को जानने वाला कैसा होगा ? वह तो क्षेत्रज्ञ ईश्वर से दूसरा कोई ज्ञेय वस्तु ही होगा। दूसरी बात यह है कि इसप्रकार सिद्धान्त का 'अयं आत्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म ही है) इस प्रकार वाक्य द्वारा श्रुति जीव और ब्रह्म का जो एकत्व प्रतिपादित किया है, उसके साथ विरोध होगा अतः अपने ब्रह्मत्व का परित्याग कर जो पंडित-अभिमानी पुरुष अविद्या अंधकार से आच्छन्न (आवृत्त) रहता है तथा आत्मज्ञान से वंचित रहता है, उस पंडित को आत्महा या आत्मघाती श्रुति ने कहा है 'असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के आत्महतो जनाः'। अब प्रश्न होगा कि जब तक संसार की प्रतीति है तब तक संसार के वस्तुत्व को भी स्वीकार करना ही पड़ेगा एवं उसी अवस्था में कर्मकाण्ड की सार्थकता भी है। अतः शास्त्रों के विधि निषेध का अनुसरण कर यदि कोई श्रद्धावान् व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्य कर्म का सम्पादन कर चित्त-शुद्धि द्वारा संसार की निवृत्ति करने के लिये ध्यान योग से जीव और ब्रह्म का एकत्व अनुभव करे तब क्या वह श्रुति के ज्ञान काण्डों से प्रतिपन्न हुआ 'तत्त्वमसि' 'अयं आत्मा ब्रह्म' (तुम ही वह ब्रह्म हो, यह आत्मा ब्रह्म ही है) इत्यादि महावाक्यों का तात्पर्य अनुभव नहीं करेगा ? यदि

कोई व्यक्ति इसप्रकार समझ कर क्षेत्रज्ञ ईश्वर (ब्रह्म) का साक्षात्कार करने के लिए प्रयत्न करे तो उसे पंडित अधम क्यों कहा जायगा।

उत्तर—बन्ध (संसारीत्व तथा मोक्ष दोनों ही) कल्पित है। साध्य-साधन बुद्धि तब तक रहती है जब तक अज्ञान नष्ट नहीं होता है। अतः अज्ञान की अवस्था में ही विधि-निषेध शास्त्र का अधिकार रहता है। तत्व ज्ञानी अपने को अखण्ड एक रस, चैतन्य स्वरूप ब्रह्म रूप से अनुभव कर ब्रह्मस्वरूप में ही निरन्तर अवस्थान करते हैं, अतः उनको किसी साधन की आवश्यकता नहीं रहती है। अतः जो पंडित नाम से अभिहित अज्ञानी पुरुष 'मैं क्षेत्रज्ञ ईश्वर से पृथक् हूँ' इसप्रकार मानकर शास्त्रसिद्ध ब्रह्मत्व का त्यागकर जीव और ईश्वर में तात्विक भेद कल्पना करते हैं, वे विमूढ़ (विशेष भाव से मूढ़) होने के कारण 'पंडित अधम' है क्योंकि ब्रह्मविद् पुरुष को ही यथार्थ पंडित कहा जाता है (गीता)] और तुमने जो कहा था कि ईश्वर की क्षेत्रज्ञ के साथ एकता मानने से तो ईश्वर में संसारित्व आ जाता है और क्षेत्रज्ञो की ईश्वर के साथ एकता मान लेने के कारण कोई संसारी न होने के कारण संसार के अभाव का प्रसंग आ जाता है। उस पर हम कहेंगे कि विद्या तथा अविद्या की विलक्षणता स्वीकार करने पर ही अर्थात् विद्या (तत्त्व ज्ञान) द्वारा एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है एवं जगत् मिथ्या है—जगत् का अस्तित्व तथा संसारित्व अविद्या अवस्था में ही विद्यमान रहते हैं यह स्वीकार करने से ही) इन दोषों का परिहार हो सकता है यह पहले ही कहा गया है। किस प्रकार से इन दोनों दोषों का परिहार होता है वह और स्पष्ट किया जा रहा है—(क) 'अविद्या द्वारा कल्पित किये दोष से तद् विषयक पारमार्थिक (यथार्थ वस्तु) दूषित नहीं होती' इसप्रकार कहकर पहली शंका का निवारण किया गया है और यह दृष्टान्त भी दिखलाया गया है कि मरु मरीचिका (मृग तृष्णिका) के जल से ऊसर भूमि पंकयुक्त (कीचड़ से युक्त) नहीं की जा सकती है (ख) संसारी का अभाव होने से संसार के अभाव के प्रसंग का जो दोष बतलाया था उसका भी पूर्व में निराकरण किया गया है क्योंकि संसार और संसारित्व ये दोनों ही अविद्या से कल्पित हैं। [संसार तथा संसारी दोनों ही अविद्या कल्पित होने के कारण उनकी कोई पारमार्थिक (असली) सत्ता नहीं है। जब सत्ता ही नहीं है तब संसार के अभाव का

प्रश्न नहीं हो सकता है।] (ग) यदि कहो कि अविद्यायुक्त होकर ही क्षेत्रज्ञ (संसारी) होकर (संसारित्वरूप दोष से युक्त होकर) अविद्याकृत दुःख इत्यादि दोषों से लिप्त होता है, यह तो प्रत्यक्ष देखा जाता है, तो इसके उत्तर में कहा जायगा कि यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि सुख, दुःख आदि ज्ञेय हैं अर्थात् ज्ञाता को जानने में आता है। अतः वे सभी क्षेत्र के ही धर्म हैं। इसलिये क्षेत्र से किये गये दोष ज्ञाता क्षेत्रज्ञ के नहीं हो सकते अर्थात् (आत्मा) अविद्याकृत दोष से दूषित नहीं हो सकता है क्योंकि ज्ञेय के साथ ज्ञाता का संसर्ग होना सम्भव नहीं है। यदि उनका संसर्ग मान लिया जाय तो ज्ञेय का ज्ञेयत्व सिद्ध नहीं हो सकता। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि अविद्या से युक्त होना तथा दुःखी होना आदि आत्मा के धर्म होते तो वे प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय कैसे हो सकते हैं और वे क्षेत्रज्ञ के धर्म भी नहीं हो सकते हैं। क्योंकि जो कुछ भी ज्ञेय वस्तु है वह सब क्षेत्र है एवं क्षेत्रज्ञ ज्ञाता है इसप्रकार सिद्धान्त निश्चित किये जाने के बाद भी अविद्या युक्त होना तथा दुःखी होना आदि दोषों को क्षेत्रज्ञ का धर्म कहना और उनकी प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है, ऐसा मानना, यह सब अज्ञान मात्र का आश्रय कर केवल विरुद्ध प्रलाप करना है।

पूर्वपक्ष—यह अविद्या किसमें है ?

उत्तरपक्ष—जिसमें दिखती है उसी में।

पूर्वपक्ष—किसमें दिखती है ?

उत्तरपक्ष—अविद्या किसमें दिखती है। यह प्रश्न निरर्थक है।

पूर्वपक्ष—क्यों ?

उत्तरपक्ष—यदि अविद्या दिखाती है तो उससे जो युक्त है (अर्थात् अविद्यावान् पुरुष) उसको भी तुम अवश्य देखते ही होगे अतः अविद्यावान् पुरुष प्रत्यक्ष विद्यमान रहते हुए यह अविद्या किसमें है इसप्रकार प्रश्न ठीक नहीं है क्योंकि इस गौ के स्वामी को देखने के पश्चात् यह गौ किसकी है। उसप्रकार का प्रश्न निरर्थक है।

पूर्वपक्ष—तुम्हारा यह दृष्टान्त विषय है क्योंकि गौ और उसके स्वामी प्रत्यक्ष होने के कारण उन दोनों का सम्बन्ध भी प्रत्यक्ष है। इसलिये यह गौ किसकी है इसप्रकार का

प्रश्न निरर्थक हो सकता है उसके समान अविद्यावान् और अविद्या प्रत्यक्ष नहीं है, अतः यह प्रश्न निरर्थक कैसे हो सकता है।

उत्तरपक्ष—अविद्यावान् यदि अप्रत्यक्ष हो तो अविद्यावान् के साथ अविद्या का सम्बन्ध जानने से तुम्हारा क्या लाभ होगा ?

पूर्वपक्ष—अविद्या सर्व प्रकार के अनर्थ की हेतु है, अतः यह अविद्या किसमें है यह जान लेने से उसका परिहार (त्याग) करना सम्भव होगा।

उत्तरपक्ष—जिसमें अविद्या है वह उसका स्वयं त्याग कर देगा।

पूर्वपक्ष—मुझमें ही तो अविद्या है।

उत्तरपक्ष—तब तो तुम अविद्या और अविद्या से युक्त अपने आप को जानते हो।

पूर्वपक्ष—जानता तो हूँ परन्तु प्रत्यक्ष रूप से नहीं अतः प्रत्यक्ष भाव से जानने के लिये ही तो प्रश्न कर रहा हूँ।

उत्तरपक्ष—यदि अनुमान से तुम अविद्यावान् को जानते हो तो अविद्यावान् (ज्ञाता) और अविद्या के सम्बध का ग्रहण कैसे हुआ अर्थात् अनुमान का कारण जो सम्बन्ध (व्याप्ति ज्ञान) है, उसका ग्रहण किस प्रकार से हुआ ? अविद्या ज्ञेय (ज्ञान का विषय) है और तुम तो ज्ञाता हो, अतः अनुमान करने के समय तुम्हारा अविद्या के साधन सम्बन्ध ग्रहण नहीं किया जा सकता क्योंकि अविद्या ज्ञाता के ज्ञानका विषय है ऐसा मान कर ही अविद्या का उपयोग किया गया है। तथा ज्ञाता और अविद्या के सम्बन्ध को जो ग्रहण करने वाला है वह तथा उसको (अविद्या और ज्ञाता के सम्बन्ध को) जो विषय करने वाला है कोई दूसरा ज्ञान ये दोनों ही सम्भव नहीं है क्योंकि ऐसा होने पर अनवस्था दोष प्राप्त होता है अर्थात् यदि ज्ञाता और ज्ञेय के साथ ज्ञाता का सम्बन्ध ये भी किसी के द्वारा जाने जाते है ऐसा माना जाय तो उसका ज्ञाता किसी और को मानना होंगा फिर उसका भी दूसरा ज्ञाता तथा उस ज्ञाता का भी दूसरा ज्ञाता मानना होगा, इसप्रकार ज्ञाता के सम्बन्ध में कल्पना का शेष नहीं होगा। इसी को ही अनवस्था दोष कहा जाता है एवं यह अनवस्था अनिवार्य हो जायगी परन्तु

यदि अविद्या (अथवा और कुछ) ज्ञेय हो तब वह ज्ञेय ज्ञाता से पृथक् रहकर ज्ञेय ही रहेगा, और उसी प्रकार ज्ञाता भी ज्ञाता ही रहेगा ज्ञेय नहीं हो सकेगा। यदि ऐसा है तो अविद्या या उसके कार्य दुःखित्व आदि दोषों से ज्ञाता क्षेत्रज्ञ कुछ भी दूषित नहीं हो सकता।

पूर्वपक्ष—किन्तु यह ही उसका दोष है जो कि वह क्षेत्रज्ञ आत्मा नित्य शुद्ध होकर भी दोषयुक्त ज्ञेय का ज्ञाता है।

उत्तरपक्ष—यह कहना ठीक नहीं क्योंकि आत्मा विज्ञान स्वरूप तथा अविक्रिय (विकार रहित) है। अतः क्षेत्र के ज्ञातापन का (अर्थात् विज्ञातत्व धर्म का) उपचार मात्र किया जाता है। [अर्थात् पारमार्थिक दृष्टि से क्षेत्रज्ञ आत्मा क्षेत्र का विज्ञाता भी नहीं है। वह विज्ञान मात्र (चित् स्वरूप) है।] जैसे कि उष्णता मात्र अग्नि का स्वभाव होने पर भी तपाने की क्रिया का अग्नि में उपचार (आरोप) किया जाता है। जिस प्रकार भगवान् ने यहाँ (इस प्रकरण में) दिखाया है कि आत्मा में स्वतः ही क्रिया, कारक तथा फलरूपता का अभाव है केवल अविद्या परा अध्यारोपित होने के कारण क्रिया कारक धर्म आत्मा में उपचरित होते हैं, उसी प्रकार ही 'य एनं वेत्ति हन्तारम्' 'प्रकृतेः क्रियामाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' 'नादत्ते कस्यचित्पापम्' (अर्थात् 'जो इसे मारने वाला जानता है (गीता २।१६) प्रकृति के गुणों द्वारा ही सब कर्म किये जाते हैं (३।२७) 'वह विभु किसी के पाप पुण्य का ग्रहण नहीं करता (गीता ५।१५) इत्यादि प्रकरण में स्थान-स्थान पर दिखाया गया है एवं इसी प्रकार हमने व्याख्या भी की है तथा आगे के प्रकरण में भी हम दिखलायेंगे।

पूर्वपक्ष—जब कि यदि ऐसा ही है तब तो क्रिया और फलों का अभाव आत्मा में स्वतः सिद्ध होने से तथा ये सब अविद्या से आत्मा में अध्यारोपित सिद्ध होने से यह निर्धारित हुआ है कि कर्म अविद्वान् का ही कर्तव्य हैं, विद्वान् का नहीं।

उत्तरपक्ष—जो तुमने कहा है यही सत्य सिद्धान्त है यह 'नहिं देहभृता शक्यम्' अर्थात् देहाभिमानी जीव सम्पूर्ण रूप से कर्म त्याग करने में समर्थ नहीं होता है इस श्लोक की व्याख्या के प्रसंग में इसी बात को (गीता १८।११) स्पष्ट कर दिखलायेंगे

फिर 'समासनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा' (गीता १८।५०) अर्थात् हे कुन्तीनन्दन संक्षेप से ज्ञान की जो परानिष्ठा (परमस्थिति) है इस श्लोक से जब सारे गीता शास्त्र का उपसंहार किया जायगा तब इस श्लोक की व्याख्या में उक्त बात को विशेष रूप से दिखलायेंगे। बस, यहाँ अब और अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है, इसलिये उपसंहार किया जाता है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—पहिले श्लोक में संसारी जीव का स्वरूप बतलाया गया। अब उसी के पारमार्थिक असंसारी स्वरूप को बतलाते हैं।

सर्वक्षेत्रेषु क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि—हे भरतनन्दन! उस क्षेत्रज्ञ को (संसारी जीव को) भी तुम वास्तव में समस्त क्षेत्रों में अनुगत मुझे ही जानो क्योंकि वह 'तत्त्वमसि' इस श्रुति वाक्य से उपलक्षित चेतन का अंश होने से मेरा स्वरूप बताया गया है। आदर के लिए ही उस ज्ञान की अब स्तुति कर रहे हैं-**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम**—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को जो इस प्रकार विलक्षणता से जानता है वही मोक्ष का हेतु होने के कारण मेरा ज्ञान माना गया है। इससे अतिरिक्त जो अन्य सब ज्ञान है वह तो व्यर्थ पाण्डित्य है क्योंकि वह बन्धन का हेतु है-यह कहने का अभिप्राय है। विष्णु पुराण में इसलिए कहा गया है 'तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये। आयासायापरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम्' (वि० पु० १।१९।४१) अर्थात् वही कर्म है जो बन्धन कारक नहीं हो, वही विद्या है जो मुक्ति की हेतु हो। दूसरा कर्म केवल श्रम का कारण है और दूसरी विद्या केवल कलाकौशल मात्र है।

(२) **शंकरानन्द**—इस प्रकार 'यह शरीर क्षेत्र है, इसको जो जानता है वह क्षेत्रज्ञ है' इससे घर जैसे दीपक से पृथक् है उसी प्रकार अनात्म से आत्मा का स्वरूप विभागपूर्वक (पृथक्) दिखलाकर आत्मा का परोक्षत्व एवं सद्वितीयत्व की [आत्मा द्वितीय कोई वस्तु के साथ विद्यमान है इस भावना की निवृत्ति के लिए तथा आत्मा के संसारित्व की आत्यन्तिक निवृत्ति और आनन्दरूपत्व की सिद्धि के लिए क्षेत्रज्ञ आत्मा का जो श्रुति आदि प्रमाणों से ब्रह्म से अभिन्नत्व सिद्ध हुआ है उसका अब प्रतिपादन करते हैं-**हे भारत!**—भा में (ब्रह्माकारा अखण्ड वृत्ति में) ही जो सदा रत है (रमण करता है) वह भारत है। **सर्वक्षेत्रेषु**—ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त

उक्त क्षेत्रों में (पहले श्लोक में उक्त लक्षण वाले शरीरों में) जो क्षेत्रज्ञः—तत्-तत् क्षेत्र, उनके कर्मों और उनकी अवस्थाओं का ज्ञाता, एक (अद्वितीय) और परिपूर्ण (अनन्त) होने पर भी घटादि में आकाश के समान अविद्या से अपने में कल्पित तत्-तत् उपाधियों से तथा सुख और दुःख आदि प्रत्ययों से मानो विभक्त हुआ है ऐसा प्रत्येक शरीर में 'मैं मैं' इस प्रकार अहं प्रत्यय के अर्थ रूप से स्थित, सब प्रत्ययों का साक्षी तथा प्रत्यक् लक्षण जो आत्मा है उसको पहले श्लोक में उक्त लक्षण के द्वारा सब क्षेत्रों से सम्पूर्ण रूप से पृथक्, तत्-तत् उपाधि, उपाधि के धर्मों तथा उपाधि आदि के कर्मों से अस्पष्ट तत्-तत् शब्द और प्रत्ययों के अगोचर (अविषय) आकाश के समान निराकार, निर्विकार, निरंजन, कूटस्थ, असंग तथा चित्तरूप (जानने वाला) आत्मा को तुम समस्त श्रुतियों में प्रसिद्ध सत्य ज्ञान आदि लक्षण वाले निर्विशेष परमब्रह्म जानो आत्मा परमब्रह्म है इस प्रकार जानो। क्योंकि 'अयमात्मा ब्रह्म' ऐसा श्रुति ने कहा है। सब शरीर में आत्मा के एकत्व का पहिले ही प्रतिपादन किया गया है, इसलिए सब शरीरों में 'अहं' के अर्थ रूप से स्थित आत्मा ब्रह्म ही है ऐसा जानो यह कहने का तात्पर्य है। इस प्रकार तुम क्षेत्र से विभक्त क्षेत्रज्ञ को जैसे मेरा स्वरूप ही जानते हो, वैसे ही अविद्या का कार्य होने के कारण तथा स्वतः उसकी सत्ता न रहने के कारण अधिष्ठान स्वरूप मुझमें कल्पित उस क्षेत्र को भी मत्स्वरूप ही जानो। इस श्लोक में 'अपि' शब्द क्षेत्रज्ञ के समान क्षेत्र भी ब्रह्म से अभिन्न है यह बोधन करता है (क्योंकि कल्पित वस्तु की सत्ता अधिष्ठान की सत्ता से पृथक् नहीं होती है)। यदि ऐसा न हो तो द्वैत के हेतुभूत जो देह आदि प्रपञ्च हैं उनकी पृथक् सत्ता विद्यमान रहने पर ब्रह्म का अद्वितीयत्व सिद्ध नहीं होगा, अद्वितीयत्व की सिद्धि नहीं होने से अद्वैत श्रुतियों से विरोध होगा। अतः केवल क्षेत्रज्ञ को नहीं किन्तु क्षेत्र को भी मेरा स्वरूप ही जानो, ऐसा कहकर दोनों में ब्रह्मत्व का प्रतिपादन करना युक्त है। ऐसा करने से अपनी मुक्ति के लिए जो ज्ञान की अपेक्षा तथा प्रयोजन रहता है उन ज्ञान का (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में ब्रह्म के अभिन्नत्व के ज्ञान का) दृढ़ीकरण होता है। अतः क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ सब ब्रह्म ही है, यह सिद्ध हुआ। श्रुति और स्मृति भी ऐसा ही कहती हैं 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्', 'वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ

एव च' इति। अर्थात् 'भोक्ता, भोग्य और प्रेरक (अन्तर्यामी) इनमें भेदबुद्धि अज्ञान के कारण होती है। उक्त त्रिविध भेद ब्रह्म ही है ऐसा जानकर जीव कृतार्थ होता है।', 'क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ वासुदेव स्वरूप ही है, ऐसा ब्रह्मवेत्ता कहते हैं।'

प्रश्न—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ इन दोनों में ब्रह्ममात्रत्व का प्रतिपादन करना यदि आपको इष्ट (उद्देश्य) है तब तो 'सब ब्रह्म ही है' इस कथन से ही सबमें ब्रह्ममात्रत्व सिद्ध हो सकता है, फिर 'इदं शरीरं कौन्तेय' इत्यादि से ग्रन्थ को विस्तृत करने का क्या उद्देश्य है?

उत्तर—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि 'यह शरीर क्षेत्र है' इससे प्रकृति और प्राकृत सब दृश्य क्षेत्र है ऐसा कहकर अनात्मा के स्वरूप का निरूपण करके 'एतद्यो वेत्ति स क्षेत्रज्ञः' (इसको जो जानता है वह क्षेत्रज्ञ है) इस वाक्य द्वारा क्षेत्रज्ञ आत्मा में क्षेत्र, उसके धर्म, उसके कर्मों तथा उसकी अवस्था का लेश मात्र भी सम्बन्ध नहीं है ऐसा प्रतिपादन करने पर जो अपने को क्षेत्र से भिन्न अकर्ता, अभोक्ता, अविक्रिय, कूटस्थ, असंग, चिद्रूप तथा क्षेत्रज्ञ ही साक्षात् जानता है एवं देह इन्द्रियादि के व्यापारों के रहने पर तथा न रहने पर जो प्रत्यक् वृत्ति से सर्वदा अपने को सदा तटस्थ देखता है, ऐसे विद्वान् में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि तथा जरा, रोग आदि क्षेत्र धर्मों में पुण्य पाप रूपी उसके कर्मों से और मान-अपमान रूपी उसके विषयों से विक्षेप होता है। अतः उसी प्रकार से उनको जीवन मुक्ति का सुख प्राप्त होता है एवं आगामी संचित आदि सब कर्मों का नाश हो जाता है। 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' (क्षेत्रज्ञ भी मुझको ही जानो) इस कथन से क्षेत्र को, क्षेत्रज्ञ को, अपने को और सबको ब्रह्म ही देखने वाले विद्वान् का द्वैत प्रत्यय (द्वैतवृत्ति) का अभाव होने से सदा के लिए वासना क्षय और मनोनाश सिद्ध होता है। उसके पश्चात् प्रारब्ध का क्षय होने पर विदेहकैवल्य और उसका सुख सिद्ध होता है—इस प्रकार के अर्थ का सूचन करने के लिए क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ दोनों का विभाग और दोनों का ब्रह्ममात्रत्व प्रतिपादन करके और क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ दोनों का ब्रह्म से अभिन्नत्व दर्शन रूप ज्ञान मुक्ति का परम कारण है ऐसा निश्चय करने के लिये कहते हैं—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम—यद्यपि पुरुष प्रकृति से भिन्न है तथा प्रकृति के गुण या कर्म के साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है एवं वह सदा ही असंग

चिद्रूप (चैतन्य स्वरूप) ही है, एवं इसप्रकार प्रकृति और पुरुष का परस्पर भिन्नत्व विज्ञान मुक्ति का परम कारण है, ऐसा सांख्य मानते हैं तथापि संसार की अनुवृत्ति बाधित होने पर भी प्रकृति के सान्निध्य से पुरुष को पुनः पुनः संसार प्रतीत होता है, उसकी निःशेष निवृत्ति नहीं होती है। संसार की निःशेष निवृत्ति तो ब्रह्मस्वरूप आत्मा में अवस्थान रूप मोक्ष से ही होती है, इसलिये श्रुति में यह प्रसिद्ध वाक्य है— 'निरंजनः परमं साम्यमुपैति' (अर्थात् निरंजन अर्थात् संसार-वृत्ति से सम्पूर्ण निर्लिप्त पुरुष ही परम साम्य अवस्था को प्राप्त होता है एवम् वह पर (परमब्रह्म) और अवर (जीवात्मा) के एकत्व विज्ञान से ही प्राप्त होता है, इसलिये श्रुति भी कहती है— 'तस्मिन् दृष्टे परावरे'। अतः पर और अवर का एकत्व ज्ञान ही संसाररूप अंधकार का निःशेष नाश करने वाला तथा विदेहमुक्ति का परम कारण है। ऐसा मानकर कहते हैं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरिति **क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः**—प्रकृति और पुरुष का **ज्ञानं यत् मम मतम्**—जो ज्ञान है अर्थात् प्रकृति और पुरुष के यथार्थ स्वरूप का जो ज्ञान (अवबोध) है अर्थात् यह सब (दृश्य) और मैं (द्रष्टा) ब्रह्म ही हूँ ऐसा प्रत्यक् दृष्टि से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ब्रह्ममात्रत्व दर्शन रूप जो ज्ञान है वही सम्यक् ज्ञान है (संसार की आत्यन्तिक निवृत्ति का कारण)—ऐसा मेरा (सर्वज्ञ ईश्वर का) मत (निश्चय) है अथवा जिस ज्ञान से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों का तत्व (ज्ञाता और ज्ञेय सब ब्रह्म ही है ऐसा तत्व) ज्ञात होता है, वही मेरा (ब्रह्मका) ज्ञान है, यह मत (निश्चय सिद्धान्त) है। क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ इन दोनों को अप्रतिबद्ध (निरवच्छिन्न अर्थात् अटूट) वृत्ति से ब्रह्म मात्र रूप से जानना ही ब्रह्मज्ञान है एवं वही कैवल्य का कारण है, ऐसा मत है अर्थात् ऐसा ही वेद में ऋषियों ने निश्चय किया हैं, यही कहने का अभिप्राय है। यदि कहो कि सब क्षेत्र में क्षेत्रज्ञ आत्मा ब्रह्म ही है इसप्रकार जीव और ईश्वर के एकत्व का प्रतिपादन करना उचित नहीं है क्योंकि इसप्रकार सिद्धान्त का प्रत्यक्ष आदि सब प्रमाणों से विरोध है। प्रत्यक्ष से जीव का कर्म से उत्पन्न हुआ जन्म, मरण, सुख, दुःख आदि रूप संसार देखा जाता है। अतः संसारी जीव से ईश्वर का अभेद होने पर तो ईश्वर के अतिरिक्त दूसरा कोई भोक्ता न होने से ईश्वर में ही संसार का प्रसंग आयगा अर्थात् ईश्वर को ही संसारी मानना पड़ेगा। ऐसा मानने पर 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'

(अर्थात् अन्य जो है वह नहीं खाता हुआ केवल देखता है) इत्यादि श्रुतियों से तथा प्रत्यक्ष से विरोध होगा। फिर जीव को ईश्वर से अभिन्न मानने में जीव के अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर न होने से जीव ही सबका नियन्ता होगा। स्वतन्त्र जीव का दुःखमय संसार उपयोगी नहीं है अतः जीव यदि स्वतन्त्र तथा सब संसार का नियन्ता हो तब संसार का ही अत्यन्त अभाव हो जायगा। अतः संसार और संसारी दोनों का अभाव मानने पर प्रत्यक्ष का विरोध तथा श्रुति में जो कहा है कि 'देव, तिर्यक्, मनुष्य आदि योनियों में अपने-अपने कर्म के अनुसार जीव स्त्री पुरुष आदि स्वरूपों को प्राप्त होता है एवं 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' (दोनों में दूसरा (जीव) संसार रूप फल को स्वादिष्ट मानकर खाता है) इत्यादि वाक्यों के साथ विरोध हो जायगा एवं 'द्वा सुपर्णा सयुजा' अर्थात् दो पक्षी परमात्मा तथा जीवात्मा एकही शरीर रूप वृक्ष में साथ रहने वाले हैं इत्यादि श्रुति वाक्यों से जीव और ब्रह्म में जो भेद प्रतिपादित किया गया है, उससे भी विरोध होगा। 'मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन् तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामः' (अर्थात् मन्त्रों में जिन कर्मों को कवियों ने देखा उनको त्रेता में बहुत प्रकार से फैलाया, हे सत्यकाम, उनको नियम से करो इत्यादि कर्म शास्त्र तथा) 'तरति शोकमात्मवित्', ('आत्मवित् शोक को तरता है आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः' (आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य और मन्तव्य है') इत्यादि ज्ञान शास्त्र निरर्थक हो जायंगे। 'जीव ईश्वराद्भिन्नः, जननादिमत्त्वात्, किञ्चिज्ज्ञत्वात्, निकृष्टोपाधिमत्त्वात्, नित्यदुःखित्वात्, नियम्यत्वाच्चेत्यनुमानविरोधाच्च तयोरेकत्वं न सिद्ध्यतीति चेत्, न बहुश्रुतिस्मृतिविरोधापत्तेः। (जीव ईश्वर से भिन्न है, जन्मादिमान् होने से, अल्पज्ञ होने से, निकृष्ट-उपाधि युक्त होने से, नित्य दुःखी होने से, नियम्य होने से, इस प्रकार अनुमान से विरोध है। इसलिए दोनों का एकत्व सिद्ध नहीं होता ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि एकत्व न मानने पर बहुत श्रुति और स्मृतियों से प्राप्त होता है। 'अयमात्मा ब्रह्म', (यह आत्मा ब्रह्म है) 'प्रज्ञानं ब्रह्म', (प्रज्ञान ब्रह्म है) 'अहं ब्रह्मास्मि', (मैं ब्रह्म हूँ) 'तद्वा एतद् ब्रह्माद्वयं·······सदानन्दचिन्मात्र-मात्मैव·······तदेतत्सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैवात्र ह्येव न विचिकित्स्यम्', (वही यह अद्वय ब्रह्म है, सदानन्द चिन्मात्र आत्मा ही है, वह यह सत्य है, आत्मा ब्रह्म ही है,

इसमें संशय नहीं करना चाहिए) 'सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं नित्यं स त्वमेव त्वमेव तत्', (सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, नित्य वही तुम हो, तुम्ही वह हो), 'तत्त्वमसि', (वह तुम हो) 'स एकः' (वह एक है), इत्यादि अनेक श्रुतियों से तथा 'सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतत्', (वह मैं हूँ, वही तुम हो, वही यह सब है) 'आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं कः करिष्यति', (आत्मा का और ब्रह्म का जो भेद वस्तुतः नहीं है, उस भेद का कौन सम्पादन कर देगा) 'एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः', (एक आत्मा पुराण पुरुष है और वह तुम ही हो) 'सकलमिदमहं च वासुदेवः', (सब यह और मैं वासुदेव हूँ) 'जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः', (जीव ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं) 'सर्वे वयमतः परम्' (इससे पीछे हम सब ब्रह्म ही हैं) 'भोक्तारं यज्ञतपसाम्', (यज्ञ और तपों के भोक्ता को) 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि', (क्षेत्रज्ञ मुझको ही जानो) 'उपद्रष्टाऽनुमन्ता च', (उपद्रष्टा और अनुमन्ता) इत्यादि स्मृतियों से ब्रह्म और आत्मा के एकत्व का ही नियम से प्रतिपादन किया जाता है। 'आत्मा ब्रह्मैव भवति, सद्रूपत्वाच्चिद्रूपत्वादानन्दरूपत्वादविक्रियत्वादसङ्गत्वात् परिपूर्णत्वाच्च, यन्नैवं तन्नैवं यथा बुद्ध्यादिः', आत्मा ब्रह्म ही है, सद्रूप होने से, चिद्रूप होने से, आनन्दरूप होने से, अक्रिय होने से, असङ्ग होने से और परिपूर्ण होने से, जो ऐसा नहीं है, वह ऐसा नहीं है, जैसे बुद्धि आदि) 'जीवेश्वरयोर्भेदोऽसत्यः, उपाधिकल्पितत्वात्, घटाकाशमहाकाशवत्', (जीव और ईश्वर का भेद असत्य है, उपाधि द्वारा कल्पित होने से, घटाकाश, महाकाश के समान) 'जीवोपाधोर्मिथ्या, मायाकार्यत्वात् स्वप्नार्थवद्' (जीव की उपाधि मिथ्या है, माया का कार्य होने से, स्वप्न के पदार्थ के समान) इत्यादि युक्तियों से भी सम्यक् प्रकार से विचार करने पर दोनों का अभिन्नत्व ज्ञात होता है–दोनों में किंचित भी भेद नहीं है क्योंकि यदि दोनों का भेद स्वीकार किया जाय तो भेद दर्शन का निषेध ही होगा। 'नात्र काचन भिदास्ति, नैवात्र काचन भिदास्त्यत्र भिन्नमिव मन्यमानः शतधा सहस्रधा भिन्नो मृत्योः स मृत्युमाप्नोति' (यह कोई भेद नहीं है, यह कोई भी भेद हो नहीं सकता, यह जो भिन्न के समान मानता है वह सैंकड़ो, हजारों प्रकार से भिन्न हो जाता है एवं मृत्यु से वह मृत्यु को प्राप्त होता है) इत्यादि श्रुतियों से भी पुनः पुनः भेद दर्शन का निषेध किया है और भेद के देखने वाले के लिये महान् अनर्थ भी कहा गया है। अतः ईश्वर और जीवों का अभेद है, यही मुमुक्षु को

भली भाँति जानना चाहिये। यदि कहो कि मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इस प्रत्यक्ष से जीव का संसार प्रत्यक्ष है, अतः संसारी जीव और असंसारी ईश्वर का एकत्व कैसे सिद्ध होता है तो उसपर कहूँगा कि ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि आत्मा का संसार मिथ्या है क्योंकि वह आत्मा में जरा आदि के समान अविद्या से आरोपित होता है। अतः आत्मा में जो संसार प्रतीत होता है उसका अविद्या का कार्य होने के कारण, मिथ्या होना युक्तियुक्त है। 'अमूढो मूढ इव व्यवहरन्नाऽऽस्ते माययैव' अर्थात् माया से ही अमूढ़ आत्मा मूढ़ के समान व्यवहार करता है, इस प्रकार श्रुति वाक्यों से आत्मा स्वयं असंसारी होकर भी अविद्या से संसारी के समान प्रतीत होता है। जैसे कारण के (नेत्र-इन्द्रिय के) दोष से शंख पीला दिखाई पड़ता है, ऐसे ही यह आत्मा अविद्या से संसारी दिखाई पड़ता है। वास्तव में तो 'यह आत्मा सन्मात्र, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, मुक्त, निरंजन, विभु, अद्वय, आत्मानंद पर तथा प्रत्यगेकरस है। इस प्रकार श्रुति वाक्यों से यह सिद्ध होता है कि आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव ही है। किन्तु संसार अनात्म का धर्म होने पर भी अविद्या से आत्मा में अध्यारोपित है, जिसप्रकार चक्षु का पीला धर्म (अर्थात् चक्षु के दोष के कारण सफेद वस्तु को भी पीत पीला देखना रूप धर्म) शंख में आरोपित होता है। युक्ति से भी यह सिद्ध होता है कि संसार अनात्मा का धर्म है आत्मा का धर्म नहीं है क्योंकि आत्मा के रूप के समान ज्ञेय है यदि यह आत्मा का धर्म हो तो आत्मा का कभी मोक्ष हो नहीं सकता किन्तु वेद (श्रुति से) मोक्ष सुनने में आता है। 'तरति शोकमात्मवित्', (आत्मवित् शोक को तर जाता है) 'विमुक्तश्च विमुच्यते', (वियुक्त भी विमुक्त होता है) 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (ब्रह्म होकर ही ब्रह्म को प्राप्त होता है)। जिस कारण से ऐसा है, इसलिये आत्मा में अविद्या से आरोपित संसारित्व की प्रतीति दशा में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध सभी द्वैत व्यवहार का स्वप्न के समान सम्भव होने से कोई भी विरोध नहीं है एवं कर्मशास्त्र एवं ज्ञानशास्त्र का भी आनर्थक्य नहीं है अर्थात् अज्ञान दशा में जब तक कल्पित द्वैत व्यवहार में सत्यत्व बुद्धि रहती है तब तक कर्मशास्त्र एवं ज्ञान-शास्त्र सार्थक हैं। जागने पर स्वाप्निक संसार का जैसा अभाव होता है उसी प्रकार विद्या के आविर्भाव से अविद्याकृत संसार का अभाव होने पर नित्य, शुद्ध, बोधस्वभाव

(ज्ञानस्वरूप) परिपूर्ण आत्मा का ब्रह्म से अभिन्नत्व का बोध होगा यह कोई विरुद्ध बात नहीं है। इसलिये प्रमाण-शिरोमणि सर्वज्ञ श्रुति ने भी कहा है 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' अर्थात् हे श्वेतकेतो ! यह सब इसी का स्वरूप है, वह सत्य है, वह आत्मा है और तुम भी वही हो। आकाश से लेकर स्थूल पर्यन्त सम्पूर्ण द्वैतप्रपंच ही आत्मा की संसार-गति के निमित्त है एवं वह अविद्या का कार्य होने के कारण उसकी अपनी सत्ता नहीं है क्योंकि अधिष्ठान की सत्ता से वह सत्तावान् होता है, इसलिये श्रुति ने 'यह इसी का (अधिष्ठान स्वरूप परब्रह्म का) स्वरूप है' ऐसा कहकर द्वैत प्रपंच के सन्मात्रत्व का बोध कराया है। अतः कोई विशेष भेद का हेतु न रहने के कारण चिदचिदेकरस आत्मा में ब्रह्म के अद्वितीयत्व की सिद्धि के लिये 'वही तुम हो' ऐसा कहकर ब्रह्मत्व का प्रतिपादन किया है। यदि द्वैत-वाद सिद्ध होता है तो श्रुति-स्मृतियों का व्याकोप हो जायगा अर्थात् असंख्य श्रुति एवं स्मृति वाक्य व्यर्थ हो जायँगे। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', (ब्रह्म सत्य-ज्ञान-अनन्तस्वरूप है) 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', (ब्रह्म एक और अद्वितीय ही है) 'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थे', (एक ही रुद्र है, दूसरा नहीं रहा) 'एको देवो नारायणः', (देव नारायण एक है) 'एक एव हि भूतात्मा' (एक ही भूतात्मा) 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति', (ब्राह्मण लोग एक सत् को ही अनेक प्रकार से कहते हैं) '**एकः सन् बहुधा विचचार**' (एक होकर अनेक प्रकार से फैला) 'एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति', (एक को ही बहुत प्रकार से कहते हैं) 'एको दाधार भुवनानि विश्वा', (एक अनेक भुवनों को धारण करता हुआ) 'एको देवो बहुधा संनिविष्टः', (एक देव ने बहुत प्रकार से प्रवेश किया है) 'त्वमेकोऽसि बहूननुप्रविष्टः', (बहुतों में प्रविष्ट तुम एक हो) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्', (वह, यह ब्रह्म पूर्वरहित, पररहित, अन्तररहित, बाहररहित) 'ईशावास्यमिदं सर्वम्', (ईश्वर से यह सब व्याप्त है) 'सद्धीदं सर्वम्'''चिद्धीदं सर्वम्' (सत् ही यह सब है—चित् ही यह सब है) 'पुरुष एवेदं सर्वम्' (पुरुष ही यह सब है) 'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्', (ब्रह्म ही यह विश्व है, वही श्रेष्ठ है) 'मायामात्रमिदं द्वैतम्' (मायामात्र यह द्वैत है) 'नेह नानास्ति किंचन', (यहाँ अनेक कुछ नहीं है) 'नाद्यस्ति द्वैत-सिद्धिः' (द्वैत सिद्ध नहीं है) इत्यादि श्रुतियों से तथा 'तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किंचित्', (इसलिये विज्ञान के

सिवाय कुछ नहीं है) 'ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोकम्', (ज्ञान विशुद्ध विमल, विशाल) 'एकः समस्तं यदिहास्ति किञ्चित्', (जो यह कुछ है, एक ही समस्त है), 'विशुद्धं ज्ञानमेवैकम्', (विशुद्धज्ञान एक ही है) 'मत्तः परतरं नान्यत्', (मुझसे परतर अन्य नहीं है) 'वासुदेवः सर्वमिति', (वासुदेव सब है) 'सर्वभूतस्थितं यो माम्' (सब भूतों में मुझको जो) 'वेदार्थः परमाद्वैतम्', (वेद का अर्थ परम अद्वैत है) इत्यादि स्मृतियों से व्याकोप हो जायगा। फिर युक्तियों से भी इस प्रकार ब्रह्म के अद्वितीयत्व का प्रतिपादन किया जाता है–ब्रह्म अद्वितीय है, दूसरी वस्तु से शून्य होने के कारण, सुषुप्ति के समान अतः क्षेत्रज्ञ आत्मा का ब्रह्मत्व श्रुति तथा स्मृतियों में प्रसिद्ध हो है। इसलिये 'क्षेत्रज्ञ भी मुझको ही जानो' ऐसा सर्वज्ञ भगवान् ने कहा है। यदि कहो कि जीव और ईश्वर के एकत्व का प्रतिपादन भगवान् ने नहीं किया है किन्तु 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' इस कथन से सर्व क्षेत्र में अन्तर्यामीरूप से स्थित ईश्वर के अपने स्वरूप के एकत्व का ही प्रतिपादन किया गया है अर्थात् सर्वभूतों में अन्तर्यामी ईश्वर एक ही है ऐसा मूढ़ों को जिससे ईश्वर के एकत्व का विज्ञान हो, एसलिए कहा गया है।

उत्तर—ऐसी शंका युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि इस विषय में तुमसे प्रश्न होगा कि–क्या ईश्वर स्वयं सावयव होकर भूतों का नियमन करता है या निरवयव होकर अथवा उभयात्मक होकर ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है क्योंकि सावयव होने पर ईश्वर में विकारित्व, अनित्यत्व आदि दोषों का प्रसंग उपस्थित होगा और श्रुतियों से भी विरोध होगा। 'यस्य आदित्यः शरीरम्' (जिसका आदित्य शरीर है) इत्यादि श्रुति में उक्त शरीर से अतिरिक्त शरीर का अभाव सुनने में आता है किन्तु वह प्रतीक–उपासना के लिए ही कहा गया है। वस्तुतः ईश्वर सावयव होने पर परिच्छिन्न (सीमित) होगा और उससे पूर्णत्व का व्याघात होगा तथा एकत्व की सिद्धि नहीं होगी। दूसरा पक्ष (ईश्वर निरवयव है, यह पक्ष) भी युक्त नहीं है। 'यः प्राणेन प्राणिति स य आत्मा सर्वान्तरः.........एष य आत्मा सर्वान्तरः' (जो प्राण से प्राणन क्रिया करता है, वह तुम्हारी आत्मा अन्तर्यामी है–यह तुम्हारी आत्मा सबके भीतर है) इस श्रुति के अनुसार ईश्वर का प्राणित्व, प्राणनक्रियावत्त्व प्रतिपादित होने के कारण ईश्वर का अशरीरत्व उपपन्न नहीं होता है। किन्तु अशरीरत्व के अनुपपन्न होने से ,अशरीरं शरीरेषु'

(शरीरों में अशरीर) तथा 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' (ईश्वर प्राणरहित, मनरहित शुभ्र है) इत्यादि श्रुति वाक्यों से विरोध होगा। तीसरा पक्ष (अर्थात् ईश्वर सावयव तथा निरवयव है इस प्रकार कहना) भी युक्त नहीं है क्योंकि निरवयवत्व और सावयवत्व एक ही अधिकरण में अर्थात् एक ही ईश्वर को आश्रय कर नहीं रह सकते हैं। ईश्वर को ही यदि क्षेत्रज्ञ माना जाय तो उसमें 'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते' (गीता १३।२०) अर्थात् पुरुष सुख, दुःख आदि के भोग में कारण है इस उक्ति के अनुसार ईश्वर में जीवत्व तथा सुख, दुःख आदि के भोक्तृत्व का प्रसंग उपस्थित होगा और 'कारणं गुणसंगोऽस्य' (अर्थात् जीव की भोग्य पदार्थों में आसक्ति ही सत् और असत् योनि में जन्म का कारण है। इस कथन से ईश्वर का सत्-असत् योनियों में जन्म का प्रसंग आयेगा। यदि कहो कि क्षेत्रज्ञ को आत्मा मानने पर भी वही दोष है तो कहेंगे कि इस प्रकार कहना युक्त नहीं है क्योंकि अविद्या से आत्मा के जन्म आदि अनर्थ को हम लोग भी स्वीकार करते हैं किन्तु विद्या से (आत्मस्वरूप के ज्ञान से) अविद्या की निवृत्ति हो जाती है एवं यह अनुभूत होता है कि किसी भी अवस्था में आत्मा का ब्रह्मत्व नष्ट नहीं होता है। ईश्वर ने स्वयं भी कहा—

'बन्धो मोक्ष इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः।
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो न बन्धनम्॥'

मेरा जो बन्ध-मोक्ष विशेषरूप से ख्यात (कथित) होता है वह गुण से (त्रिगुणात्मिका माया से) प्रतीत होता है, वस्तुतः वह नहीं है। गुण माया का कार्य है और माया कोई वस्तु नहीं होने के कारण पारमार्थिक दृष्टि से न मेरा मोक्ष है, न बन्धन है। अतः अविद्या से ही आत्मा के जीवरूप से प्रतीत होने के कारण तुम्हारे द्वारा कहे गये विकल्पों का (अर्थात् ईश्वर के सावयवत्व, निरवयवत्व या उभयात्मकत्व का) अवकाश नहीं है क्योंकि विद्या से उसका (आत्मा का) ब्रह्मत्व सिद्ध होता है, इसलिए यहाँ कोई भी अनुपपत्ति (विरोध) नहीं है, यह सिद्ध हुआ।

(३) नारायणी टीका—पूर्व श्लोक में कहा है कि यह शरीर क्षेत्र है और जो इसे (शरीर का) जानते हैं वह क्षेत्रज्ञ है। विश्वप्रपञ्च में दो ही तत्त्व हैं-प्रकृति और पुरुष (गीता १३।१९)। प्रकृति जड़ अनित्य, विकारी तथा ज्ञेय है और पुरुष

चेतन, नित्य (अनन्त), अविकारी तथा ज्ञाता है। जो कुछ कार्य और कारण रूप से प्रतीत होता है वह सब प्रकृति का ही विकार है। पुरुष (अर्थात् 'अहं' पद का लक्ष्य जो चैतन्य सत्ता या आत्मा है) स्वरूपतः, स्वतन्त्र, निर्गुण, निष्क्रिय होते हुए भी प्रकृति के कार्य में (क्षेत्र में) आत्माभिमान करने पर प्रकृति के धर्म (सुख दुःख-जरा मृत्यु इत्यादि) पुरुष में आरोपित होते हैं एवं इसी कारण से उसको भोक्ता, कर्ता इत्यादि कहा जाता है। तब पुरुष (अर्थात् नित्य-शुद्ध-मुक्त स्वभाव चैतन्यस्वरूप अखण्डाद्वय परमात्मा) मानो जीव रूप से लीला कर रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु भ्रान्ति से एक वस्तु को अन्य प्रकार मान लेने से ही वस्तु के स्वभाव का परिवर्तन (अन्यथा) नहीं हो सकता। रज्जु में भ्रान्ति से सर्प देखने पर ही रज्जु सर्प नहीं हो जाता है अथवा मरीचिका में जल देखने से ही मरुभूमि गीली नहीं होती है। अतः माया के (प्रकृति के) प्रभाव से सर्व शरीर में विद्यमान एक ही चैतन्यस्वरूप आत्मा भिन्न भिन्न शरीर में इन्द्रिय अन्तःकरण आदि उपाधि से युक्त होकर भिन्न भिन्न जीव रूप से प्रतीत होने पर भी वह अपने अद्वितीय, सच्चिदानंद स्वरूप से च्युत नहीं होता है क्योंकि वह अच्युत है।

जब वह शरीरादि उपाधि से युक्त होता है तब परब्रह्म ही जीव होता है। उपाधि नाना होने के कारण जीव भी नाना (बहु) है। सर्वप्रकार उपाधि से मुक्त होने से जीव फिर अपने स्वरूप में स्थित होता है अर्थात् वह ब्रह्म ही हो जाता है। अतः जीवत्व अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण बन्धन का हेतु होता है और ब्रह्म चित् (ज्ञान) स्वरूप होने के कारण ब्रह्मस्वरूपता अज्ञान की नाशिका तथा मुक्ति का हेतु होती है। जीव शरीररूप क्षेत्र को तब ही यथार्थ रूप से जान सकता है जब वह शरीरादि रूप उपाधि से मुक्त होकर (शरीर रूप क्षेत्र से अपने को पृथक् कर अपने शुद्धचैतन्य-स्वरूप में स्थित होता है। उपाधिमुक्त शुद्धचैतन्यस्वरूप जीव और परब्रह्म भगवान् एक ही हैं। इसलिए भगवान कह रहे हैं—हे अर्जुन! सब क्षेत्र में क्षेत्रज्ञ भी (क्षेत्र को जानने वाला भी) मैं ही हूँ ऐसा जान लो। विद्धि (जानो) शब्द से यही सूचित किया गया है कि जीव यदि अपने शरीर में (क्षेत्र में) क्षेत्रज्ञ का अनुसन्धान करे तो मुझे भी (सर्वात्मा भगवान् के यथार्थ स्वरूप को भी) साक्षात् जानकर मुझे प्राप्त

कर सकता है। क्षेत्र (शरीरादि) प्रकृति का (माया का) कार्य है वह सभी कल्पित तथा मिथ्या है। मैं नित्य, अविकारी, अद्वितीय सच्चिदानंद स्वरूप क्षेत्रज्ञ हूँ। "प्रकृति के कार्य जो क्षेत्र है उसके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। अनादि काल से मैं इस प्रकृति के साथ संग कर तथा प्रकृति के कार्य शरीरादि में "मैं और मेरा" अभिमान कर नाना योनि में भ्रमण कर रहा हूँ। अब मैंने जान लिया कि मैं क्षेत्र (शरीरादि) नहीं हूँ, मैं तो इसका जानने वाला क्षेत्रज्ञ हूँ। इस प्रकार जीव अपने को नित्य, सत्य, शुद्ध, मुक्त सच्चिदानन्दस्वरूप जान कर क्षेत्रत्व (क्षरत्व) के परित्याग पूर्वक क्षेत्रज्ञत्व (अक्षरत्व) प्राप्त होता है। साथ-साथ वह यह भी साक्षात् अनुभव कर लेता है कि जो एक शरीर रूप क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ है वही सभी की आत्मा होने के कारण सभी शरीर में ही क्षेत्रज्ञ है। तब वह क्षर से (क्षेत्र से) अतीत (परे) एवं अक्षर से (क्षेत्रज्ञ से) उत्तम (श्रेष्ठ) पुरुषोत्तम सत्ता में (गीता १५।१८) स्थित हो सकता है। निर्गुण अनन्त स्वरूप जीव देह रूप में परिणत प्रकृति में आत्माभिमान कर सगुण, सीमित, अल्पज्ञ तथा जन्म-मरण-शील होता है। फिर श्रवण मनन निदिध्यासन रूप साधनों के बल से निर्गुण अखण्डाद्वय परब्रह्म के साथ एकत्व साक्षात् अनुभव कर निर्गुण पुरुषोत्तम स्वरूपत्व को प्राप्त होता है। इसीको ही तत्त्वज्ञान या परमार्थज्ञान कहते हैं, इससे अतिरिक्त और सभी अज्ञान है। केवल शास्त्र या गुरुमुख से श्रवण करने पर ही यह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। शास्त्रविहित कर्म निष्काम भाव से (भगवदर्पण-बुद्धिपूर्वक) करके चित्तशुद्धि लाभ कर मनन (विचार) तथा धारणा, ध्यान एवं अन्त में निर्विकल्प समाधि से ही क्षेत्रज्ञ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो सकता है—अन्यथा नहीं। यही परवर्ती ७–११ श्लोकों में भगवान् स्पष्ट करेंगे।

['इदं शरीरम्' इत्यादि श्लोकों द्वारा (अर्थात् पूर्ववर्ती १३।१–२ श्लोकों द्वारा) जो क्षेत्राध्याय के अर्थ का उपदेश दिया गया है यह संक्षिप्तरूप से अब 'तत्क्षेत्रं यच्च' इत्यादि श्लोक द्वारा कहा जा रहा है क्योंकि जिस अर्थ का विस्तारपूर्वक आगे वर्णन किया जायगा उसका संक्षेप पहले कह देना न्याय (उचित) ही है। अभिप्राय यह है कि इस अध्याय के प्रथम एवं द्वितीय श्लोक में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ शब्द से जो अर्थ संक्षेप में कहा गया है उस अर्थ का ही विस्तारपूर्वक वर्णन आगे कई श्लोकों में किया

जायगा। इसलिए वर्तमान श्लोक में आगे किस-किस विषय का वर्णन किया जायगा संक्षेप से उनकी ही सूचना दी गई है—]

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

अन्वय—तत् क्षेत्रं यत्, यादृक् च, यद् विकारि, यतः, यत् च (तथा) स च यः, यत् प्रभावः च (इति एतत् सर्वं) समासेन मे शृणु ।

अनुवाद—पूर्वोक्त वह क्षेत्र जो कुछ है, जिसप्रकार का है, जैसे विकार वाला है और जिससे वह उत्पन्न होता है तथा जो इसका धर्म है इत्यादि एवं वह क्षेत्रज्ञ (जिसके सम्बन्ध में भी पूर्व में कहा गया है) स्वरूपतः जिस प्रकार का है, तथा वह जैसे प्रभाव वाला है वह संक्षेप में मुझसे सुन लो ।

भाष्यदीपिका—पहले श्लोक में 'इदं शरीरम्' इत्यादि (यह शरीर क्षेत्र है इस प्रकार) कहकर 'क्षेत्र' शब्द का अर्थ पहले ही निर्दिष्ट हुआ है **तत्क्षेत्रम्**—अतः यहाँ 'तत्' शब्द का अर्थ है कि पहले श्लोक में देहेन्द्रियों और अन्तःकरण के संघात रूप जो क्षेत्र वर्णित हुआ है, वह क्षेत्र [यद्यपि आगे (१३।५) चतुर्विंशति तत्त्व-विशिष्ट प्रकृति को ही क्षेत्र रूप से निर्देश करना भगवान् का अभिप्राय है तथापि देह-इन्द्रियाँ-अन्तःकरण रूप से परिणत हुई प्रकृति में ही अहंभाव अज्ञान वश रहने के कारण (अर्थात् 'देह-इन्द्रियादि ही मैं हूँ' इस प्रकार का अभिमान अज्ञानावस्था में रहने के कारण) जिससे जीव इस प्रकार क्षेत्र से अपने क्षेत्रज्ञ स्वरूप को पृथक् कर सके, इसलिए शरीर को ही 'क्षेत्र' शब्द से श्रीभगवान् ने निर्देश किया । अब वही विस्तृतरूप से समझाने के लिए भगवान् प्रतिज्ञा कर रहे हैं । **यादृक् च**—वह जैसा है अर्थात् अपने जन्मादि तथा इच्छादि धर्मसमूहों के द्वारा जिस प्रकार प्रतीत होता है ['च' शब्द समुच्चय अर्थ में हैं अर्थात् सब क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के सम्बन्ध में एक साथ सब कुछ ही वर्णित हो रहा है यह सूचित करने के लिए 'च' शब्द का श्लोक में बार-बार प्रयोग किया गया है ।] **यद् विकारि**—जैसे विकारों वाला है अर्थात् जिन इन्द्रियादि विकारों से वह युक्त है । **यतः**—और जिस कारण से अथवा जिस प्रकृति और पुरुष के संयोग से

यह उत्पन्न होता है। (मधुसूदन, श्रीधर) **यत् च**—यह क्षेत्र स्वरूपतः जिसप्रकार है अर्थात् जिन स्थावर-जंगमादि भेदों से भिन्न होता है [(अथवा क्षेत्रज्ञ की उपाधि होकर वह क्षेत्र जो कार्य उत्पन्न करके क्षेत्रज्ञ के संसार-बन्धन का कारण होता है, वह) देहादि के संघातरूप, इच्छादि धर्मविशिष्ट तथा कार्यकारणात्मक क्षेत्र को ठीक-ठीक जानना उचित है क्योंकि इसे भलीभाँति जानने से इसकी असारता उपलब्ध होने पर इसके प्रति हेयत्वबुद्धि (अनासक्ति) एवं वैराग्य उत्पन्न होगा, इस आशय से श्रीभगवान् इसके स्वरूप के बारे में विस्तृत भाव से वर्णन करने के लिए प्रतिज्ञा कर अत्र क्षेत्रज्ञ के सम्बन्ध में किन-किन विषयों का वर्णन करेंगे (क्या कहेंगे) यह भी सूचित कर रहे हैं-] **स च**—पूर्व श्लोक में जिसे क्षेत्रज्ञ कहा गया है वह भी **यः**—स्वरूपतः जो कुछ है अर्थात् स्वरूपतः जो सत्प्रकाश चैतन्यानन्द स्वभाव वाला है और **यत् प्रभावः च**—जिस प्रभाव वाला है अर्थात् उपाधि के कारण जो जो प्रभाव (शक्तियाँ) उसके हैं **तत्**—वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों का उपर्युक्त यथार्थ स्वरूप **समासेन मे शृणु**—संक्षेप से मुझसे (मेरे वचनों से) सुनो अर्थात् सुनकर निश्चय करो।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—इस अध्याय में यद्यपि २४ तत्त्वों में (भेदों में) विभक्त प्रकृति को ही क्षेत्र रूप से निर्दिष्ट करना अभीष्ट है तो भी देहादि रूप में परिणत हुई उस प्रकृति में ही अविवेक से (अज्ञान से) अहंभावरूप अविवेक स्पष्ट रूप से विद्यमान रहने के कारण यथार्थ अहं रूप जो क्षेत्रज्ञ है उससे क्षेत्र का विवेक (पृथक्) करने के लिए 'इदं शरीरं क्षेत्रम्' (यह शरीर क्षेत्र है) इत्यादि वचन कहे गए। उसी का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करने की इच्छा से श्रीभगवान् अब प्रतिज्ञा करते हैं—**तत् क्षेत्रं यत् च** इत्यादि—जिसको मैंने क्षेत्र कहा है वह क्षेत्र **यत्**—जो स्वरूप से जड़ तथा दृश्यादि स्वभाववाला है **यादृक् च**—जिसप्रकार के इच्छादि धर्म वाला है **यद् विकारि**—जिन इन्द्रियों आदि विकारों से युक्त है **यतः च**—जिस प्रकृति और पुरुष के संयोग से उत्पन्न होता है **यत्**—तथा वह जो कुछ है अर्थात् जिन स्थावरजंगम आदि भेदों से भिन्न (विभक्त) है एवं **स च यः**—वह क्षेत्रज्ञ भी स्वरूप से जो है **यत्प्रभावः च**—जिस प्रभाव वाला है अर्थात् अचिन्त्य ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण जिन जिन प्रभावों से (शक्तियों से) सम्पन्न है तत् **समासेन मे शृणु**—उन सबको मुझसे संक्षेपतः सुनो।

(२) **शंकरानन्द**—पूर्ववर्ती श्लोक में 'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञः' (इसको जो जानता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं), इसप्रकार कहकर श्रीभगवानने क्षेत्रज्ञ आत्मा का ज्ञत्व (जानना) ही धर्म है–अहंकार, ममकार कर्तृत्व, भोक्तृत्वादिरूप संसार आत्मा का धर्म नहीं है क्योंकि वह ज्ञेय होने से क्षेत्र का ही धर्म है, इसप्रकार सूचित करके 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि '(मुझको ही क्षेत्रज्ञरूप से जानो) ऐसा कहकर सब भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से विभक्त (पृथक्) चिदेकरस आत्मा में परिच्छिन्नता का अभाव अर्थात् पूर्णत्व रहने के कारण 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है) इस प्रकार के न्याय से (श्रुति-वाक्य से) ब्रह्मत्वका प्रतिपादन करके अब स्पष्ट कर रहा है कि श्रुति और युक्तियों से क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ का संपूर्णरूप से विवेक (पार्थक्य का निश्चय) करने पर ही पुरुष का 'मैं संसारी जीव हूँ' इसप्रकार भ्रम की निश्शेष निवृत्ति होती है—अन्य किसी उपाय से नहीं होता है। इसे समझाने के लिए फिर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों का विशेष रूप से भलीभांति विभाग करके अब भगवान् दिखलाते हैं **तत् क्षेत्रम्**—'इदं शरीरम्' इससे जो कहा गया है वह क्षेत्र **यत् च**—जिस स्वरूप वाला है **यादृक् च**—स्वाभाविक रूप से वह जैसा है **यद् विकारि च**—जिन विकारों से (महदादि रूप) अपने (प्रकृति के) परिणामों से विकारी (अवयव विशिष्ट) होता है अर्थात् अपने धर्मों से जैसा धर्मवाला (जिन धर्मों से स्वयं धर्मी) होता है तथा **यतः च यत्**—जिससे जो होता है अर्थात् पुरुषका जिस क्षेत्र नाम के कारण से जो कार्य होता है अर्थात् क्षेत्रज्ञ की उपाधि होकर क्षेत्र स्वयं जिस कार्य को उत्पन्न करता है उस क्षेत्र को (जो क्षेत्रज्ञ के संसार का कारण होता है उसको) मुमुक्षुको सम्यक् प्रकार से जानना उचित है क्योंकि उसके जानने पर क्षेत्रज्ञ मुमुक्षु स्वयं संसारी नहीं होता है **स च यः**—फिर 'एतद्यो वेत्ति' इससे कहा गया क्षेत्रज्ञ स्वरूप से जैसा है अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप से जिसप्रकार ठीक-ठीक है तथा **यत् प्रभावः च**—उपाधि से युक्त होने के कारण जिस स्वभाव से सम्पन्न (स्वभाववाला) होता है **तत् समासेन मे शृणु**–[उसे जानना चाहिए क्योंकि इसप्रकार जानने पर जीव स्वयं मुक्त हो जाता है।] इसलिए भगवान् कहते हैं कि **तत् समासेन मे शृणु**—वह समास से (संक्षेप से) न कि विस्तार से, मैं कह रहा हूँ। अतः क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों के स्वरूपको मुझसे सुनो। सुनकर उसके अर्थ को सम्यक्

प्रकार से निश्चित करो उसकी निष्ठा से युक्त हो। वही श्रवण का फल है। अतः श्रवण की उपेक्षा या विस्मरण करने पर फल नहीं मिलता है।

[श्रोता की बुद्धि में रुचि उत्पन्न करने के लिए जिसे कहने के लिए भगवान् ने प्रतिज्ञा की उस (कहे जानेवाले) क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के यथार्थ स्वरूप की स्तुति करते हैं–]

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

अन्वय—(तत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञतत्त्वम्) ऋषिभिः बहुधा गीतं, विविधैः छन्दोभिः पृथक् (गीतं), (तथा) हेतुमद्भिः विनिश्चितैः ब्रह्मसूत्रपदैः च (पृथक् गीतम्)।

अनुवाद—वशिष्ठ आदि ऋषियों ने इस क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का यथार्थस्वरूप का योग शास्त्रों में अनेक प्रकार से निरूपण किया है, ऋग् आदि अनेकों मंत्र और ब्राह्मणों ने भी इसका पृथक् (विवेक करके) वर्णन किया है, तथा ब्रह्म को तटस्थ रूप से सूचित करने वाले एवं उसका साक्षात् प्रतिपादन करने वाले युक्तियुक्त एवं निश्चयात्मक (सब संशय से रहित) उपनिषद् वाक्यों ने भी इसका निरूपण किया है।

भाष्यदीपिका—(तत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञतत्त्वम्) ऋषिभिः बहुधा गीतम्—उस क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के यथार्थ तत्त्व का (स्वरूप का) वशिष्ठादि ऋषियों ने [योग शास्त्रों में धारणा और ध्यान के विषयरूप से (मधुसूदन)] अनेक प्रकार से गान (निरूपण) किया है। केवल वशिष्ठादि ऋषियों के वचन ही इस विषय में प्रमाण है ऐसा नहीं है परन्तु सभी वेदों की वाणी भी इस विषय पर प्रमाण है, यह सूचित करने के लिए अब कह रहे हैं–विविधैः छन्दोभिः पृथक् (गीतम्)—विविध [अर्थात् नाना प्रकार से शाखा विशिष्ट] ऋग् साम प्रभृति द्वारा [अथवा नित्य नैमित्तिक और नाना प्रकार के काम्य कर्मादि विषयक छन्दः द्वारा (मधुसूदन)] अर्थात् ऋगादि मंत्र तथा ब्राह्मण आदि नाना प्रकार के श्रुति-वाक्यों के द्वारा पृथक्-पृथक् गान (वर्णन) किया गया है। [इससे इसकी कर्मकाण्डप्रतिपाद्यता कही गयी है (मधुसूदन)] केवल वशिष्ठादि ऋषियों में स्मृति शास्त्रों द्वारा तथा कर्मकाण्डात्मक श्रुतियों ने (वेदों ने) मंत्र तथा ब्राह्मणों के द्वारा ही इसका निरूपण नहीं किया है परन्तु युक्ति द्वारा भी

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञों का यथार्थ स्वरूप निश्चयरूप से प्रतिपादित हो चुका है, यह कहते हैं—**हेतुमद्भिः विनिश्चितैः ब्रह्मसूत्रपदैः च पृथक् गीतम्**—इसी प्रकार हेतुमत् अर्थात् युक्तियुक्त तथा विनिश्चित (संशय रहित निश्चित ज्ञान उत्पन्न करने वाले) ब्रह्म-सूत्रों के पदों से भी पृथक् कहा गया है। जो वाक्य ब्रह्म के सूचक है उनका नाम 'ब्रह्मसूत्र' है। उन सब वाक्यों के द्वारा ब्रह्म प्राप्त होता है (ब्रह्म का यथार्थस्वरूप जाना जाता है) इसलिये उनको 'पद' कहते हैं। इस प्रकार वाक्यों से भी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का यथार्थ तत्त्व [अर्थात् क्षेत्र से पृथक् कर (विवेक कर) क्षेत्रज्ञ ही आत्मा है ऐसा] कहा गया है, यथा 'आत्मेत्येवोपासीत' (बृह० उ० १।४।७) अर्थात् केवल आत्मा ही सब कुछ है, ऐसी उपासना करनी चाहिए इत्यादि ब्रह्मसूचक पदों से क्षेत्रज्ञ को आत्म-रूप से जाना जाता है।

[मधुसूदन सरस्वती ने इस प्रकार व्याख्या की—(**तथा**) **हेतुमद्भिः विनिश्चितैः ब्रह्मसूत्रपदैः च** (**पृथक् गीतम्**)—] हेतुमत् तथा विनिश्चित ब्रह्मसूत्र तथा ब्रह्मपद सभी के द्वारा भी यह तत्त्व निरूपित हुआ है। जिनके द्वारा ब्रह्म सूत्रित होता है (सूचित होता है) अर्थात् जिनके द्वारा ब्रह्म किञ्चित् व्यवधान पूर्वक प्रतिपादित होता है उनको ब्रह्मसूत्र कहते हैं। अतएव 'ब्रह्मसूत्र' शब्द द्वारा 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' (तै० उ० ३।१) [अर्थात् यह भूतसमूह जिनसे उत्पन्न होता है, जिनका आश्रय कर जीवित रहता है एवं अन्त में जिनमें वे सर्वभूत प्रयाण करता है या लीन हो जाता है, वही ब्रह्म है] इत्यादि तटस्थ लक्षण प्रतिपादक उपनिषद् वाक्य-समूह को समझा रहे हैं। जब वस्तु का स्वरूप साक्षात् भाव से न समझा कर अन्य सब वस्तुओं से उस वस्तु को पृथक्कर उसका निर्देश किया जाता है तब उसको तटस्थ-लक्षण अथवा उपलक्षण कहते हैं। जैसे, देवदत्त नामक व्यक्ति का घर कहाँ है? इसके उत्तर में यदि घर को साक्षात् भाव से निर्दिष्ट न कर किसी असाधारण लक्षण द्वारा (जैसे जिस घर में कौए उड़ रहे हैं उसको देवदत्त का घर समझो इस तरह कहकर) दूसरे घरों से पृथक् कर देवदत्त के घर का निर्देश किया जाय तो उसे तटस्थ लक्षण कहा जाता है। तटस्थ लक्षणस्वरूप लक्षण न होने पर भी स्वरूपज्ञान का सहायक होता है, जैसे कौओं के साथ देवदत्त के घर का कोई सम्बन्ध

अथवा विशेष्य-विशेषण भाव नहीं है तथापि कौए देवदत्त के घर के परिचायक हैं। अतः जन्म, स्थिति, प्रलय जिनसे एवं जिनमें होता है ऐसा कहने पर 'ब्रह्म का स्वरूप क्या है', उसे साक्षात् भाव से नहीं समझाया जा सकता है क्योंकि सृष्टि स्थिति प्रलय सभी माया के कार्य हैं, तथापि जन्म इत्यादि ब्रह्म में ही सम्भव होता है—अन्य वस्तु में सम्भव न होने के कारण ये सब वाक्य ब्रह्म को अन्य सब वस्तुओं से पृथक् कर निर्दिष्ट करते हैं। इसलिए उसको उपलक्षण अथवा तटस्थलक्षण कहते हैं। इस प्रकार जो तटस्थलक्षणरूप उपनिषद्-वाक्य जो "ब्रह्म को किञ्चित् व्यवधानपूर्वक" निर्दिष्ट करते हैं वे ब्रह्मसूत्र कहे जाते हैं। फिर जो सब उपनिषद् वाक्य (जैसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१) इत्यादि वाक्य) साक्षात् ब्रह्म का स्वरूप बतला देते हैं उन्हें **'ब्रह्मपद'** कहा जाता है। ये तटस्थ लक्षणरूप **ब्रह्मसूत्र**—एवं स्वरूप लक्षणरूप **ब्रह्मपद**—जब युक्ति सहित प्रतिपादित होते हैं तब उसे 'हेतुमत् ब्रह्मसूत्रपद' कहते हैं। जैसे, छान्दोग्य श्रुति के उपक्रम में (आरम्भ में) 'हे सौम्य! यह पूर्व में केवल एक अद्वितीय सत् स्वरूप ही था' (छा० उ० ६।२।१) इस प्रकार कहने पर नास्तिकगण के मत का उल्लेख कर कहा 'कोई कोई फिर इस प्रकार कहते हैं कि यह पूर्व में एक अद्वितीय असत् स्वरूप ही था और उस असत् से सत् हुआ है (छा० उ० ६।२।१)। बाद में युक्ति द्वारा इस नास्तिक मत का इस प्रकार खण्डन किया—'हे सौम्य! ये फिर किस प्रकार सम्भव हो सकता है? असत् से किस प्रकार सत् हो सकता है? इस प्रकार युक्ति द्वारा वक्तव्यविषय प्रतिपादित होने के कारण इन उपनिषद् वाक्यों को 'हेतुमत्' कहा जाता है। फिर इन युक्ति-युक्त उपनिषद् वाक्यों द्वारा निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है क्योंकि इन सब उपनिषद् वाक्यों के उपक्रम तथा उपसंहार की एक वाक्यता के कारण (अर्थात् उपक्रम तथा उपसंहार में एक ही विषय प्रतिपादित होने के कारण) क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ तत्त्व के अर्थ को इस प्रकार निरूपित किया गया है जिससे इस विषय पर कोई संशय नहीं रह सकता। इसलिये इन सब उपनिषद् वाक्यों को 'हेतुमत् विनिश्चित ब्रह्मसूत्र पद' कहा जाता है। इस प्रकार हेतु (युक्ति) विशिष्ट विनिश्चित (सन्देहशून्य अर्थप्रतिपादक) तटस्थलक्षण तथा स्वरूपलक्षण ब्रह्मसूत्रपदरूप उपनिषद् वाक्य आदिद्वारा यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ तत्त्व बहु प्रकार से गीत अर्थात् निरूपित हुआ है—यही कहने का अभिप्राय है।

श्लोक में 'छन्दोभिः विविधैः' द्वारा वेद के कर्मकाण्ड द्वारा यह तत्त्व प्रतिपादित हुआ है, ऐसा कहा गया है एवं 'ब्रह्मसूत्रपदैः' द्वारा वेद के ज्ञानकाण्ड का भी जो वही प्रतिपाद्य विषय है, वह भी कहा गया।

वशिष्ठादिप्रणीत योगशास्त्र ने जिसका धारणा तथा ध्यान का विषय कहकर वर्णन किया है, नाना शाखा विशिष्ट एवं मंत्र तथा ब्राह्मण युक्त वेद के कर्मकाण्ड ने जिसका विस्तार पूर्वक निरूपण किया है वेद के उपनिषद आदि ज्ञानकाण्ड ने परमानन्द प्राप्ति के लिये एकमात्र जानने योग्य वस्तु होने के कारण जिस तत्त्व को नाना प्रकार युक्ति द्वारा (संशय शून्य वाक्य द्वारा) विशेष भाव से निश्चित किया है उसी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का याथात्म्य (यथार्थ स्वरूप) मैं तुम्हें अत्र संक्षेपरूप से कह रहा हूँ, उसे तुम सुनो—यही श्लोक का तात्पर्य है। [मधुसूदन सरस्वती की इस प्रकार व्याख्या श्रीधर स्वामी की टीका के अनुकूल भी है।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—इस विषय को विस्तार पूर्वक किन्होंने कहा जिसका यह संक्षेप है ! इसपर कहते हैं **ऋषिभिः**—वशिष्ठादि ऋषियों द्वारा योगशास्त्र में ध्यान धारणादि के विषय तथा विराट् (विराट् पुरुष) आदि के रूप में बहुत प्रकार से इसका निरूपण किया गया है **विविधैः**—विविध एवं विचित्र अर्थात् नित्य नैमित्तिक और काम्य कर्म के विषय का प्रतिपादन करने वाले छन्दों (वेद मंत्रों) के द्वारा भी नाना यजनीय देवतादि के रूप से बहुत प्रकार से इसका वर्णन किया गया है। **ब्रह्मसूत्रपदैः च एव**—तथा ब्रह्म के सूत्रों और पदों द्वारा [जिनके द्वारा ब्रह्म सूत्रित (सूचित) किया जाय वे ब्रह्मसूत्र हैं। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० उ० ३।१) अर्थात् जिससे ये समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं इत्यादि जो ब्रह्म का तटस्थ लक्षण प्रतिपादन करने वाले उपनिषदों के वाक्य हैं वे ब्रह्मसूत्र हैं और जिनके द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति (ब्रह्म के स्वरूप का साक्षात् अनुभव) होती है वे पद हैं इसलिए 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २।१) अर्थात् ब्रह्म सत्यस्वरूप एवं अनन्त स्वरूप है इत्यादि वाक्य ब्रह्म के स्वरूप-लक्षण का परिचय कराने वाले हैं। इसप्रकार तटस्थ लक्षण का परिचय कराने वाला जो ब्रह्मसूत्र (उपनिषदों के वाक्य) हैं तथा स्वरूप लक्षण का परिचय कराने वाले जिन उपनिषद के वाक्यों को पद कहा जाता है, उनके द्वारा भी नाना

प्रकार से क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के सम्बन्ध में बताया गया है। केवल यही नहीं परन्तु हेतुयुक्त वाक्य द्वारा भी नाना प्रकार से इस विषय को बताया गया है जैसे 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' (छा० उ० ६।३।१) अर्थात् 'हे सौम्य ! पहले यह सब कुछ सत् ही था', 'कथमसतः सज्जायेत' (छा० उ० ६।२।२।२) अर्थात् 'असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है ?' 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् एष ह्येवानन्दयति' (तै० उ० २।७) अर्थात् 'यदि यह आकाश की भाँति व्याप्त आनन्द न होता तो कौन अपान और प्राण का व्यापार कर सकता यही सबको आनन्दित करता है' इत्यादि युक्तियुक्त वाक्य द्वारा भी बहुत प्रकार से बताया गया है। उपर्युक्त मन्त्र में 'अन्यात्' पद से अपान की चेष्टा कौन करता है और प्राण्यात् पद से प्राणों का व्यापार कौन करता है इसप्रकार श्रुति के पदों का अर्थ है **विनिश्चितैः**—विशेषरूप से निश्चित किए हुए वाक्यों द्वारा अर्थात् उपक्रम और उपसंहार की एकवाक्यता करके संशय से मुक्त (निश्चित) अर्थ का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों द्वारा भी कहा गया है। इसप्रकार इन सबके द्वारा विस्तार पूर्वक कहे हुए उस तत्त्व को जिसका संग्रह करना दुष्कर है। मैं संक्षेप से तुम्हें कहूँगा उसे तुम सुनो। अथवा ब्रह्मसूत्र शब्द से 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' जो ब्रह्मसूत्र रूप से प्रसिद्ध है उसको यहाँ ग्रहण किया गया है क्योंकि जिनसे ब्रह्म का निश्चय किया जाय वे ही ब्रह्मपद है। 'ब्रह्म पद्यते निश्चीयते एभिरिति पदानि' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' [श्रुति में ईक्षण क्रिया का (ईक्ष धातु का) प्रयोग होने के कारण शब्द-प्रमाण-शून्य (वेदों में जिसका प्रमाण नहीं है ऐसा) प्रधान अर्थात् त्रिगुणात्मिका जड़ प्रकृति जगत् का कारण नहीं है] 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (श्रुति में पुनः पुनः आनन्द शब्द का ब्रह्म के लिए प्रयोग के कारण 'आनन्दमय' शब्द परम ब्रह्म का वाचक है) इत्यादि युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्र ही पद है। इसप्रकार निश्चित अर्थ युक्त सूत्ररूप पद द्वारा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का परिचय वेदादि शास्त्रों में दिया गया है, यही कहने का अभिप्राय है।

(२) **शंकरानन्द**—श्रुति, सूत्र और महर्षियों के द्वारा क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का विषय उत्तमरूप से निश्चित किया गया है। अतः जिस विषय के सम्बन्ध में भगवान् कहेंगे वह सर्वशास्त्र और उसके अर्थ को जानने वाले विद्वानों में अत्यन्त प्रसिद्ध है ऐसा

श्रीभगवान् श्रोताओं की श्रद्धा तथा आस्था (विश्वास) पूर्वक जिससे उक्त विषय में प्रवृत्ति हो उसकी सिद्धि के लिए कहते हैं **ऋषिभिः**--वशिष्ठ, पराशर आदि ऋषियों ने योगवाशिष्ठ, विष्णुपुराण आदि में क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ दोनों का स्वरूप बहुत प्रकार से गाया है (कहा है) **छन्दोभिः विविधैः पृथक्**--विविध छन्दों ने (शाखा भेद से बहुत प्रकार के ऋग् आदि वेदों ने) 'स ऐक्षत कथं न्विदं मद्दते स्यात्' अर्थात् 'उसने देखा, कैसे यह मेरे बिना होगा'। 'स वा एष पुरुषोऽत्र रसमयः' अर्थात् 'वही यह पुरुष अन्न-रसमय है'। 'अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः' अर्थात् दूसरा भीतर आत्मा प्राणमय है, 'एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्ये अर्थात् 'इस अदृश्य और अनात्म्य में' इत्यादि श्रुति–वाक्यों से क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ दोनों का स्वरूप पृथक् विभाग करके गाया है (कहा गया है)। **हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ब्रह्मसूत्रपदैः (गीतम्)**—अर्थ के विषय का प्रतिपादन करने वाली युक्तियों को 'हेतु' कहते हैं। उनसे युक्त तथा विनिश्चित अर्थात् तत्व का विशेषरूप से निश्चय करने वाले (निश्चित अर्थ वाले ब्रह्मसूत्र पदों से) ब्रह्म के सूचक को ब्रह्म सूत्र कहा जाता है वही पद है अर्थात् उनसे वस्तु तत्त्व प्राप्त किया जाता है उसको ब्रह्म सूत्र पद कहते हैं अर्थात् जन्माद्यस्य यतः (जिससे इस जगत् प्रपञ्च के जन्म स्थिति एवं संहार होते हैं इत्यादि श्रुतिवाक्य जो ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप सूचित करते हैं तथा जो उनका साक्षात् अनुभव करने में सहायक होते हैं उनको ब्रह्मसूत्रपद या वेदान्त सूत्र कहते हैं। इन सब वेदान्त सूत्रों से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों का याथात्म्य (यथार्थ स्वरूप) गाया गया है अर्थात् विवेक करके सम्यक् प्रकार से प्रकाशित किया गया है।

(३) नारायणी टीका—भगवान् कह रहे हैं कि जिस क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का स्वरूप तुमको मैं संक्षेप से कह रहा हूँ उसको ऋषि लोगों ने भी उनके प्रणीत अनेक धर्म शास्त्रों द्वारा (यथा वशिष्ठ ऋषि ने योगवाशिष्ठ में, व्यास ऋषि ने महाभारत में तथा पुराणादि में) वर्णित किये है। इसके अतिरिक्त छन्दः के अर्थात् वेदों के कर्मकाण्ड में नाना मन्त्रों के द्वारा तथा ब्राह्मणादि भागों में नाना प्रकार की क्रिया सम्बन्धित विधानों के द्वारा क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के तत्त्व का पृथक् पृथक् रूप से उल्लेख किया गया है। ब्रह्मसूत्र पदों से भी इन दोनों का यथार्थ स्वरूप वर्णित किया गया है। जो वाक्य ब्रह्म को सूचित करते हैं वे 'ब्रह्मसूत्र' हैं एवं उनके द्वारा वस्तुतत्त्व अर्थात्

ब्रह्मरूप नित्य सत्य वस्तु का तत्त्व प्रतिपादित (ज्ञात) होता है, इसलिए उनको 'पद' भी कहा जाता है ['पद्यते (वस्तुतत्त्वं ज्ञायते) एभिः इति पदम् ।] जो वाक्य ब्रह्मसूत्र हैं तथा पद भी हैं वे 'ब्रह्मसूत्रपद' हैं। इसी व्युत्पत्ति के अनुसार लोकप्रसिद्ध शारीरक सूत्र या ब्रह्मसूत्र भी 'ब्रह्मसूत्र पद' हैं क्योंकि 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि द्वारा जन्म तथा विनाशशील क्षेत्र से उसके कारण (अधिष्ठान) स्वरूप चैतन्यस्वरूप क्षेत्रज्ञ का विभाग कर प्रतिपादन किया गया है। अथवा उपनिषद् वाक्यों को भी 'ब्रह्मसूत्र पद' कहा जाता है क्योंकि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (जिससे यह सब भूतवर्ग जन्म लेते हैं) इत्यादि वाक्यों से सर्व शरीरों में सर्वात्मा क्षेत्रज्ञ ब्रह्म का तटस्थ लक्षण निरूपित कर 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि वाक्य द्वारा स्वरूप लक्षण का निर्देश किया है एवं साथ-साथ क्षेत्र माया से (कल्पनाशक्ति से) रचित हुआ है, यह भी स्पष्ट किया है। ऋषियों ने (तत्व द्रष्टाओं ने) अथवा और उपनिषदों ने क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के यथार्थ तत्त्व का केवल मन्त्र और वाक्यों से ही निर्णय नहीं किया परन्तु नाना प्रकार के हेतु से (युक्ति से) भी उसका प्रतिपादन इसप्रकार किया जिससे साधक संशय-शून्य होकर इस विषय पर विनिश्चित (विशेष रूप से निश्चित) सिद्धान्त में उपस्थित हो सके श्रुति में कहा है—'सदेव सौम्येदमग्र आसीत् कथमसतः सज्जायेत' (एक सत् ही पहले था—असत् से सत् का जन्म कैसे हो सकता—छा० उ० ६।२।१, ६।२।२)। इसप्रकार श्रोता के मन में संशय उत्थापित कर श्रुति ने प्रकरण के उपक्रम तथा उपसंहार की एकवाक्यता द्वारा उस संशय का मोचन कर क्षेत्र अर्थात् दृश्य शरीरादि जड़ जगत् मिथ्या है, एवं क्षेत्रज्ञ परमात्मा ही एकमात्र सत्य वस्तु है, यह विशेष रूप से निश्चित किया है। युक्ति तथा प्रमाणों से संशय की निवृत्ति न होने पर परमार्थ वस्तु में चित्त की निरन्तर स्थिति का सम्पादन करना सम्भव नहीं है। किन्तु भगवान् ने पहले ही कहा कि इस विषय पर जो कुछ भी ज्ञातव्य है वह संक्षेप में मुझसे सुनलो अर्थात् दूसरे शास्त्रों का अध्ययन न कर मैं जो कुछ बोल रहा हूँ उससे ही तुम क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के यथार्थ तत्त्व को जान सकोगे एवं सर्वप्रकार के संशय से मुक्त होकर सर्व क्षेत्र में विद्यमान एक अद्वितीय क्षेत्रज्ञ के साथ (अर्थात् सर्वात्मा मेरे साथ) एकत्व अनुभव कर मोक्ष प्राप्त कर सकोगे।

[क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ की तत्त्वप्रशंसा सुनकर अर्जुनको उनके स्वरूप को जानने के लिए उत्सुक देखकर अर्जुन से भगवान् कहते है—]

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेंद्रियगोचराः ॥ ५ ॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

अन्वय—महाभूतानि (पञ्च), अहंकारः, बुद्धिः, अव्यक्तं एव च, दश एकं च इन्द्रियाणि, पञ्च इन्द्रियगोचराः च, इच्छा, द्वेषः सुखं, दुःखं, संघातः, चेतना, धृतिः, च एतत् सविकारं क्षेत्रं समासेन उदाहृतम्।

अनुवाद—पञ्च महाभूत (पञ्च तन्मात्रा), अहंकार बुद्धि अव्यक्त एकादश इन्द्रियों के विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध), इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना (चिदाभासयुक्त अन्तः करण वृत्ति) और धृति (देहेन्द्रियको धारण करने की शक्ति)–यह संक्षेप में जन्मादि विकार वाले क्षेत्रों का धर्म है ऐसा कहा गया है।

भाष्यदीपिका—महाभूतानि—'महाभूत' शब्द से यहाँ पञ्च सूक्ष्मभूत (अर्थात् शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, जल तन्मात्रा एवं पृथिवी तन्मात्रा) का ग्रहण किया गया है। वे सब विकारों में व्यापक होने के कारण महान् है तथा भूत भी है इसलिये वे महाभूत कहे जाते हैं। स्थूल पञ्चभूत अर्थात् (आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथिवी 'इन्द्रियगोचर' शब्द से कहे जायेंगे ! **अहंकार**–यही जो पञ्चमहाभूत या पञ्चतन्मात्रा का कारण है एवं पञ्चमहाभूतों का कारण है एवं प्रत्यय रूप से प्रसिद्ध है उसे अहंकार कहा जाता है जो अहंकार का भी कारण है एवं अध्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धि अर्थात् जिस अन्तःकरण वृत्ति द्वारा किसी विषय के बारे में निश्चय किया जाता है उसे अहंकार कहते हैं। समष्टि भाव से इस बुद्धि को ही महतत्त्व कहा जाता हैं **अव्यक्तमेव च**–उक्त बुद्धि का भी जो कारण है वह अव्यक्त है जो कुछ व्यक्त नहीं है उसे अव्यक्त कहा जाता है इसका दूसरा नाम प्रधान या अव्याकृत

ईश्वर शक्ति है 'मम माया दुरत्यया' (गीता–७।१४) इत्यादि वचनों से यह माया भी कही गई है [अव्यक्त, सत्व, रजः, तमोमय है एवं सबका आदि कारण है किन्तु किसी का भी कार्य नहीं है (मधुसूदन)। एव शब्द प्रकृति को निश्चय करके बतलाने के लिए है अर्थात् इतनी ही अष्ट प्रकार की प्रकृति (अपराप्रकृति) है ऐसा कहने का अभिप्राय है। 'च' शब्द सारे भेद का समुच्चय करने के लिए है अर्थात् अष्ट प्रकार की प्रकृति में परस्पर का जो भेद है उसके समुच्चय का (एकत्रित कर) निर्देश करने के लिए 'च' शब्द का प्रयोग किया गया है।] **इन्द्रियाणि दशैकं च**—दश+एक=ग्यारह इन्द्रियाँ कर्ण त्वचा चक्षु रसना (जिह्वा) एवं नासिका ज्ञान यथाक्रम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्ध इन पञ्च विषयों की बुद्धि का (ज्ञान का) उत्पादन करते है। इसके लिए इनको पञ्च बुद्धि-इन्द्रियाँ या ज्ञान-इन्द्रियाँ कहते हैं। और वाक् पाणि (हस्त) पाद, पायु (मलद्वार) तथा उपस्थ (जननेन्द्रिय) ये पाँच इन्द्रियाँ वचन, आदान, गमन, मल निस्सरण तथा मूत्र त्याग एवं सन्तान उत्पादन इन पाँच कर्मों का सम्पादन करते हैं, इसलिए इनको कर्मेन्द्रिय कहते हैं। अतः ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय मिल कर दश इन्द्रियाँ होती हैं। इनके साथ संकल्प विकल्पात्मक मन युक्त होकर एकादश इन्द्रियाँ होती हैं। **पञ्च च इन्द्रियगोचराः**—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँच इन्द्रियों के विषयों द्वारा पाँच स्थूल भूतो का अर्थात् आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी का ग्रहण किया जाता है। वे सब मिलकर सांख्य मत में चौबीस तत्त्व होते हैं। इन तत्त्वों को वैशेषिक मत में आत्मा का धर्म माना जाता है किन्तु वस्तुतः वे सभी क्षेत्र के धर्म हैं, आत्मा के नहीं–यह अब भगवान् स्पष्ट करते हैं। **इच्छा**—जिस प्रकार के सुख-दायक विषय का पहले उपभोग किया हो फिर ऐसे ही पदार्थों की प्राप्ति की वासना को इच्छा कहते हैं। सुख का कारण समझ कर मनुष्य उसको प्राप्त करना चाहता है उस चाह का नाम इच्छा है। [सुख और उसके साधन में स्पृहारूपी चित्त की वृत्ति को इच्छा कहते हैं। इसको काम और राग भी कहते हैं (मधुसूदन)।] वह अन्तः-करण का धर्म है और ज्ञेय होने के कारण क्षेत्र है। **द्वेषः**—जिस प्रकार पदार्थ को दुःख के कारण रूप से पहले अनुभव किया है। उसका परिहार करने की चित्तवृत्ति को द्वेष कहते हैं अर्थात् पहले अनुभव किये हुए दुःख के कारण के प्रति मनुष्य के मन में

जो विराग की भावना होती है उसे द्वेष कहते हैं। वही ज्ञेय होने के कारण क्षेत्र ही है। [दुःख और 'उसके साधन में' 'यह मुझे प्राप्त न हो' ऐसी चित्तवृत्ति को द्वेष कहते हैं। इस प्रकार की चित्तवृत्ति इर्ष्या और क्रोध भी कही जाती है (मधुसूदन)] **सुखम्–दुःखम्**—प्रसन्नतारूपी अनुकूलात्मिका सात्त्विक वृत्ति को सुख कहते हैं। वह ज्ञेय होने के कारण क्षेत्र हैं तथा प्रतिकूलात्मक दुःख भी ज्ञेय होने के कारण क्षेत्र ही है। **संघातः**—पञ्च महाभूतों के परिणाम से देह और इन्द्रियों की जो संहति (एकत्रीकरण) होती है उसको संघात कहते हैं। **चेतना**—शरीर में प्रकाशित हुई जो अन्तःकरण की वृत्ति है एवं जो वृत्ति अग्नि से प्रज्ज्वलित लौहपिण्ड के समान आत्मचैतन्य के आभासरूप रस से व्याप्त है वह चेतना है। ज्ञेय होने के कारण वह भी क्षेत्र ही है। [जिस प्रकार अग्नि लौह पिण्ड में व्याप्त होने पर तप्त लौह पिण्ड अग्नि का धर्म ही प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार अन्तः करण आत्मचैतन्य के आभास रूप रस से व्याप्त होने पर देहेन्द्रियों का संघात वस्तुतः जड़ होने पर भी चेतन के समान प्रतीत होता है। इसलिये चिदाभासयुक्त अन्तःकरण की वृत्ति को चेतना कहते हैं। आत्मचैतन्य अन्तःकरण में प्रतिबिंबित होने पर जब जीव 'अन्तःकरण की वृत्ति भी मैं ही हूँ' इस प्रकार अभिमान करता है एवं वह चिदाभासयुक्त अन्तःकरण वृत्ति जब देहादि संघात में अभिव्यक्त होती है अर्थात् देहादि को भी चेतना से युक्त कर देती है तब उसको चेतना कहा जाता है।] मुख्य चेतन (अर्थात् चित् स्वरूप आत्मा) का ज्ञेय होने के कारण वह 'चेतना' भी क्षेत्र ही है। **धृतिः**—अवसाद प्राप्त देहेन्द्रियादि जिससे (जिस प्रयत्न से) धारण किए जाते हैं, वह धृति है। आत्मा के ज्ञेय होने से वह भी क्षेत्र ही है। अन्तःकरण के समस्त धर्मों को सूचित करने के लिए यहाँ इच्छादि धर्मों का ग्रहण किया गया है अर्थात् यहाँ इच्छादि का ग्रहण अन्तःकरण के सभी धर्मों का उपलक्षण है श्रुति भी कहती है 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' अर्थात् काम, संकल्प विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि और भय–ये सब मन ही हैं।'

जो कुछ कहा गया है उसका अब उपसंहार करते हैं एतत् क्षेत्रम् यह क्षेत्र जो दृश्य या ज्ञेय है एवं चैतन्यस्वरूप क्षेत्रज्ञ (साक्षी) से अवभासित (प्रकाशित) होता है

उसका स्वरूप **समासेन सविकारम् उदाहृतम्**—महत्तत्त्वादि विकारों सहित संक्षेप से कहा गया है अर्थात् जिन समस्त संघात (समूह) का 'इदं शरीरं क्षेत्रम्' (यह शरीर क्षेत्र है) इसप्रकार कहा गया है वह क्षेत्र महाभूतों से लेकर धृति पर्यन्त (गीता १३।५–६) भेदों से भिन्न है। [चार्वाकों का मत है कि शरीर और इन्द्रियों का संघात ही चेतन क्षेत्रज्ञ (आत्मा) है। सुगत बौद्ध कहते हैं कि चेतनारूप क्षणिक ज्ञान ही आत्मा है तथा नैयायिकों का मत है कि इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान–ये आत्मा के धर्म है। इन सब मत का निराकरण करने के लिए भगवान् कह रहे हैं कि ये सभी 'सविकारम्' अर्थात् वे सभी जन्म से लेकर नाश पर्यन्त विकारों के [अर्थात् जायते अस्ति बर्धते विपरिणमते अपक्षीयते नश्यति—इन ६ विकारों के (परिणामों के)] अधीन है, इसलिए वे निर्विकार क्षेत्रज्ञ साक्षी (अर्थात् आत्मा) नहीं हो सकते हैं दूसरी बात यह है कि वे क्षेत्रज्ञ साक्षी के दृश्य (ज्ञेय) हैं। कोई विकारशील पदार्थ अपनी उत्पत्ति और नाश का साक्षी नहीं हो सकता है, अतः यह सिद्ध होता है कि विकारित्व ही क्षेत्र का धर्म है अर्थात् जो-जो पदार्थ सविकार है (विकार सहित विद्यमान है) वे सभी क्षेत्र के अन्तर्भुक्त होने के कारण क्षेत्रज्ञ आत्मा से पृथक् ही हैं, यही 'सविकारम्' शब्द का तात्पर्य है]

टिप्पणी (१) मधुसूदन—(क) 'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरं' (श्वेता. उ. ४।९) अर्थात् माया को ही प्रकृति जानो एवं मायी को (जो मायावी अथवा माया के आश्रय तथा विषय है उसको) महेश्वर जानो।

(ख) 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (श्वेता० उ० १।३) अर्थात् उन लोगों ने ध्यान-योगानुगत होकर देव की अर्थात् स्वयंप्रकाश परमात्मा की जो आत्मशक्ति है (जिसको माया अथवा अविद्या कहते हैं) जो स्वीय सत्त्व रजः तथा तमो गुणों से निगूढ़ अर्थात् अप्रकाशित छिपी हुई है, उसे देखा था (ज्ञान का विषय बनाया था) यही निगूढ (अप्रकाशित) आत्मशक्ति ही श्रुति के मत में अव्यक्त है।

(ग) 'तदैक्षत' (छा० उ० ६।२) अर्थात् उन्होंने ईक्षण किया वही ईक्षण ही बुद्धि है।

(घ) 'बहु स्यां प्रजायेयेति (छा० उ० ६।२) अर्थात् मैं बहुत होकर जन्म ग्रहण करूंगा इत्यादि श्रुति में परमेश्वर का जो बहु होने का सकल्प है यही अहंकार है।

(ङ) 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी (तै० उ० २।१) अर्थात् उसी आत्मा से ही आकाश उत्पन्न हुआ है, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल एवं जल से पृथिवी उत्पन्न हुई इसप्रकार पञ्चमहाभूत श्रुति से प्रतिपादित हुँए है दश इन्द्रियाँ एवं मन तथा शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध ये पाँच इन्द्रियों के विषय वे सभी अपञ्चीकृत अथवा पञ्चीकृत महाभूतों के ही विकार हैं। इच्छा, द्वेष, प्रभृति सभी मन के विकार हैं (बृह० उ० १।५।३) सब भूतों में क्षेत्रज्ञ शुद्ध चैतन्य स्वरूप अविकारी आत्मा ही एकमात्र पारमार्थिक (सत्य) वस्तु है उससे भिन्न सभी कल्पित तथा विकारी होने के कारण क्षेत्र है।

(२) **श्रीधर**—अतः क्षेत्र का स्वरूप 'महाभूतानि' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा बताते हैं। **महाभूतानि अहंकारः इत्यादि**—(१) पृथिवी आदि पाँच महाभूत (२) उनका कारण अहंकार, (३) उसका कारण बुद्धि (विज्ञान स्वरूप महत्तत्त्व अर्थात् समष्टि बुद्धि) और (४) अव्यक्त (मूल प्रकृति) तथा (५) दश बाह्य इन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वचा, घ्राण, नेत्र, जिह्वा, वाणी, हाथ, पैर, गुदा और लिंग) और (६) एक मन तथा (७) पञ्चतन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, एवं गन्ध तन्मात्रा) आकाश आदि के (आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथिवी के) विशेष गुण रूप में प्रकट होते हैं एवं इन्द्रियों के (कर्ण, त्वचा, चक्षु, रसना तथा नासिका के) शब्दादि पाँच विषय होते हैं। [इसप्रकार सब मिलकर चोवीस तत्व बताये गये हैं] **इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं**—ये सर्व प्रसिद्ध हैं अर्थात् सभी प्राणी इनको अनुभव करते हैं **संघातः**—स्थूल शरीर **चेतना**—ज्ञान रूपी मन की वृत्ति एवं **धृतिः**—धैर्य **एतत् क्षेत्रम्**—ये सब इच्छादि दृश्य होने के कारण आत्मा के धर्म नहीं हैं, किन्तु मन के ही धर्म हैं इसलिए ये सब क्षेत्र के ही अन्तर्गत हैं। यहाँ 'एतत्' शब्द से संकल्प आदि का भी उपलक्षण से ग्रहण किया गया है श्रुति भी ऐसा ही कहती है 'कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव' अर्थात् कामना, संकल्प, संदेह,

श्रद्धा अश्रद्धा, धृति अधृति, लज्जा बुद्धि और भय ये सब मन ही है। इसप्रकार वर्णन कर तृतीय श्लोक में 'यादृक्' शब्द से जिन क्षेत्रधर्मों को कहने की प्रतिज्ञा की थी उनको दिखाया गया। **समासेन सविकारम् उदाहृतम्**—यह क्षेत्र सविकार है अर्थात् इन्द्रियादि विकारों के सहित विद्यमान है यही संक्षेप से मैंने तुमको कहा है। इसप्रकार क्षेत्र के सम्बन्ध में वर्णन का उपसंहार हुआ।

(३) **शंकरानन्द**—इसप्रकार क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के स्वरूप का विवेचन वेद, शास्त्र एवं उनके अर्थों के जानने वालों में प्रसिद्ध है ऐसा प्रतिपादन करने के पश्चात् उसमें प्रथम जिसके बारे में उपदेश दिया गया है उस क्षेत्र का प्रतिपादन कर रहे हैं **महाभूतानि**—'भवन्ति इति भूतानि' अर्थात् जो होते हैं वे भूत हैं अर्थात् आकाश आदि (आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथ्वी) सूक्ष्म अपंचीकृत महाभूत हैं स्थूल भूत तो पंच इन्द्रियों के विषय हैं, ऐसा कहेंगे, अतः महाभूत शब्द से यहाँ तन्मात्राओं का ही ग्रहण किया गया है। सब कार्यों में आकाशादि सूक्ष्म पंच भूतों के व्यापक रहने के कारण उसको 'महत्' कहा गया है **अहंकारः**—महाभूतों का कारण अहंकार है क्योंकि श्रुति में कहा गया है 'अहंकारात् पंच तन्मात्राणि' अर्थात् अहंकार से पंच तन्मात्राओं की सृष्टि हुई है। **बुद्धिः**—महत्तत्त्व अर्थात् अहंकार का कारण है समष्टि-बुद्धि। श्रुति भी कहती है 'महतोऽहंकारः' अर्थात् महत् से अहंकार उत्पन्न हुआ है। **अव्यक्तम्**—मूल प्रकृति जो महत् तत्व आदि के समान व्यक्त नहीं होती है इसलिए जिसको अव्यक्त (अर्थात् अव्याकृत) जगत् का बीज तथा त्रिगुणात्मिका (सत्व-रजः गुणमयी) परमेश्वर की अपरा शक्ति अर्थात् गीता ७।४ श्लोक में जिसको आठ प्रकार से भिन्न हुई अपरा प्रकृति कहा गया है एवं 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया' (गीता ७।१४) अर्थात् इस मेरी गुणमयी माया का पार पाना अत्यन्त कठिन है ऐसा कहकर जिसको भगवान ने अपनी माया रूप से वर्णित किया है, उसी को यहाँ 'अव्यक्त' शब्द से सूचित किया गया है **एवं च**—उस आठ प्रकार से भिन्न अपरा प्रकृति के स्वरूप का अवधारण करने के लिए अर्थात् निश्चय करने के लिये 'एव' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'च' शब्द सबके समुच्चय के लिये हैं अर्थात् महाभूतादि से लेकर छठवें श्लोक तक जिन-जिन पदार्थों का उल्लेख किया गया है वे सब ही एकत्रित होकर क्षेत्र शब्द के

अन्तर्गत है यह सूचित करने के लिये 'च' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'इन्द्रियाणि दशैकं च पंच चेन्द्रियगोचराः'—अव्यक्त ही क्षेत्र का स्वाभाविक रूप है। (इसलिए इसको अव्याकृत रूपिणी मूल प्रकृति कहते हैं।) दस इन्द्रियाँ चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वचा ये पंच ज्ञान इन्द्रियाँ वाक् पाणि पाद पायु (मल द्वार) उपस्थ (जननेन्द्रिय ये पंच कर्म-इन्द्रियाँ अर्थात् ये दस बहिरिन्द्रिय तथा एक अन्तरिन्द्रिय तथा पंच इन्द्रियों पंच अर्थात् शब्द, स्पर्श रूप रस एवं गन्ध ये सब मिलकर सोलह विकार (विकृति) हैं महत्तत्त्व अहंकार तथा पञ्च महाभूत ये सात प्रकृति विकृति हैं इसप्रकार कुल मिलाकर सांख्यवादी के चौबीस तत्व होते हैं पुरुष न तो प्रकृति और न तो विकृति ही है इसलिये सांख्यकारिका में कहा है 'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः'। तीसरे श्लोक में यादृक् च इससे उक्त विशेषण स्पष्ट करते हैं। इच्छा राग अर्थात् विषय में प्रीति अर्थात् भोग्य पदार्थों की प्राप्ति के लिए वासना द्वेष किसी वस्तु के प्रति अप्रीति 'इच्छा द्वेष' शब्द सत्व गुण से उत्पन्न शम, दम, दया शान्ति आदि के और तमोगुण से उत्पन्न निद्रा आलस्य एवं मोह आदि के उपलक्षण हैं। राजसिक, सात्विक और तामसिक सभी इच्छा द्वेष आदि क्षेत्र के अन्तर्गत अन्तःकरण के धर्म हैं। अतः इनसे और जन्मादि से क्षेत्र स्वयं धर्मी होता है एवं इच्छा द्वेष आदि से प्रेरित होकर क्षेत्र पुण्य तथा अपुण्य का हेतु होकर स्वयं कर्मी होता है। इच्छा आदि एवं पुण्यादि कर्म क्षेत्र के धर्म है क्योंकि ज्ञेय होने के कारण उनमें क्षेत्रत्व ही है। **सुखम् दुःखम्**—इष्ट वस्तु के सांनिध्य से जो सुख तथा अनिष्ट वस्तु के सांनिध्य से जो दुःख प्रतीत होते हैं वे अन्तःकरण के परिणामविशेष हैं, अतः वे भी क्षेत्र के धर्म हैं न कि आत्मा के क्योंकि वे 'यह राग है, यह द्वेष है यह सुख है, यह दुःख है' ऐसे ज्ञात होते हैं अर्थात् वे सब ज्ञेय हैं। यदि सुख, दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म आदि आत्मा के धर्म हो तो उनका ज्ञेयत्व सम्भव नहीं है अर्थात् "मैं सुख दुःख इत्यादि अनुभव कर रहा हूँ" इसप्रकार बोध नहीं हो सकता था। अतः यह सिद्ध होता है कि सुख दुःख इच्छादि धर्म जाने जाते हैं अर्थात् घट के समान ज्ञेय है, अतः वे रूप के समान अनात्मा के (क्षेत्र के) ही धर्म हैं यद्यपि तार्किकों ने सुख दुःख आदि को आत्मा का धर्म माना है तो भी वे अन्तःकरण रूप आत्मा के ही

धर्म हैं, प्रत्यक् चैतन्य स्वरूप आत्मा के नहीं। निरवयव तथा सावयव दोनों का संयोग और समवाय से अन्य सम्बन्ध के सम्भव न होने से तथा दोनों के अयुत सिद्ध न होने के कारण आत्मा गुणी नहीं हो सकता है क्योंकि श्रुति में आत्मा को 'केवल' और निर्गुण ['केवलो निर्गुणश्च' कहा गया गया है। आत्मा क्रियावान् भी नहीं है क्योंकि श्रुति आत्मा को निष्कल निष्क्रिय भी कहती है। जो निष्कल है अर्थात् जिसकी कला (अंश) नहीं है वह अवयवी भी नहीं है फिर आत्मा असंग होने के कारण किसी से भी संयोग और समवाय सम्बन्ध युक्त नहीं हो सकता। यदि इच्छा द्वेषादि आत्मा के धर्म होते तो वे नित्य होते और चेतन के समान सर्वदा उपलभ्यमान होते परन्तु वे ऐसे नहीं हैं, इसकारण राग द्वेष सुख दुःख आदि धर्म वाला और जन्म जरादि धर्म वाला क्षेत्र ही है यह सिद्ध हुआ। इसलिये भगवान् ने भी इच्छा द्वेष, सुख दुःख क्षेत्र के अन्तर्गत ही हैं ऐसा प्रतिपादित किया है]। **संघातः**—हस्त पाद इत्यादि का संघात रूप (समष्टि रूप) देह भी क्षेत्र ही है। **चेतना**—जिस प्रकार तप्त हुए लोहे के पिण्ड में अग्नि है ऐसे ही बुद्धि में जो आत्म चैतन्य का बुद्धिवृत्तिविशिष्ट आभास है एवं जो शब्दादि विषयों का प्रकाशक है उसे ही चेतना कहा गया है। वह भी बुद्धि के सहित साक्षी चैतन्य के विषय रूप से ज्ञेय होने के कारण तथा उसके ज्ञेयत्व भाव से भावित होने के कारण क्षेत्र ही है **धृतिः**—धैर्य रूप बुद्धि की वृत्ति वह भी ज्ञेय होने से क्षेत्र ही है। धृतिशब्द काम संकल्प विचिकित्सा आदि का तथा अहंकार ममकार आदि सब प्रत्ययों का उपलक्षण है अर्थात् धृति शब्द से उन सबको भी सूचित किया गया है। इससे यह प्रतिपादित हुआ है कि जो जो आत्मा के लिए ज्ञेय है वह सब क्षेत्र ही है। सविकारम् **एतत् क्षेत्रम् समासेन समुदाहृतम्**—महत् आदि (महत् तत्व बुद्धि अहंकार इत्यादि) तथा शब्दादि (शब्द, स्पर्श, रूप इत्यादि) विकारों के साथ जो रहता है वह सविकार (विकारशील) है। विकार और धर्म से युक्त जो क्षेत्र है अतः जो ज्ञेय है उसका समास से (संक्षेप) सम्यक् प्रकार से (भली भाँति) निरूपण किया गया है।

(३) **नारायणी टीका**—क्षेत्र किसको कहा जाता है वह कह रहे है—

५ महाभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी) + अहंकार + बुद्धि + १० इन्द्रियाँ (अर्थात् ५ कर्मेन्द्रियाँ एवं ५ ज्ञानेन्द्रियाँ) + मन + ५ इन्द्रियों के विषय

(शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) + इच्छा + द्वेष + सुख + दुःख + संघात + चेतना + धृति—इन ३१ पदार्थों की समष्टि को क्षेत्र कहा जाता है।

इनमें से सूक्ष्म से स्थूल परिणाम होने का क्रम इस प्रकार है—

(१) **अव्यक्त**—ब्रह्म की अनिर्वचनीय माया शक्ति को अव्यक्त कहते हैं अर्थात् सृष्टि की पूर्वावस्था में जो ब्रह्म के साथ एक होकर रहती है, जो सब सृष्टि का मूल कारण (बीज) है जिसमें सत्त्व, रजः, तमः—ये तीन गुण साम्यावस्था में रहते हैं उसका नाम अव्यक्त है। इससे प्रकृष्ट रूप से कर्म (जगत् की सृष्टि-स्थिति-प्रलय रूप कार्य) होते हैं। इसलिए उसका नाम प्रकृति भी है इसे अव्यक्त-प्रकृति, प्रधान-प्रकृति अथवा मूल प्रकृति भी कहते हैं। यह बीजावस्था किसी इन्द्रिय का विषय नहीं होती, इसलिए भी इसे अव्यक्त कहते हैं। वह अचेतन जड़ है। चेतन आत्मा के सान्निध्य से यह (अग्नि में लौह पिण्ड के सदृश) चेतन का धर्म प्राप्त होता है। वह परब्रह्म की ही अनिर्वचनीय शक्ति है। वह चैतन्यस्वरूप परब्रह्म चेतन से चेतनावती (चेतनाशील) होकर विश्व की सृष्टि करती है एवं अपने धर्म को (इच्छा, द्वेषादि धर्म को) चेतन में आरोपित कर जो आत्मा निर्गुण है उसको गुणवान्, जो रूपहीन है उसको रूपवान्, जो स्वरूप में ज्ञान तथा आनन्द स्वरूप एवं नित्यमुक्त है उसको अज्ञानी तथा सुखी-दुःखी कर रही है एवं संसार बन्धन में बद्ध कर देती है, ऐसा प्रतीत होता है। इसके लिये इसे अघटनघटनपटीयसी माया भी कहते हैं। जिसप्रकार मणि का प्रकाश मणि से अभिन्न रहता है उसी प्रकार अखण्ड अद्वितीय परमब्रह्म में संकल्परूपिणी स्पन्दनात्मिका अनिर्वचनीया शक्ति स्वभावतः ही अविच्छिन्न रहती है। अतः प्रकृति (माया या अव्यक्त) परमात्मा से भिन्न नहीं है किन्तु माया कोई वस्तु होने के कारण परमात्मा प्रकृति से विलक्षण है। वह सब शरीर में (क्षेत्र में) समरूप से रहता है एवं शरीरादि क्षेत्र के धर्म या कर्म से अपने स्वरूप से कभी च्युत नहीं होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृति (जिसके कार्य को क्षेत्र कहा जाता है वह) स्वभावतः अचेतन है किन्तु आत्मा को अधिष्ठान करके सचेतन होकर सृष्टि-स्थिति-प्रलय कार्य सम्पादन करती है एवं सृष्टि आदि कार्य का कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि को निष्क्रिय निर्गुण क्षेत्रज्ञ आत्मा में आरोपित करती है। यहि अव्यक्त प्रकृति का स्वभाव है।

(२) **बुद्धि**—अव्यक्त प्रकृति का पहिला विकार है बुद्धि अर्थात् समष्टि बुद्धि या महत्तत्व। बुद्धि या महत्तत्व अव्यक्त का सात्विक भाव (अर्थात् प्रकृति का सात्विक प्रकाश है। इसको शास्त्र में महामन (Super mind) भी कहा है।

गुणक्षोभे जायमाने महान् प्रादुर्बभूव ह।
मनो महच्च विज्ञेयम् एकं तद् वृत्तिभेदतः॥

अर्थात् गुण का क्षोभ होने पर पहले महान् (महत्तत्व) प्रादुर्भूत होता है। यद्यपि उसमें वृत्ति का भेद होता है तथापि वह एक है एवं उसे **महामन** कहा जाता है। अव्यक्त प्रकृति सुषुप्ति अवस्था के समान है। वह जब व्यक्तावस्था में प्रकट होती है तब स्वप्न दृश्य के समान जगत् प्रपञ्च की सूक्ष्म रेखा अंकित करती है एवं बुद्धि, महत्तत्व, महामन, ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ, समष्टि जीव या समष्टि सूक्ष्म शरीर इत्यादि नाम से अभिहित होती है। वेदान्त मत में इसको अज्ञान का आदि प्रकाश कहते हैं।

(३) **अहंकार**—महत्तत्व का द्वितीय परिणाम (विकार) अहंकार है। ब्रह्म स्वरूप आत्मा अद्वितीय है, अतः उसमें अन्य किसी वस्तु का स्थान नहीं है अर्थात् शुद्धचैतन्यस्वरूप अद्वितीय सत्ता में स्थित रहना ही इसका स्वभाव है किन्तु जब इसमें आश्रित अनिर्वचनीय मायाशक्ति (कल्पनाशक्ति) में स्पन्दन (कम्पन) उपस्थित होता है तब सत्त्व-रजः-तमः की सृष्टि होती है एवं माया के सृष्टि-कार्य शुरू होते हैं। [माया कल्पनात्मिका होने के कारण कोई वस्तु नहीं है अतः उसको स्वीकार करने से ब्रह्म-स्वरूप आत्मा के अद्वितीयत्व की हानि नहीं होती है]। सृष्टि के प्रारम्भ में महत्तत्व (समष्टि-बुद्धि अर्थात् अज्ञान) के प्रकट होने के साथ-साथ बुद्धिरूप उपाधि युक्त जीवात्मा अपने यथार्थ स्वरूप को भूलकर 'मैं अन्य कुछ हूँ" इसप्रकार मान लेता है और यही इसके संसार चक्र में भ्रमण का कारण होता है। पहिले ही कहा गया है कि महत्तत्त्व के उदय होने के साथ-साथ ही जगत् प्रपञ्च की सूक्ष्म रूप रेखा तैयार हो जाती है और उससे काल्पनिक सूक्ष्म देहादि में 'मैं', 'मेरा' अभिमान करने पर अहंकार की उत्पत्ति होती है। जैसे विजली से प्रकाश (Electric light) नहीं मिलता है और न तो केवल Bulb से प्रकाश मिलता है किन्तु दोनों के संयोग से प्रकाश मिलता है। अतः उनका परस्पर संयोग ही प्रकाश का कारण है। ऐसे ही आत्मा में अहंकार

नहीं है और न तो प्रकृति में। प्रकृति से (कल्पनात्मिका अव्यक्त रूप माया से) उत्पन्न हुई किसी दृश्य वस्तु में (जिसे यहाँ क्षेत्र कहा गया उसमें) जब क्षेत्रज्ञ (अर्थात् द्रष्टा या विज्ञाता) होकर भी आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर 'मैं' और 'मेरा' इस भावना से संयुक्त होता है तभी अहंकार की उत्पत्ति होती है। अतः गुणमयी जड़ प्रकृति के साथ चैतन्य आत्मा का संयोग (अभिमान या तादात्म्य बोध) ही अहंकार है। वस्तुतः अहंकार का ही जन्म मरण-बन्धन मोक्ष कारण होते हैं। अज्ञान के कारण वे आत्मा में उपचरित होते हैं।

पञ्चमहाभूत तथा एकादश इन्द्रियाँ—ये सब अहंकार के विकार हैं। अहंकार के तमोगुण से शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा एवं गन्धतन्मात्रा—इन सूक्ष्म पञ्च तन्मात्राओं की सृष्टि होती है। वेदान्ती लोग इनको ही अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूत कहते हैं। पृथ्वी, जल इत्यादि पञ्च स्थूल भूतों की अति सूक्ष्म परमाणु अवस्था को तन्मात्रा कहते हैं। शास्त्र में कहा है—'तस्मिंस्तस्मिंस्तु तन्मात्रे ते एव तन्मात्रतास्मृताः।' अर्थात् किसी वस्तु की मूल अवस्था में जब केवल वही रहता है—किसी भी विशेषण से वह युक्त नहीं होता है, वह सूक्ष्म परमाणु अवस्था ही तन्मात्रा है (तत् = वह, मात्र = केवल, अर्थात् केवल वही है और उसके साथ कुछ भी मिश्रित नहीं है वह 'तन्मात्र' है)। शब्दादि तन्मात्राएँ स्थूल होकर आकाश, वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी (क्षिति) आदि स्थूल पञ्चभूतों का रूप धारण करती हैं। इसके पश्चात् आकाशादि के गुण के रूप से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पञ्च स्थूल विषय (जो यथाक्रम कर्ण, त्वचा, चक्षु, रसना तथा नासिका इन ज्ञानेन्द्रियों से ग्रहण योग्य होते हैं अर्थात् (पञ्च तन्मात्रा की विशेष अवस्था) उत्पन्न होते हैं। अहंकार तीन भागों में विभक्त है—सात्विक, राजसिक, व तामसिक अहंकार। तमोगुण से पञ्च तन्मात्रा, पञ्च महाभूत (पञ्चीकृत महाभूत) एवं पञ्च विषय उत्पन्न होते हैं। अहंकार के रजोगुण से दश इन्द्रियाँ [कर्ण, त्वचा, चक्षु, रसना तथा नासिका—ये पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ और नाक, पाणि, पाद, पायु (मलद्वार) एवं उपस्थ (जननेन्द्रिय)—ये पञ्च कर्मेन्द्रिय] उत्पन्न हुये हैं। सात्विक अहंकार से देवता तथा मन की सृष्टि हुई। दश इन्द्रियाँ एवं मन—ये मिलकर एकादश इन्द्रियाँ हैं। ये सभी प्रकृति के कार्य हैं। अगस्त्य मुनि कहते हैं—

सृष्टेः प्रागेक एवासीत् निर्विकल्पोऽनुपाधिकः ।
त्वदाश्रया तद्विषया माया ते शक्तिरुच्यते ॥
त्वामेव निर्गुणं शक्तिरावृणोति यदा तदा ।
अव्याकृतमिति प्राहुर्वेदान्तपरिनिष्ठिताः ॥
मूलप्रकृतिरित्येके प्राहुर्मायेति केचन ।
अविद्या संसृतिर्बंध इत्यादि बहुधोच्यते ॥

'हे परमात्मन् राम ! सृष्टि के पहिले केवल निर्विकल्प तथा सर्वोपाधि-विवर्जित तुम ही थे, जगत् प्रपञ्च कुछ भी नहीं था। तुम जिसका आश्रय हो और विषय भी हो अर्थात् तुमको आश्रय कर जो तुमको ही अनन्त लीला दिखा रही है वही तुम्हारी माया या शक्ति कही जाती है। तुम स्वरूपतः निर्गुण हो। तुम्हारी माया शक्ति जब तुमको आवरण युक्त कर देती है तब वेदान्ती उसे अव्याकृत कहते हैं, कोई तो उसे माया कोई अविद्या कोई संसारबन्ध कहते हैं। इस प्रकार बहुनाम से माया को ज्ञानी लोगों ने अभिहित किया है।

योगवाशिष्ठ में भी कहा है—

चराचरं जगत् कृतस्नं देहबुद्धीन्द्रियादिकम् ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं दृश्यते श्रूयते च यत् ॥
सैषा प्रकृतिरित्युक्ता सैव मायेति कीर्तिता ।
सर्गस्थितिविनाशानां जगद् वृक्षस्य कारणम् ॥
लोहितश्वेतकृष्णादि प्रजाः सृजति सर्वदा ।
कामक्रोधादि पुत्राद्यान् हिंसातृष्णादिकन्यकाः ॥
मोहयत्यनिशं देवमात्मानं स्वगुणैर्विभुम् ।
कर्तृत्वभोक्तृत्वमुखान् स्वगुणानात्मनीश्वरे ॥
आरोप्य स्ववशं कृत्वा तेन क्रीडति सर्वदा ॥

अर्थात् चराचर जगत् एवं देह, बुद्धि, इन्द्रियादि तथा ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त जो कुछ देखा या सुना जाता है वह सब प्रकृति है और उसे ही माया कहते हैं। यह प्रकृति (माया) ही जगत् रूप वृक्ष की सृष्टि-स्थिति विनाश का कारण है। यह

माया ही सर्वदा सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भेद से नाना प्रकार की प्रजा की सृष्टि कर रही है एवं कामक्रोधादि पुत्र द्वारा तथा हिंसा-तृष्णा आदि कन्या द्वारा दिन रात सर्वव्यापी स्वयंप्रकाश आत्मा को अपने गुणों से मोहित कर रही है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व, आदि प्रकृति (माया) के ही धर्म हैं किन्तु परमेश्वरस्वरूप आत्मा में उन कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि का आरोप कर आत्मा को वशीभूत करके आत्मा के साथ क्रीडा (लीला) कर रही है। प्रकृति के सब कार्य को ही क्षेत्र कहा गया है और क्षेत्रज्ञ तो चैतन्यस्वरूप आत्मा ही है। प्रकृति (क्षेत्र) और क्षेत्रज्ञ आत्मा का संयोग ही संसार नाटक का मूल कारण है। इस संयोग का अभाव होने पर अर्थात् क्षेत्रज्ञ जब क्षेत्र से पृथक् होकर अपने स्वरूप में स्थित होता है, तब ही इस नाटक का अन्त होता है एवं संसारचक्र से मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इसलिये ही क्षेत्र का विशेष परिचय भगवान् ने दिया। संक्षेप से अव्यक्त बुद्धि (महत्तत्व), अहंकार, पंचतन्मात्रा (ये अष्ट प्रकृति), दशेन्द्रिय, मन एवं शब्दादि पंच विषय अर्थात् कुल २४ तत्त्व क्षेत्र हैं। अब क्षेत्र के धर्मों का विवरण दे रहे हैं।

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना, धृति—इच्छा, द्वेष आदि ब्रह्मस्वरूप आत्मा के धर्म नहीं है क्योंकि आत्मा सच्चिदानंद, पूर्ण एवं अनन्तस्वरूप हैं— ये प्रकृति के भी धर्म नहीं है क्योंकि प्रकृति जड़ है। प्रकृति और पुरुष का संयोग होने पर अर्थात् काल, अदृष्ट तथा सत्त्वादि गुणों से उत्पन्न हुए जड़ देह में (क्षेत्र में) 'यह मैं हूँ' इस प्रकार जब आत्मा अज्ञानरूपा आत्ममाया को आश्रयकर अभिमान करता है तब मन (अन्तःकरण) भी चेतन के समान कार्य करता है एवं उसका धर्म इच्छा, द्वेष आदि को आत्मा में आरोपित करता है। अतः आत्मा भी इच्छा द्वेषादि धर्मविशिष्ट होकर सात्विक, राजसिक, तामसिक कर्म करता हुआ उत्तम, मध्यम तथा अधम गति प्राप्त हो रहा है, ऐसा अज्ञानी की दृष्टि में प्रतीत होता है। वस्तुतः ये सब क्षेत्र के धर्म हैं। **इच्छा द्वेष**—सभी प्राणी सुख के लिये इच्छा करते हैं। इन्द्रिय के विषयों के साथ संयोग होने पर यदि सुख उत्पन्न हो तो पुनः तज्जातीय विषय की प्राप्ति के लिये स्वतः ही प्रवृत्ति होती है। उसे इच्छा या राग कहते हैं। और यदि दुःख उत्पन्न हो तो उसका परिहार करने के लिये जो प्रवृत्ति होती है उसे द्वेष कहते हैं।

सुख दुःख—कोई अनुकूल वस्तु प्राप्त होने पर चित्त प्रसन्न होने के कारण जिस सात्त्विक वृत्ति विशेष का उदय होता है वह सुख है और उसके विपरीत (अर्थात् प्राप्त वस्तु प्रतिकूल) होने पर अप्रसन्न चित्त में जिस वृत्तिविशेष का उदय होता है, वह दुःख है। **संघात और चेतना**—देह, इन्द्रिय आदि की संहति को (एकत्रीभूत पिण्ड को) संघात कहते हैं। उसमें अभिव्यक्त अन्तःकरण वृत्ति को [अर्थात् देहेन्द्रियादि के मिलित शरीर रूप पिण्ड में 'मैं यह हूँ' इस प्रकार अभिमानात्मक जो अन्तःकरण-वृत्तिविशेष उत्पन्न होता है उसे] चेतन कहते हैं। चित्स्वरूप आत्मा के आभास से (अभिमान से) ही जड़ अन्तःकरण तथा देह रूप संघात चेतन होते हैं जैसे लौह-पिण्ड को अग्नि में रखने पर वह अग्नि धर्म प्राप्त होता है। अतः चिदाभास युक्त अन्तःकरण-वृत्ति को चेतन कहते हैं। संघात तथा चेतना भी मुख्य चैतन्यस्वरूप आत्मा का ज्ञेय है। अतः वे क्षेत्र का ही धर्म हैं। **धृति**—देह तथा इन्द्रियाँ अवसाद-ग्रस्त होने पर जिस प्रयत्न द्वारा उनको स्थिर रखा जा सकता है उस प्रयत्न को धृति कहा जाता है। **सविकारम्**—विकार सहित वर्तमान। इच्छा द्वेष से लेकर धृति पर्यन्त सभी मन के अर्थात् क्षेत्र के धर्म है। यह बृहदारण्यक श्रुति के (१।५।३) 'कामः संकल्पो विचिकित्सा' इत्यादि मन्त्र से स्पष्ट किया गया है। ये सब क्षेत्रधर्म सदा ही विकारी (परिणामशील) हैं। विकाररहित, गुणातीत, एक, अद्वितीय, नित्य सत्य मुक्त केवल आनन्दस्वरूप आत्मा से क्षेत्र पूर्णतया विलक्षण (पृथक्) है, यह स्पष्ट करने के लिये ही भगवान् ने 'सविकारम्' शब्द का विशेष रूप से उल्लेख किया।

समासेन उदाहृतम्—जो नित्य विकारी (परिणामशील) है वह मिथ्या है अर्थात् उसकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है क्योंकि वह कल्पना से ही प्रतीत होता है। उसके सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा जाय वह भी काल्पनिक होने के कारण कोई वास्तविक तत्त्व नहीं है। अज्ञानी की क्षेत्र में सत्यत्व बुद्धि रहने के कारण उसका निराकरण करने के लिये काल्पनिक तत्त्वों का वर्णन कर काल्पनिक क्षेत्र के अवस्तुत्व (मिथ्यात्व) का प्रतिपादन करना आवश्यक होता है। मिथ्या वस्तु के विस्तृत विवरण का कोई प्रयोजन नहीं है, ऐसा सोचकर सांख्यशास्त्रादि में पराप्रकृति अर्थात् क्षेत्र के सम्बन्ध में जैसा कहा गया उसको उद्धृत कर भगवान् ने संक्षेप से क्षेत्र के स्वरूप का यहाँ वर्णन किया।

[पूर्वोक्त श्लोक में क्षेत्र के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। उस क्षेत्र के साक्षीरूप से जो सदा ही विद्यमान है उस क्षेत्रज्ञ को तथा उसके प्रभाव को जान लेने से मनुष्य अमृतत्व प्राप्त होता है अर्थात् मृत्यु से रहित मोक्षपद प्राप्त कर लेता है। इसी को भगवान् स्वयं आगे चलकर 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि' (गीता १३।१२) इत्यादि वचनों से विशेषणों के साथ कहेंगे। ज्ञेय अर्थात् जानने के योग्य वस्तु एकमात्र क्षेत्रज्ञ ही है। इसलिए अब उस क्षेत्रज्ञ के जानने के उपाय रूप जो अमानित्व आदि साधन समुदाय है, जिन साधनों से सम्पन्न होने पर उस ज्ञेय क्षेत्रज्ञ को जानने के लिये मनुष्य योग्य अधिकारी बन जाता है, जिन साधनों के अनुष्ठान में निरन्तर रत हुआ संन्यासी ज्ञाननिष्ठ कहा जाता है और जो तत्वज्ञान के साधन होने के कारण 'ज्ञान' नाम से अवहित होते हैं, उन अमानित्वादि गुण समूहों का भगवान् विधान करते हैं-]

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अन्वय—अमानित्वम्, अदम्भित्वम्, अहिंसा, क्षान्तिः, आर्जवम्, आचार्योपासनम्, शौचम्, स्थैर्यम्, आत्मविनिग्रहः, इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्, अनहंकार एव च, जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्, असक्तिः, पुत्रदारगृहादिषु अनभिष्वङ्गः च,

इष्ट-अनिष्ट उपपत्तिषु नित्यं समचित्तत्वम्, मयि च अनन्ययोगेन अव्यभिचारिणी भक्तिः, विविक्तदेशसेवित्वम्, जनसंसदि अरतिः, अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं, तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्, एतत् ज्ञानम् इति प्रोक्तम्, यत् अतः अन्यथा तत् अज्ञानम् ।

अनुवाद—निरभिमानता, दम्भहीनता, अहिंसा, क्षमा, आर्जव, आचार्य की उपासना, शौच, स्थिरता और आत्मनिग्रह ॥ ७ ॥, इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य, अहंकार का सर्वथा अभाव तथा जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि के दुःखरूप दोषों को देखना ॥ ८ ॥, पुत्र, स्त्री और गृह आदि में प्रीति न होना, उनमें अभिनिवेश का अभाव होना, तथा इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति होने पर सर्वदा समचित्त रहना ॥ ९ ॥, मेरे में अनन्यभाव से अविचल भक्ति होना, शुद्ध देश का सेवन करना और जनसमूह में रति (राग) न होना ॥ १० ॥, अध्यात्मज्ञान में निष्ठा होना और तत्वज्ञान के प्रयोजन का विचार करना-इन सभी को 'ज्ञान' कहा जाता है, इससे जो भिन्न है वह अज्ञान है ॥ ११ ॥

भाष्यदीपिका—अमानित्वम्—अपना बड़प्पन प्रगट करना मानित्व है, उसका अभाव (अभिमानशून्यता) अमानित्व हैं [अपने में जो गुण हो अथवा यदि न भी हो तो भी वह है ऐसा मानकर उसके कारण अपनी प्रशंसा मानित्व (मानीपन) है। उसका अभाव अमानित्व है-(मधुसूदन) ।]

अदम्भित्वम्—लाभ, पूजा या ख्याती के लिये अपने धर्मों को प्रगट करना अर्थात् 'मैं धार्मिक हूँ' इसप्रकार दूसरे के निकट प्रचार करना दम्भित्व (दम्भीपन) है, उसका अभाव अदम्भित्व कहलाता है। **अहिंसा**—शरीर, मन तथा वाणी से दूसरे प्राणियों को हिंसा (पीड़ित) न करना अर्थात् कष्ट न देना अहिंसा है। **क्षान्तिः**—क्षमा अर्थात् दूसरों का अपने प्रति अपराध देखकर भी विकार से रहित होकर (निर्विकार चित्त से) उस अपराध को सह लेना क्षान्ति है। **आर्जवम्**—सरलता (अकुटिलता) [अपने हृदय के भावानुसार व्यवहार करना अर्थात् दूसरों को धोखा न देना आर्जव है। **आचार्योपासनम्**—जो मोक्ष के साधनों का उपदेश करते हैं वे आचार्य हैं [मनुजी के बताये हुए उपनयन संस्कार करके वेदादि शास्त्रों को पढ़ाने वाले

आचार्य की बात यहाँ नहीं कही गयी है—(मधुसूदन)] शुश्रूषा और नमस्कारादि के द्वारा आचार्य की सेवा करने को आचार्योपासन कहते हैं। **शौचम्**—शारीरिक मलों को मिट्टी, जल आदि से साफ करना और अन्तःकरण के राग, द्वेषादि मलों को प्रतिपक्ष भावना (विषयों के दोष दर्शन रूप भावना) द्वारा दूर करना शौच है।

स्थैर्यम्—स्थिरभाव [मोक्ष साधन में प्रवृत्त हुए पुरुष का अनेक प्रकार के विघ्न प्राप्त होने पर भी उन्हें मोक्ष मार्ग के साधन को न त्यागते हुए उसमें ही दृढता पूर्वक स्थित रहकर पुनः पुनः विशेष प्रयत्न करना स्थैर्य है—मधुसूदन] मोक्ष मार्ग में ही निश्चित निष्ठा कर लेना स्थैर्य हैं (शंकर)। **आत्मविनिग्रहः**—यहाँ आत्मा शब्द से आत्मा का उपकार वाला और (अज्ञानी से) आत्मा शब्द से कहे जाने वाला जो कार्य कारण के संघात रूप (देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण की समष्टिरूप) यह शरीर है, उसे सूचित किया गया है। इस शरीर को स्वाभाविक प्रवृत्ति से हटाकर (मोक्ष मार्गों के प्रतिकूल विषय—प्रवृत्ति को रोक कर) उसे सन्मार्ग में (मोक्ष के साधनों में) ही नियुक्त रखना (लगाना) आत्मविनिग्रह है।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्—इन्द्रियों के अर्थ में अर्थात् भोग्य शब्दादि विषयोंमें (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पंच विषयों में) वैराग्य (स्पृहाशून्यता) अर्थात् दृष्ट (ऐहिक) और अदृष्ट (पारलौकिक) भोगों में वैराग्यभाव (आसक्ति का अभाव)। [विषयों में दोषदर्शन तथा उनका मिथ्यात्व निश्चय होने से ही उनके प्रति वैराग्य (अनासक्ति) होना सम्भव है, अन्यथा नहीं]।

अनहंकार एव च—और अहंकार का अभाव [आत्मश्लाघा न रहने पर भी अर्थात् दूसरे से अपनी प्रशंसा न कराने पर भी 'मैं सबसे श्रेष्ठ हूँ' ऐसा मनमें उत्पन्न हुआ गर्व अहंकार है—उसका अभाव अनहंकार है 'एव' शब्द असम्बन्ध का निषेध करने के लिए है तथा च शब्द समुच्चय के लिये है अर्थात् 'एवं च' इस पद का तात्पर्य यह है कि अमानित्वादि बीस गुणों से युक्त (मिला) हुआ योग ही 'ज्ञान' कहा गया है। इनमें से एक का भी अभाव होने पर उसे ज्ञान नहीं कहा जायगा—(मधुसूदन)।]

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्—तथा जन्म, मृत्यु, जरा, रोग और दुःख में अर्थात् जरा से लेकर दुःख पर्यन्त प्रत्येक में पृथक्-पृथक् दोष को देखना। जन्म में गर्भवास एवं योनि द्वारा बाहर निकलनारूप जो दोष है उसको देखना अर्थात् उस विषय पर विचार करना जन्मों में दोष दर्शन है। ऐसे ही मृत्यु में समस्त मर्मस्थानों के छेदन रूप दोष का दर्शन मृत्यु का दोषदर्शन है एवं बुढ़ापा में (जरा अवस्था में) प्रज्ञा, (बुद्धि) शक्ति (दैहिक तथा मानसिक शक्ति) और तेज का निरोध (क्षय) और तिरस्कार (दूसरों से पराभव—दूसरों से पराजित होना) इत्यादि दोष देखना जरा (बुढ़ापा) के दोषदर्शन हैं तथा शिरपीड़ादि, ज्वर, अतिसार प्रभृति रोग व्याधियों में दोषों का देखना व्याधि के दोष-दर्शन हैं। अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव के निमित्त से होनेवाले तीनों प्रकार के दुःखों में दोषों को देखना [अथवा आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक निमित्त के कारण जो इष्ट के वियोग तथा अनिष्ट के संयोग से दुःख उत्पन्न होते हैं, उनसे होनेवाले दोषों को देखना (पुनः पुनः विचार करना)] दुःख के दोषदर्शन है। [अथवा जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त सबके दोष का विचार करना अथवा जन्म से लेकर व्याधि पर्यन्त सब में दुःखरूप दोष है, ऐसा विचार करना। इसप्रकार दोष दर्शनविषय में वैराग्य का कारण होने से आत्म-दर्शन का उपकार करता है अर्थात् आत्मदर्शन (तत्त्वज्ञान) का साधन (सहायक) होता है, इसलिए इसे ज्ञान कहा गया है—(मधुसूदन)।]

कहने का अभिप्राय यह है कि दुःख ही दोष है। इस दुःख रूप दोष को पहिले कहे गए जन्मादि में देखना अर्थात् जन्म लेना दुःख है, मरना दुःख है, बुढ़ापा दुःख है और सब व्याधियाँ (रोग) दुःख हैं, इस प्रकार देखने को जन्मादि में दुःखरूप दोष का अनुदर्शन (पुनः पुनः विचार) कहा जाता है। परन्तु यह स्मरण रखना उचित है कि ये जन्मादि दुःख के कारण होने से ही दुःख हैं—स्वरूप से दुःख नहीं हैं अर्थात् देह में आत्मबुद्धि जब तक रहती है तब तक ही जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि आदि दुःख के कारण होते हैं। आत्मा देह से पृथक् है, इसप्रकार तत्त्वज्ञान होने के पश्चात् जन्मादि फिर दुःख देने में समर्थ नहीं होते हैं। अतः वे स्वरूप से दुःख नहीं है क्योंकि जिसका जो स्वरूप है उसका किसी अवस्था में ही व्यभिचार (अभाव) नहीं हो सकता

है। यदि इनका स्वरूप दुःख ही होता तो जीवनमुक्त पुरुष भी इनसे मुक्त नहीं हो सकते। जन्म, मृत्यु आदि के दुःखरूप दोष के अनुदर्शन द्वारा देह, इन्द्रिय तथा विषय-भोग में वैराग्य उत्पन्न होता है एवं उसके पश्चात् सबके अधिष्ठानस्वरूप प्रत्यक् आत्मा (परमात्मा के) दर्शन के लिए मनसहित सभी इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है। अतः जन्मादि के दुःखरूप दोष अनुदर्शन (पुनः पुनः विचार) तत्त्वज्ञान का हेतु (साधन) होने के कारण उसे 'ज्ञान' कहा गया है। [अष्टम श्लोक]

(नवमा श्लोक)—**असक्तिः**—सक्ति का अभाव। विषय के साथ संग होने के कारण जो प्रीतिमात्र ('यह मेरा है' इसप्रकार प्रीति) उत्पन्न होता है उसको सक्ति कहते हैं। उस सक्ति का अभाव असक्ति है। अतः असक्ति शब्द का अर्थ है विषय समूह में प्रीति का अभाव।

पुत्रदारगृहादिषु अनभिष्वङ्गः च—'यह मैं ही हूँ' इसप्रकार के मोह-पूर्वक अनन्य-आत्मभावना रूप जो विशेष आसक्ति है उसका नाम अभिष्वङ्ग है अर्थात् दूसरों को दुःखी या सुखी देखने पर 'मैं ही सुखी, दुःखी हूँ' ऐसा मानना अथवा किसी अन्य के जीने पर मैं ही जीता हूँ और मरने पर मैं मर जाऊँगा ऐसा मानना अभिष्वङ्ग है। अभिष्वङ्ग कहाँ होता है? इस पर कहते हैं पुत्र, दार (स्त्री) और गृह आदि में [आदि शब्द से अन्य जो कोई दास वर्ग (भृत्य, कर्मचारी आदि) अत्यन्त प्रिय होते हैं उनको भी ग्रहण किया गया है] असक्ति और अनभिष्वङ्ग ये दोनों ही ज्ञान के साधन हैं, इसलिए इनको भी ज्ञान कहा गया है।

इष्ट-अनिष्ट उपपत्तिषु नित्यं समचित्तत्वम्—इष्ट की उत्पत्ति होने पर 'अर्थात् अभिलषित विषय की प्राप्ति में' जो हर्षित नहीं होता है और अनिष्ट (प्रतिकूल) विषय की प्राप्ति होने पर विषादादि रूप विकार से युक्त नहीं होता है अर्थात् क्रोध नहीं करता है उसमें नित्य (सदा ही) चित्त का समभाव रहता है। इसप्रकार की जो चित्त की नित्य--समता है, वह भी ज्ञान है क्योंकि वह तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का विशेष साधन है।

(दसवाँ श्लोक)—**मयि च अनन्ययोगेन अव्यभिचारिणी भक्तिः**—मुझ ईश्वर में अनन्य योग से (मेरे साथ एकत्व अनुभव कराने वाले समाधि योग से)

अव्यभिचारिणी (अचल भक्ति)। भगवान् वासुदेव से पर अन्य कोई भी नहीं है, अतः वही हमारी परम गति हैं इसप्रकार की जो निश्चित अविचल बुद्धि है वही अनन्य योग है। उससे युक्त होकर मुझ ईश्वर के प्रति जो भक्ति है (परम प्रीति है), जिसका किसी अवस्था में अथवा किसी काल में व्यभिचार (अन्यथा) नहीं होता है उसे 'अनन्ययोगयुक्त अव्यभिचारिणी (कभी विचलित न होनेवाली भक्ति) कहते है। वह भी तत्त्वज्ञान प्राप्ति का साधन (उपाय) होने के कारण ज्ञान है।

विविक्तदेशसेवित्वम्—विविक्त शब्द का अर्थ है एकान्त तथा पवित्र। जो देश स्वभाव से पवित्र हो या संस्कारों से अर्थात् झाड़ने बुहारने की क्रियाओं से शुद्ध किया गया है तथा सर्प, व्याघ्र आदि से शून्य है ऐसे वन, नदी, तीर्थ या देवालय आदि विविक्त (एकान्त पवित्र) तथा चित्त-प्रसाद-कर देश के सेवन करने का जिसका स्वभाव है वह विविक्तदेश सेवी है और उसके भाव को 'विविक्त देशसेवित्व' कहते हैं। निर्जन पवित्र देश में ही चित्त प्रसन्न तथा स्वच्छ रहता है, इसलिये विविक्त देश में ध्यानयोग से आत्मा की भावना अनायास उत्पन्न होती है। अतः विविक्त देश सेवन करने के स्वभाव को ज्ञान कहा जाता है। श्रुति भी ऐसा ही कहती है—

'समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्' ॥

अर्थात् जो समतल, पवित्र, कङ्कड़, अग्नि और वालुका से तथा शब्द और जलाशयादि से रहित, मन के अनुकूल और नेत्रों को पीड़ित न करने वाला हो (अर्थात् भयंकर या कुत्सित न हो) उस गुहा या वायुशून्य स्थान में चित्त को समाहित करे।

जनसंसदि-अरतिः—तथा जनसमुदाय में अप्रीति। [विनयभाव रहित, संस्कार से शून्य, प्राकृत (अज्ञ) पुरुषों के अर्थात् आत्मज्ञान से विमुख तथा विषय लम्पट के संसद (समुदाय) के साथ मिलने की अरुचि।] विनययुक्त संस्कार सम्पन्न मनुष्यों का समुदाय जन संसद (समुदाय) नहीं है क्योंकि वह तो तत्वज्ञान प्राप्ति करने के लिये सहायक है। अतः प्राकृत जन समुदाय में प्रीति का अभाव तत्वज्ञान का साधन होने के कारण ज्ञान है। शास्त्र में भी ऐसा ही कहा है-'सङ्गः सर्वात्मना हेयः, स चेत्त्यक्तुं न शक्यते। स सद्भिः सह कर्तव्यः सतः सङ्गो हि भेषजम्'। अर्थात् 'संग को सर्वथा

त्यागना चाहिये, उसे यदि पूरा-पूरा न त्याग सके तो सत्पुरुषों का साथ ही करना चाहिए, क्योंकि सत्पुरुष का संग ही भवरोग का औषध है'। (ग्यारहवाँ श्लोक) **अध्यात्म-ज्ञाननित्यत्वं**—'आत्मानम् अधिकृत्य प्रवृत्तम् अध्यात्मम्' [आत्मा को अधिकृत करके (आत्मा के सम्बन्ध में विचार करते हुए) जो प्रवृत्त होता है उसे अध्यात्म कहा जाता है। अध्यात्म (आत्मविषयक) जो ज्ञान है वह अध्यात्मज्ञान है अर्थात् आत्मा से अनात्मा का (देह, इन्द्रिय आदि का) विवेक रूप ज्ञान (पृथक्त्व बोध) अध्यात्म-ज्ञान है। उसमें नित्य भाव अर्थात् निरन्तर स्थिति होने पर "अध्यात्मज्ञाननित्यत्व" सम्पादित होता है। यह भी ज्ञान (ज्ञान का साधन) है क्योंकि आत्मा तथा अनात्मा के विवेक में निष्ठा (स्थिति) प्राप्त न होने पर वेदान्त वाक्यों के अर्थ को (ब्रह्मतत्त्व को) जानना सम्भव नहीं है। **तत्वज्ञानार्थदर्शनम्**—तत्वज्ञान के अर्थ की आलोचना अर्थात् अमानित्वादि ज्ञान के साधनों की भावना परिपक्व होने पर (संस्कार दृढ़ होने पर) जो तत्त्वज्ञान होता है उसका अर्थ (प्रयोजन) जो संसार की उपरतिरूप मोक्ष है उसकी आलोचना। कहने का अभिप्राय यह है कि अमानित्वादि साधनों का संस्कार परिपक्व होने पर चित्तशुद्धि होती है एवं तत्पश्चात् गुरुमुख से तत्त्वमस्यादि वेदान्त महावाक्यों के श्रवण के फल रूप से 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ इस प्रकार जो आत्मसाक्षात्कार होना है उसे ही तत्वज्ञान कहते हैं। उस तत्वज्ञान का अर्थ (प्रयोजन) है संसार की उपरति रूप मोक्ष अर्थात् अविद्या और उसके कार्यभूत सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्तिरूप मोक्ष उसका दर्शन (आलोचन) ज्ञान है [क्योंकि तत्वज्ञान के फल का आलोचन (विचार) करने से ही उन साधनों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति हो सकती है।] **एतत्**—यह अर्थात् अमानित्व से लेकर तत्व-ज्ञान के अर्थ की आलोचना पर्यन्त कहे गये समस्त साधन समुदाय 'ज्ञान' का साधन होने के कारण **ज्ञानम् इति प्रोक्तम्**—ज्ञान इस नाम से कहा गया है। **यत् अन्यथा तत् अज्ञानम्**—इससे अर्थात् उपर कहे हुए ज्ञान साधनों के समुदाय से अन्यथा (विपरीत) जो मानित्व, दम्भित्व हिंसा, क्षमा का अभाव, कुटिलता इत्यादि अवगुण हैं वे अज्ञान हैं, ऐसा जानना चाहिए क्योंकि वे सभी ज्ञान के विरोधी हैं। अज्ञान को जानने से क्या लाभ होगा ? मानित्व, दम्भित्व इत्यादि रूप अज्ञान संसार में

(जन्म मृत्यु के चक्कर में) प्रवृत्त करने के हेतु होते हैं, अतः इनका परिहार (परित्याग) कर तत्त्वज्ञान के साधनरूप जिस अमानित्वादि ज्ञान का वर्णन किया गया है, उनको ग्रहण करने पर मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ (मोक्ष) प्राप्त हो सकता है । इसलिए अज्ञान के स्वरूप को जानना आवश्यक है क्योंकि अज्ञान के कारण-समुदाय को जान लेने पर ही उनका त्याग करना सम्भव है । श्लोक में इति शब्द से यह सूचित कर रहे हैं कि इन पाँच श्लोकों में ज्ञान के जिन साधनों का वर्णन है वे अत्र समाप्त हुए हैं । अतः अज्ञान को छोड़कर ज्ञान को ही (ज्ञान के उपायों को ही) ग्रहण करना चाहिए, यही कहने का अभिप्राय है ।

टिप्पणी (१) श्रीधर—(श्लोक-७) अत्र उक्त लक्षण वाले क्षेत्र से पृथक् करके जानने योग्य शुद्ध क्षेत्रज्ञ का विस्तारपूर्वक वर्णन करने की इच्छा से उसका ज्ञान जिन साधनों से होना सम्भव है उनका वर्णन पाँच श्लोकों द्वारा करते हैं—**अमानित्वम्**—मान का अभाव (गुणों की श्लाघा अर्थात् बड़ाई का न होना) । **अदम्भित्वम्**—अहिंसा । दूसरों को पीड़ा न देना । **क्षान्तिः**-सहिष्णुता । **आर्जवम्**—सरलता । **आचार्योपासनम्**—आचार्य की उपासना (सद्गुरु की सेवा) **शौचम्**—बाहर (शरीर आदि) और भीतर की (अन्तःकरण की) शुद्धि अर्थात् मिट्टी, जल आदि के द्वारा शरीर आदि की बाहरी शुद्धि और राग, द्वेष आदि मलों का नाश करना रूप भीतर (अन्तःकरण) की शुद्धि । स्मृति भी ऐसा ही कहती है—'शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा । मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम् ॥ (अग्नि० पु० ३७२ । १७-१८) अर्थात् 'बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार की शुद्धि कही गई है । मिट्टी और जल के द्वारा की हुई शुद्धि बाह्य है और भाव की शुद्धि आभ्यन्तर कही गई है ।'

स्थैर्यम्—सन्मार्ग में प्रवृत्त हुए मनुष्य की उसमें ही दृढ़स्थिति । **आत्मविनिग्रहः**—आत्मा का (शरीर का) निग्रह (संयम) । यह ज्ञान कहा गया है । [आठवाँ श्लोक] (इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य और निरहंकार) । **जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्**—जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि में दुःख और दोषों को देखना अर्थात् बारंबार उन पर आलोचन (विचार) करना अथवा जन्म,

मृत्यु, जरा और व्याधि में दुःख रूप दोषों को बार-बार देखना यह भी ज्ञान है (तत्वज्ञान प्राप्ति के उपाय है)। अन्य पदों का अर्थ स्पष्ट है !

[नवाँ श्लोक] **असक्तिः**—पुत्रादि पदार्थों में प्रीति का त्याग **पुत्रदार-गृहादिषु अनभिष्वङ्गः**—पुत्र, स्त्री और घर आदि में आसक्ति का अत्यन्त अभाव। पुत्रादि के सुख दुःख में मैं ही सुखी, दुःखी हूँ इस प्रकार के अतिशय अध्यास का नाम अभिष्वङ्ग है। उसके अभाव को अनभिष्वङ्ग कहते हैं। **इष्ट-अनिष्ट-उपपत्तिषु नित्यंसमचित्तत्वं च**—तथा इष्ट, अनिष्ट की प्राप्ति में सर्वदा ही चित्त की समता।

[श्लोक दस] **मयि**—मुझ परमेश्वर में **अनन्ययोगेन**—अनन्य योग से अर्थात् सबमें एक ही आत्मा विद्यमान है इस प्रकार की दृष्टि से। **अव्यभिचारिणी भक्तिः**—एकान्तभक्ति। **विविक्तदेशसेवित्वम्**—विविक्त (शुद्ध तथा चित्त प्रसाद-कर) देश के सेवन करने का स्वभाव। **अरतिः जनसंसदि**—प्राकृत मनुष्य के संसद (सभा) में रति (प्रीति) का अभाव।

[ग्यारहवाँ श्लोक] **अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं**—आत्मा को आधार बनाकर जो ज्ञान होता है वह अध्यात्मज्ञान है। उसमें नित्यत्व (नित्य स्थिति) अर्थात् तत् और त्वम् पद के अर्थ के (लक्ष्य विषय के) शोधन में (विचार में) निष्ठा (स्थिति)। **तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्**—तत्वज्ञान का अर्थ (प्रयोजन) जो मोक्ष है उसको देखना (मोक्ष की सबसे श्रेष्ठता पर विचार करना)। **एतत् ज्ञानम् इति प्रोक्तम्**—यह अमानित्व, अदम्भित्व इत्यादि बीस संख्यावाला जो ज्ञान बताया गया, यह ज्ञान का साधन होने के कारण 'ज्ञान' कहा गया है। **अतः अन्यथा यत् तत् अज्ञानम्**—और इससे जो विपरीत मानित्व (बड़प्पन) है वह ज्ञान का विरोधी होने से वशिष्ठ आदि मुनियों द्वारा अज्ञान कहा गया है। अतः वह सर्वथा त्याज्य है–यह कहने का अभिप्राय है।

(२) **शंकरानन्द**-महाभूतान्यहंकार इत्यादि द्वारा क्षेत्र के स्वरूप का निरूपण करके यद्यपि क्षेत्रज्ञ का निरूपण करना उचित था तथापि जबतक उसके ज्ञान के साधन प्राप्त न हो तबतक उसका ज्ञान सिद्ध नहीं हो सकता। अतः क्षेत्रज्ञ के ज्ञान की प्राप्ति के लिए जो साधन सम्पत्ति नियत है (अर्थात् निरन्तर अभ्यास करना आवश्यक है) उस साधन-सम्पत्ति से युक्त जिज्ञासु को ही उसका ज्ञान सुलभ है। इसलिए पहिले ही आत्म-

ज्ञान की उत्पत्ति के अनुकूल जो जो साधन हैं उनको अब पाँच श्लोकों में वर्णित कर रहे हैं। **अमानित्वम्**—'मैं सबसे उत्कृष्ट हूँ' इसप्रकार अपने में श्रेष्ठत्वबुद्धि को मान कहते हैं अर्थात् प्रतिष्ठा के लिए अपने में उत्कर्ष का आरोपण जिस हेतु (कारण) से होता है वह मान है। वह मान जिसमें है उसे मानी कहते हैं। मानी के भाव को मानित्व कहा जाता है। उस भाव का न होना अमानित्व है। ज्ञान-उत्पत्ति का हेतु चित्त-शुद्धि है अर्थात् चित्तशुद्धि के विना ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है किन्तु मान चित्त-शुद्धि का प्रतिबन्धक है, इसलिए वह ज्ञान का भी प्रतिबन्धक (विरोधी) है उसी प्रकार **अदम्भित्वम्**—दम्भशून्यता दम्भित्व आदि भी चित्तशुद्धि के प्रतिबन्धक हैं अतः मुमुक्षु को उनसे रहित होना चाहिए, यह कहने का अभिप्राय है। वेष, भाषा, क्रिया चातुर्य आदि से अपना महत्व प्रकट करना दम्भ है। दम्भ होना दम्भित्व है और उससे रहित होना अदम्भित्व है। **अहिंसा**—मन, वाणी और कर्म से प्राणी को पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा है . अहिंसा भूतों पर दया करने से ही प्राप्त होती है। अहिंसा शब्द से ब्रह्मचर्य आदि का भी उपलक्षण से ग्रहण किया गया है। **क्षान्तिः**—चिन्ता एवं विलाप से रहित होकर आध्यात्मिक उपद्रव को (देह, इन्द्रियों की व्याधि आदि से जो उपद्रव उत्पन्न होते हैं उनको) सहन करने को क्षान्ति कहते हैं। **आर्जवम्**—अपने-अपने धर्म में मन, वाणी एवं काय की प्रवृत्ति का सर्वदा एक सा होना आर्जव (सरलता) है। **आचार्योपासनम्**—ज्ञान के उपदेश देने वाले आचार्य की श्रद्धा तथा भक्ति से शुश्रूषा आदि क्रिया से आराधन उपासना है। **शौचम्**—शौच दो प्रकार का है-एक बाहर का और दूसरा भीतर का। बाहर का शौच मिट्टी और जल से एवं जो वस्तु अस्पृश्य, अभक्ष्य एवं अग्राह्य है (ग्रहण के योग्य नहीं है) उनके त्याग से होता है। तथा राग, द्वेष, लोभ, मोह, गर्व तथा कठोरतारूप मलों का उनके प्रतिकूल गुणों के अवलम्बन से क्षालन (त्यागना) अन्तःशौच है। **आत्मविनिग्रहः**—आत्मा का (विषयभोगवासना से ग्रस्त अन्तःकरण का) विषय के ध्यान, श्रवण, दर्शन आदि में जो स्वभावतः प्रवृत्ति होती है उसका आत्यन्तिक निरोध आत्मविनिग्रह है। **स्थैर्यम्**—मन को निश्चल कर मोक्ष की इच्छा से मन को श्रवण आदि में ही स्थापन करना धैर्य्य है अर्थात् केवल मोक्ष प्राप्त करने के लिये ही श्रवण आदि का विषय जो आत्मतत्त्व

(ब्रह्मतत्त्व) है उसमें मन को निश्चलरूप से स्थापित रखना स्थैर्य है। स्थैर्यसिद्धि का साधन क्या है ? उसे कहते हैं–

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्—इन्द्रियों के विषयों में अर्थात् शब्दादि भोग्य पदार्थों में सर्वत्र वैराग्य अर्थात् विशेषरूप से भोग्यविषयों के प्रति राग का (आसक्ति का) त्याग। वह त्याग ही मन के निग्रह में और उसके निश्चल होने में कारण है। संन्यासी को इसी का भलीभाँति सम्पादन करना चाहिये। **अनहंकार एव च**—उसी प्रकार अहंकार से शून्य होकर जाति, वर्ण, आश्रम, आचार्य, विद्या, कुल, शील आदि में श्रेष्ठ हूँ, इस प्रकार का अभिमान अहंकार है। अहंकार के हेतु जाति आदि के होने पर भी उनको बंधन का कारण समझ कर उनसे रहित होना अनहंकार है। वही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति करने के लिये मुख्य साधन (उपाय) है, यह निश्चय करने के लिये "एव" शब्द है। 'च' शब्द समुच्चय के लिये है।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्—जन्म में, मृत्यु में, जरा में और व्याधियों में दुःख तथा दोष का अनुदर्शन शास्त्र और अनुभव के अनुसार (आलोचन)। जन्म पद से जन्म का सन्निहित (अति निकट) जो. गर्भवास निमित्त दुःख होता है उसका ग्रहण किया गया। गर्भ में नौ मास तक पिण्ड बनकर स्थित रहना मल के कीड़ों का काटना सहन करना, माता की जठराग्नि से जलना, तथा माता की विषम शयन, गमनादि से टकराना, सुदृढ़ जरायुवेष्टन आदि महान् कष्ट से दुःख भोगना और मल, मूत्र के बीच में रहना तथा उनके रस का पानरूप दोष से युक्त होना–जन्म में प्रसव-वायु से आकर्षण, योनियन्त्र के निष्पीड़न से तथा उसके द्वारा निकलना रूप दोष से महान दुःख भोगना–मरण में सम्पूर्ण नाड़ियों का आकर्षण, मर्मच्छेदन, प्राणों का संकोच, ऊर्ध्वश्वास, मरण का ताप, यमदूतों के आकर्षण तथा उससे उत्पन्न हुई व्यथा (पीड़ा) से मल तथा जल का (मूत्र का) गिरना आदि दोषों से महान् दुःख भोगना इत्यादि अनेक दोषजनित दुःख है। मृत्यु पद से मृत्यु के निकटवर्ती नरक वास का भी ग्रहण किया जाता है। उसमें कुम्भीपाक, रौरव, असिपत्रवन तथा वैतरणी आदि में यमदूतों द्वारा पतित होकर (डाले जाने पर) महान् दुःखों का भोगना भी ग्रहण किया गया है। श्लेष्मा, रक्त, पूय (पींब), रेत-मल-मूत्रों के कुण्डों में वास

होने के कारण महान दुःख है और श्लेष्मा आदि का पान रूप दोष भी है। जरा के भी बहुत दोष हैं क्योंकि जरा में सब गात्रों का शिथिल होना, मन्दता, बधिरता, गद्-गद् वाक्, कम्प आदि, उठने पर गिर जाना एवं अपने तथा पराये जनों से पराभव (तिरस्कार) महान् दुःख के कारण होते हैं एवं इनके साथ मल, जल तथा लाला (राल) का गिरना इत्यादि तो दोष हैं ही। व्याधियों में दुर्बल होना, शीत, ज्वर आदि के वेग के कारण परिताप आदि, कषाय-औषधि का पान आदि महान् दुःख है। और देह में दुर्गन्ध, स्वेद आदि दोष है। इस प्रकार जन्म आदि में बार-बार दुःख और दोष के अनुदर्शन (आलोचन) से पुण्यशील विवेकी को सर्वत्र तीव्र वैराग्य और मोक्ष के लिये इच्छा होती है तथा उनकी सिद्धि के लिये प्रवृत्ति भी होती है। इसलिये इस दर्शन का सम्पादन मुमुक्षु को सम्यक् प्रकार से (भली भाँति) करना चाहिए, यह कहने का अभिप्राय है।

[श्लोक नौ]—जन्म आदि में दुःख और दोष के दर्शन का फल क्या है उसको कहते हैं। **असक्तिः**—भोगों में अन्तःकरण का संग (राग) को सक्ति कहते हैं उसका न होना असक्ति है। अप्राप्त वस्तु के समान प्राप्त वस्तु में भी अर्थात् समस्त भोग्य विषय में प्रीतिरहित होना असक्ति है। **पुत्रदारगृहादिषु अनभिष्वङ्गः**—इस विषय को प्राप्त करना या रक्षा करना मेरे लिये उचित है इस प्रकार समीचीन बुद्धि से तथा ममता से (यह मेरी वस्तु है इस प्रकार की भावना से) निरन्तर इष्ट विषय का आलिंगन कर स्थित रहना अभिष्वङ्ग है, उसका न होना अनभिष्वङ्ग है। मुमुक्षु को इस अनभिष्वङ्ग का उत्तमरूप से सम्पादन करना चाहिए। कहाँ अनभिष्वङ्ग होना चाहिए? इस पर कहते हैं—पुत्र, दारा, (स्त्री) तथा गृहस्थ आदि में। आदि शब्द से धन, क्षेत्र आदि का ग्रहण किया गया है अर्थात् पुत्र, स्त्री, गृह, धन, क्षेत्र आदि में चित्त को लग्न (आसक्त) नहीं करना चाहिए। अत्र प्रश्न होगा कि 'अनभिष्वङ्गः पुत्रदार-गृहादिषु' इससे गृहस्थों का ही श्रवण आदि में अधिकार है, यतियों का और दूसरों का नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है। यदि उनका अधिकार मान लिया जाय तो पुत्र आदि में अभिष्वङ्ग नहीं करना चाहिए, इस प्रकार व्यतिरेक से निषेध नहीं हो सकता क्योंकि पुत्र आदि के उत्पन्न होने पर ही उनमें अभिष्वङ्ग का प्रसङ्ग हो सकता है। जो पुत्र

आदि में प्रसक्त है उसका ही निषेध युक्त है, अप्रसक्त का नहीं। अतएव 'अग्निर्न पिबेत्' इस प्रकार का वचन जो अग्नि पान नहीं करता है उस प्रकार के अप्रसक्त के लिए अग्नि पान का निषेध उपर्युक्त नहीं होता है गृहस्थ, पुत्र, दारा धन आदि में प्रसक्त रहता है, अतः इस प्रकार प्रसक्त गृहस्थ का **प्रतिषेध**—करने के कारण गृहस्थ का ही वेदान्त-वाक्यादि का श्रवण में अधिकार है–दूसरे आश्रमों में रहने वालों का नहीं, ऐसी यदि शंका हो तो इस विषय पर तुमसे प्रश्न होगा कि क्या गृहस्थ का वेदान्तश्रवण मोक्ष के लिए हैं अथवा अक्षर के लाभ के लिए हैं या विलास के लिए है ? प्रथम पक्ष युक्त नहीं है अर्थात् गृहस्थ का वेदान्तश्रवण मोक्ष के लिए नहीं हो सकता है क्योंकि साधन के प्राप्त न होने पर साध्य की सिद्धि नहीं होती, इस नियम से श्रवण के अंग से अर्थात् संन्यास से रहित होने पर उससे साध्य (प्राप्तव्य) तत्त्व ज्ञान की सिद्धि नहीं होती है। अतः मोक्ष हो ही नहीं सकता है। 'संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्' (संन्यास का ग्रहण कर के श्रवण करे), इस प्रकार श्रुति वाक्य से प्रतिपादित हुआ है कि संन्यास श्रवण का अंग है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इसमें भी 'अथ' शब्द का अर्थ अनन्तर (पश्चात्) है अर्थात् संन्यास आदि साधनों की सिद्धि के बाद ही जिज्ञासा करनी चाहिए, यह 'अथ' शब्द का तात्पर्य है। इसलिए संन्याम आदि अन्तरंग साधनों से शून्य गृहस्थ का श्रवण में अधिकार नहीं है। मोक्ष की इच्छा से सम्पूर्ण कर्म और उनके साधनों का जिन्होंने त्याग कर दिया है ऐसे यतियों का ही अधिकार है। ब्रह्म तथा आत्मा का एकत्वविज्ञान वेदान्त के श्रवण आदि से मुख्य अधिकारी परमहंस यति को ही होता है–अन्य गृहस्थादि आश्रम में स्थित पुरुष का नहीं। परमहंस यतियों का ही श्रवण में तथा ज्ञान और उसके फल (मोक्ष) की प्राप्ति में अधिकार है क्योंकि श्रुति कहती है 'वेदान्तविज्ञान-सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' अर्थात् वेदान्त के विज्ञान से भलीभाँति निश्चित अर्थ से युक्त, संन्यास योग से शुद्ध अन्तःकरण वाले वे सब यति ब्रह्मलोक में ब्रह्मा के अन्तकाल में पर के मुक्ति से मुक्त हो जाते हैं (महाप्रलय में पर अर्थात् ब्रह्मा के साथ मुक्त होते हैं)। द्वितीय पक्ष अर्थात् गृहस्थ का वेदान्त श्रवण अक्षर के लाभ के लिए है यह भी युक्त नहीं है क्योंकि गृहस्थ निरन्तर विक्षिप्तचित्त रहते हैं, इसके लिए उनका, अक्षर का लाभ यथार्थरूप से नहीं हो सकता है। तीसरा पक्ष अर्थात् गृहस्थ का वेदान्त श्रवण

विलास के लिए है यह भी युक्त नहीं है, क्योंकि काव्य, नाटक आदि के समान वेदान्त वाक्यों में चमत्कार का अभाव है। अतः यतियों में ही श्रवण आदि की योग्यता (अधिकार) है, यह सिद्ध हुआ। यदि मोक्ष की इच्छा से सम्पूर्ण कर्मों का त्याग करने वाले यतियों का ही वेदान्त वाक्यों के श्रवण में अधिकार है तो पुत्र, दार आदि में अभिष्वङ्ग नहीं करना चाहिए यह निषेधवचन निरर्थक होगा, इस प्रकार की शंका करना चाहिए क्योंकि इस प्रकार यति का भी पूर्व वासना के कारण परित्यक्त पुत्र, दारादि में अभिष्वङ्ग का प्रसंग प्राप्त हो सकता है, अतः उसका निषेध करना युक्त ही है। 'मनसो वशे सर्वमिदं बभूव भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्' इति, (मन से यह सब हुआ है, मन रूप यह भीषण देव बली से भी बलवान् है) 'बन्धाय विषयासक्तम्' इति, ('विषयों में बन्धन का कारण होता है') 'प्रमाथि बलवद् दृढम्' इति, ('मन मथन करने वाला, बलवान् और दृढ़ है'), 'ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते' इति, ('विषयों का ध्यान करने वाले पुरुष का उनमें सङ्ग होता है') 'विद्ध्येनमिह वैरिणम्' इति (इसको यहाँ वैरी जानो) 'ज्ञानिनो नित्यवैरिणा' (ज्ञानी के नित्य वैरी से) इत्यादि से काम, सङ्कल्प आदि विकार वाले, अनादि दुर्वासना से वासित (अभिभूत) अन्तःकरण का दुर्धर्षत्व, दुर्निग्रहत्व, बन्धकत्व विषय की केवल स्मृति से अनर्थकारित्व और ज्ञानियों के प्रति वैरित्व श्रुति और स्मृति में प्रतिपादित है। पुत्र आदि पदार्थ को उन्हें त्याग दिया है उन पदार्थों में संन्यासियों की भी दुर्वासना के कारण उन पुत्रादि की वार्ता के श्रवण आदि से अभिष्वङ्ग हो सकता है, जैसे विद्यमान तुच्छ कौपीन, कन्था आदि में यह अच्छी है, यह अच्छी नहीं है, इस प्रकार की भावना से आसक्ति होती है ऐसे ही तुच्छ पुत्रादि में भी आसक्ति होती है। इसलिए समीचीनत्व तथा असमीचीनत्व (यह अच्छा है, यह अच्छा नहीं है) इस प्रकार बुद्धि प्रमाद से भी नहीं करना चाहिए, ऐसे व्यतिरेक द्वारा उपदेश देने के लिए 'असक्तिः अनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु' ऐसा कहा गया है। गृहस्थ का वेदान्त वाक्यों में श्रवण का अधिकार होने पर तो 'नित्यं च सम-चित्तत्वम् इष्टानिष्टोपपत्तिषु' यह विशेषण युक्त नहीं होगा।

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु—इष्ट (सुख और उसका साधन) अनिष्ट (दुःख और उसका साधन) उनकी उपपत्ति में (प्राप्ति में) नित्य

(सर्वदा) समचित्तता (हर्ष, विषाद, मुखविकास वैवर्ण्य (शरीर के वर्णों का परिवर्तन) इत्यादि बाहर भीतर के विकार से रहित (अर्थात् सर्वअवस्था में समान रूप से स्थित) चित्त जिस विद्वान का हो वह 'समचित्त' है, उसका भाव समचित्तत्व अर्थात् अविक्रिय स्वरूप से अवस्थान कहा जाता है। इसप्रकार समचित्तत्व संसारियों में (गृहस्थ में) सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि गृहस्थ के पुत्र की उत्पत्ति में हर्ष को सम्वरण नहीं कर सकता है और उसके मरण में विषाद को भी रोक नहीं सकता है, इसलिये उनका इसमें (वेदान्त वाक्यों में) अधिकार नहीं है यह सिद्ध हुआ।

[श्लोक दस] **मयि च अनन्ययोगेन अव्यभिचारिणी भक्तिः**— परमेश्वर के विना अन्य मेरा आश्रय नहीं है, इस प्रकार के निश्चय को 'अनन्ययोग' या 'भक्तियोग' कहते हैं। [न अन्य अनन्य, अनन्य भी है और योग भी है यह अनन्य योग है। अर्थात् भगवान् के विना अन्य कोई चिन्तनीय विषय न रहने के कारण एकमात्र भगवान् के साथ नित्य योग सम्पादन करना अर्थात् नित्ययुक्त रहने को अनन्य योग सम्पादन करना अर्थात् नित्ययुक्त रहने को अनन्य योग कहते हैं।] इस प्रकार के अनन्य योग से मुझमें (शरण लेने के योग्य सर्वेश्वर) सर्वात्मा में अव्यभिचारिणी (नियत अर्थात् भगवान् को निरन्तर विषय करने वाली) भक्ति (भजन) ज्ञान का साधन है। भगवान् कह रहे हैं कि केवल मेरे ही प्रसाद से ज्ञान प्राप्त होता है, इसलिये मेरे शरण में रहने वाले मुमुक्षु को मेरा भजन सर्वदा करना चाहिए अथवा 'विविक्तदेश-सेवित्वम्' इस वचन की सामर्थ्य से इसप्रकार अर्थ भी किया जा सकता है **अनन्य-योगेन**—(जिसमें विजातीय प्रत्यय नहीं है वह अनन्ययोग है अर्थात् समाधि) उसके द्वारा **मयि च अव्यभिचारिणी भक्तिः**—मुझ निर्विशेष परब्रह्म का अवलम्बन करके सजातीय प्रत्य की आवृत्ति रूप उस अनन्य योग से ब्रह्म ही मैं हूँ और मैं ही ब्रह्म हूँ इसप्रकार भक्ति (भजन) अर्थात् अनुसंधान सर्वदा करना चाहिए। इसप्रकार के साधन से ज्ञान की उत्पत्ति में किसी प्रकार के प्रतिबन्धक की सम्भावना न रहने के कारण (अर्थात् वह ज्ञान की सिद्धि का कारण होने से) वह ज्ञान कहलाता है। फिर **विविक्तदेशसेवित्वम्**—विविक्त (जन संसर्ग रहित) नदी पुलिन (तट) गिरि कहकर (पर्वत गुहा) आराम (बगीचा आदि) अरण्य आदि प्रदेशों के

सेवन द्वारा निदिध्यासन (समाधि) की सिद्धि के लिये प्रयत्न करने का जिसका शील (स्वभाव) है वह 'विविक्तसेवी' है। 'शून्यागारदेवतागृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रनदीपुलिनगिरिकुहरकन्दरकोटरनिर्झरस्थण्डिलेष्वनिकेतवासी' इति श्रुतेः अर्थात् शून्य आगार, देवमन्दिर, तृणराशि, वल्मीक, वृक्षमूल कुलाल शाला, अग्निहोत्र, नदी पुलिन, गिरि, कुहर, कन्दरा, कोटर निर्झर और स्थण्डिल में (यज्ञशाला में) अनिकेतवासी ऐसी श्रुती है। विविक्त देश सेवी का भाव 'विविक्त देश सेवित्व' है **अरतिः जनसंसदि**—जनों के बहिर्मुखो के अर्थात् बाह्य विषयों में आसक्तो के) संसद् में (समूहों में) वास करने में अरति (अरुचि) करनी चाहिए।

[ग्यारहवाँ श्लोक] **अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्**—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (आत्मा निश्चय एक ही पहले था) 'आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः' (आत्मा ही यह पहले था पुरुष के समान) 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (आत्मा ही अरे द्रष्टव्य है) इत्यादि से आत्मा को अवलम्बन करके जो विषय प्रवृत्त होता है वह अध्यात्म है और जिससे आत्मतत्व को जाना है वह ज्ञान (तत्वज्ञान) है। अध्यात्म रूप ज्ञान अध्यात्म ज्ञान है (अर्थात् वेदान्त शास्त्र) उसमें नित्यत्व (निरतत्व अर्थात् केवल उसी में प्रावण्य (अर्थात् उसमें तीव्र संवेग से स्थिति ही वह ज्ञान कहा गया है। **तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्**—तत्व ज्ञान को अर्थ का (साधन के चरम फल रूप मोक्ष का) दर्शन [उसकी सिद्धि की प्रक्रिया का आलोचन (विचार)]। ब्रह्म स्वरूपमें अवस्थान ही मोक्ष है इस श्रवण से, श्रावण से (दूसरों को सुनाने से) मनन से, निदिध्यासन से समाधि से अथवा सम्पूर्ण कामनाओं के त्याग से या अन्य प्रकार से सिद्ध होता है। अतः युक्ति से अथवा अपने अनुभव से ज्ञान की पुष्टि की सिद्धि जिससे होती है उस साधन सम्पत्ति का विचार कर अपने अधिकार के अनुसार उसके साधन का क्रम से अनुष्ठान करे, इसप्रकार 'तत्वज्ञानार्थदर्शनम्' से भगवान् बोधन करते हैं। इसलिये जो लोग केवल मोक्ष की कामना करते हैं उन यतियों को अमानित्व आदि ज्ञान के साधन का सम्पादन प्रयत्न से करना चाहिए क्योकि उसकी सिद्धि से ज्ञान की सिद्धि होती है और ज्ञानसिद्धि से ही मोक्ष प्राप्त होता है। अत्र ज्ञान के निरुक्त (भली भाँति पहले उक्त हुए) अन्तरङ्ग साधनों का उपसंहार करते हैं। **एतत् ज्ञानम्**

इति प्रोक्तम्—अमानित्व से लेकर तत्वज्ञानार्थदर्शन तक जो बीस ज्ञान के साधन कहे गए हैं वे ज्ञान की उत्पत्ति में कारण हैं इसलिए महर्षियों द्वारा उन्हें "ज्ञान" **अतः यत् अन्यथा तत् अज्ञानम्**—इसलिये अमानित्व आदि रूप ज्ञान के साधन से अन्यथा (विपरीत) मानित्व, दम्भित्व, हिंसा, क्षान्ति (क्षमाशून्यता) अनार्जव (असरलता) आदि जो रज और तमोगुण से उत्पन्न होते हैं वे सब अज्ञान हैं अर्थात् अज्ञान की वृद्धि के साधन हैं, अतः संसार के कारण हैं एवं ज्ञान के प्रतिबन्धक हैं। इसलिये मुमुक्षु को अमानित्वादि को भलीभाँति जानना चाहिए एवं उनको जानकर उनके विपरीत मानित्व आदि का सम्यक् रूप से त्याग करना चाहिए, यही कहने का अभिप्राय है।

(३) नारायणी टीका—पूर्व दो श्लोकों में भगवान् ने क्षेत्रों के स्वरूप को संक्षेप में वर्णित किया है। अब क्षेत्रों से क्षेत्रज्ञ को किस उपाय से पृथक् कर क्षेत्रज्ञ के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त हो सकता है-उनका वर्णन कर रहे हैं। अथवा क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का विवेक करने पर जिस तत्वज्ञान का उदय होता है उसके पश्चात् उन ज्ञानियों के क्या स्वतःसिद्ध लक्षण प्रकट होते हैं उनका निर्णय चार श्लोकों में करेंगे। मुमुक्षु के लिये जो साधन हैं वही मुक्त पुरुष के स्वतः सिद्ध लक्षण होते हैं। इसके लिये ग्यारहवें श्लोक के "एतज्ज्ञानमिति" पद में ज्ञान शब्द का तात्पर्य यह है कि मुमुक्षु के इन सब गुणों से सम्पन्न होने पर ही क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है। तथा उस ज्ञान ही मोक्ष का साक्षात् हेतु है। किन्तु मुक्त पुरुष (तत्त्वज्ञानी) के अमानित्वादि जो विंश गुण वर्णित हुये हैं उनके वे स्वतः सिद्ध लक्षण हैं। अर्थात् यथार्थ तत्वज्ञानी इन गुणों से अवश्य ही युक्त होंगे, यही कहने का अभिप्राय है।

क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ को अर्थात् शरीर से शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को पृथक् कर आत्मा के साक्षात्कार के लिये—देहादि सारे जगत प्रपञ्च माया द्वारा रचित (कल्पना से सृष्ट) होने के कारण मिथ्या है एवं इस प्रपंच का अधिष्ठान स्वरूप साक्षी (विज्ञाता) अद्वय आत्मा ही एकमात्र सत्य वस्तु है और वह पारमार्थिक सत्ता जिसको वेदादि शास्त्रों ने ब्रह्म, परमात्मा या भगवान् कहा है, 'वह मैं ही हूँ' इस प्रकार के ज्ञान (अर्थात् साक्षात् अनुभव) की आवश्यकता है। इस ज्ञान के विरोधी जो भी ज्ञान हैं

वे अज्ञान हैं। अमानित्वादि लक्षण जब साधक में प्रकट होते हैं तब यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अखण्ड-अद्वय आत्मा का ज्ञान भी उनके सन्निकट है।

(१) **अमानित्वम्**—कोई गुण रहे या न रहे तथापि 'मैं गुणवान् हूँ–दूसरे आदमी को मुझे मान देना उचित है', इस प्रकार आत्मश्लाघा को 'मानित्व' कहा जाता है। लौकिक मान (जैसे माल्यादि अथवा बहुमूल्य आसन आदि अथवा प्रणाम, नमस्कार आदि से मान) देह को ही दिया जाता है। अतः जिसमें मानित्व या आत्मश्लाघा है उसकी देह में ही आत्मबुद्धि दृढ़ रहती है। इस कारण से वह कभी भी शरीररूप क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ आत्मा को पृथक् करने में समर्थ नहीं होता है अर्थात् तत्वज्ञान से (आत्मा के यथार्थ स्वरूप-ज्ञान से वंचित रहता है। अतः अमानित्व को तत्वज्ञान लाभ करने में एक अपरिहार्य उपाय होने के कारण ज्ञान कहा गया है।

(२) **अदम्भित्वम्**—'मैं धार्मिक हूँ' लोग मेरा पूजा पाठ देखकर मेरे यश का कीर्तन करेंगे' इस प्रकार सोच कर जो लोक-दृष्टि आकर्षित करने के लिये धर्मानुष्ठान किया जाता है उसे दम्भ कहा जाता है। इस प्रकार दम्भ भी देहात्मबुद्धि से उत्पन्न होता है; अतः यह भी तत्वज्ञानलाभ करने में प्रतिबन्धक होता है। इसलिए अदम्भित्व ज्ञान-प्राप्ति के लिये एक विशेष उपाय है।

(३) **अहिंसा**—वाक्य, मन एवं देह से दूसरे को पीड़ित करना हिंसा है। यह भी देहादि में आत्मबुद्धि एवं दूसरे देह में अपर बुद्धि अर्थात् मैं, तेरा, तू, तेरा— इस प्रकार की भेद-बुद्धि रहने पर ही सम्भव है, अतः वह तत्व-ज्ञान के प्रतिकूल है। सर्वक्षेत्र (शरीर) में एक ही क्षेत्रज्ञ (शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा) है, इसप्रकार का बोध जब तक उत्पन्न नहीं होता है तब तक किसी न किसी प्रकार की हिंसाबुद्धि अवश्य ही रहेगी। इसलिए सर्वत्र एकात्मबुद्धि से ही पूर्णतया अहिंसा होनी सम्भव है। सर्वत्र एकात्मबुद्धि ही यथार्थ ज्ञान है। अतः अहिंसा भी ज्ञान का लक्षण या उपाय है।

(४) **क्षान्तिः**—दूसरों के पीड़न से चित्त की व्याकुलता होने पर भी उसे सहन करने को क्षान्ति कहते हैं। शरीर से क्षेत्रज्ञ आत्मा को पृथक् कर विज्ञाता (साक्षी) आत्मा में स्थित रह कर एक त्रिगुणात्मिक पंचभूत का पिण्ड इस पिण्ड को पीड़ा दे रहा है—मैं तो दोनों का ही द्रष्टा हूँ' इस प्रकार का बोध जिसको है वही

परपीड़न (दूसरों से सर्वप्रकार पीड़न) को प्रतीकार के बिना सहन करने में असमर्थ होता है। किसी विशेष देह में जिसकी आत्मबुद्धि रहती है उसके लिये इस प्रकार सहन करना असम्भव है। क्षेत्रज्ञ आत्मा में (दृष्टिस्वरूप आत्मा में) स्थित होकर 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' (गीता ३।२८) अर्थात् एक त्रिगुण का पिण्ड दूसरे एक त्रिगुण के पिण्ड के साथ पीड़नादि का व्यवहार कर रहा है, इस प्रकार निश्चय कर उदासीन रहना ही तत्वज्ञानी का लक्षण है। इसलिए क्षान्ति ज्ञान का विशेष लक्षण या उपाय है।

(५) **आर्जवम्**—सरलता अर्थात् कुटिलता का अभाव। जिसने क्षेत्रज्ञ को क्षेत्र से पृथक् जान लिया है उसकी दृष्टि में सर्वत्र एक ही आत्मा विद्यमान रहने के कारण उसकी वृत्ति में असरलता या कुटिलता सम्भव नहीं हैं, क्योंकि स्वयंप्रकाश (ज्ञानस्वरूप) आत्मा आत्मा के निकट न तो कुछ छिपा सकती है और न उसकी प्रतारणा करने में समर्थ है।

(६) **आचार्योपासनम्**—सद्गुरु की सेवा। सद्गुरु अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ एवं शास्त्रज्ञ गुरु के उपदेश बिना मनुष्य अज्ञान रूप अन्धकार का नाश कर ज्ञानरूप प्रदीप को प्रज्ज्वलित नहीं कर सकता। इसलिये यह भी तत्वज्ञान लाभ करने का एक विशेष उपाय है। और जो तत्वज्ञानी हैं वे तो स्वतः ही कृतज्ञता की सेवा करेंगे। अतः तत्वज्ञानियों का यह तो स्वतःसिद्ध लक्षण है।

(७) **शौचम्**—शुचिता। मिट्टि जल इत्यादि से अंग की जो शुद्धता सम्पादित की जाती है उसे बाह्य शौच कहते हैं। एवं मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा तथा प्राणायाम आदि अथवा भगवद्भजन इत्यादि से अन्तः करण की रागद्वेष, काम, क्रोध, लोभ मोह इत्यादि वृत्तियों के निरोध को अन्तः (आभ्यन्तरिक) शौच कहा जाता है। बाह्य शौच एक शारीरिक तपस्या है। शास्त्रविहित उपाय से पालन करने पर देहादि के प्रति क्रमशः घृणा उत्पन्न होती है, क्योंकि जो इस प्रकार शुचिता पालन करता है वह प्रत्यक्ष जान लेता है कि स्नानादि के तुरन्त बाद भी इस देह के नवद्वार (चक्षुद्वय, दो कर्ण, दो नासिकारन्ध्र मूत्रद्वार, मलद्वार, एवं मुख—ये नवद्वार) सदा ही गन्ध, क्लेद, श्लेष्मा इत्यादि रूप मलों से युक्त रहते हैं। इसलिए योगशास्त्र में शुचिता के फल के सम्बन्ध में इसप्रकार कहा गया है–'शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसङ्गः'

(पातञ्जल योगशास्त्र) अर्थात् शुचिता बहिरङ्ग-शुचिता का ठीक-ठीक पालन करने से अपने अङ्गो के प्रति (शरीररूप क्षेत्र के प्रति) घृणा उत्पन्न होती है। जब अपने देह के प्रति घृणा हो तब दूसरों के देह के साथ संगलाभ करने की इच्छा कैसे सम्भव होगी ? जो कामक्रोधादि वृत्तियाँ बुद्धि को कलुषित कर हृदयदेश में स्थित आत्मा का साक्षात्कार करने में प्रतिबन्धक होती है, उनकी अन्तः शौच से निवृत्ति होने पर स्वच्छ शुद्ध हृदय में नित्यशुद्ध स्वयंप्रकाश क्षेत्रज्ञ आत्मा स्वतः ही प्रकट होता है। अतः शौच भी क्षेत्र से (देह से) वैराग्य उत्पन्न कर चैतन्यस्वरूप क्षेत्रज्ञ आत्मा का साक्षात्कार कराने में सहायक होने के कारण तत्वज्ञान प्राप्ति का एक विशेष साधन (उपाय) है अतः शौच तथा बाह्य शुचिता से सत्वगुण का उदय होता है एवं उस सत्वगुण से ही तत्वज्ञान प्राप्त होता है। अतः जो तत्वज्ञानी है वह स्वभावतः ही शौच-परायण होगा इस विषय में क्या संशय हो सकता है ?

(८) **स्थैर्यम्**—स्थिरता। मोक्ष के लिये साधना की अवस्था में शत-शत बाधाओं के उपस्थित होने पर भी जो अपनी ध्येय वस्तु से विचलित न होकर दृढ़रूप से स्थिर रहता है उसकी उस स्थिरता को धैर्य कहा जाता है। देहादि (क्षेत्र)-में आत्मबुद्धि रहने पर ही देहादि के कष्ट से साधक क्षेत्रज्ञ आत्मा के ध्यान से विचलित होता है। जब वह शास्त्र तथा गुरुमुख से जान लेता है कि वह क्षेत्र का ज्ञाता क्षेत्रज्ञ है तब दृश्य देहादि शीत उष्ण, आधि-व्याधि, मान अपमान इत्यादि से आक्रान्त होने पर भी विचलित नहीं होता है क्योंकि वह प्रत्यक्ष देखता है कि ये सब सत्त्व-रज-तमः गुणों की ही क्रिया हैं एवं आगम अपायी हैं अर्थात् अपने आप आते हैं और थोड़ी देर बाद चले जाते हैं (गीता २।१४)। अतः उसका अपना स्वरूप जो, द्रष्टा तथा क्षेत्रज्ञ आत्मा है, उससे विच्युत नहीं होता है। अथवा विचलित होने के किसी कारण के उपस्थित होने पर भी बारम्बार अभ्यास द्वारा क्षेत्रज्ञ-स्वरूप में ही स्थित रहने के लिये दृढ़ रूप से प्रयत्न करता है। अतः अपनी लक्ष्य वस्तु में जिसका स्थैर्य नहीं है वह क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ को पृथक् कर तत्वज्ञान लाभ करने में समर्थ नहीं होता है। इसलिए स्थैर्य भी ज्ञान का एक विशेष साधन है। एवं ज्ञानी पुरुष का एक स्वतः सिद्ध लक्षण भी है।

(९) **आत्मनिग्रहः**—'आत्मा' शब्द शास्त्र में बहु अर्थ में व्यवहृत होता

है। यहाँ 'आत्मनिग्रह' शब्द से मन, वाक्य तथा काय (देह) का दण्ड सूचित होता है। शरीर की चंचलता का निग्रह (दण्ड) है प्रारब्धवश जो कुछ प्राप्त होता है उसमें ही सन्तुष्ट रहना एवं वृथा प्रयोजन की सिद्धि के लिये प्रयत्न न कर देह (क्षेत्र) को एकमात्र क्षेत्रज्ञ आत्मा की सेवा में ही नियुक्त रखना। वाक्य का दण्ड है–मौन अथवा वृथा वाक्यों का परिहार कर एकमात्र क्षेत्रज्ञ भगवान् के ही नाम–जप इत्यादि में रसना को नियुक्त रखना। मन का दण्ड है विषयचिन्ता से सर्ववृत्तियों के निरोध द्वारा एकमात्र क्षेत्रज्ञ आत्मा के ध्यान में मन को रत रखना। इस प्रकार आत्मनिग्रह अर्थात् काय, मन तथा वाक्य का संयम सुसम्पन्न होने पर ही क्षेत्र से विलक्षण क्षेत्रज्ञ के स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। अतः आत्मनिग्रह को ज्ञान का एक विशेष साधन एवं ज्ञानी का एक स्वभावसिद्ध लक्षण बताया गया है।

(१०) **इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्**—इन्द्रियों के अर्थों में अर्थात् विषयों [चक्षु के विषय रूप, कर्ण के विषय शब्द, नासिका के विषय घ्राण (गन्ध), जिह्वा के विषय रस और त्वचा के विषय स्पर्श] में वैराग्य (आसक्तिशून्यता) अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त समस्त इहलौकिक तथा पारलौकिक शब्दादि विषयों में आसक्तिहीनता। देह (क्षेत्र) में राग या आसक्ति रहने पर ही देह तथा इन्द्रियों की तृप्ति के लिये विषय के साथ सङ्ग होता है एवं सङ्ग से काम या वासना उत्पन्न होकर आसक्ति होती है। आसक्ति के द्वारा प्रेरित होकर जीव कर्म करता है एवं कर्मफल भोग करने के लिये जन्म-मरण के चक्र में भटकता है। विषयासक्ति-रहित होने पर ही क्षेत्र से (शरीरादि से) क्षेत्रज्ञ आत्मा को पृथक् करने का तथा आत्मदर्शन करने की सामर्थ्य होती है। इसलिये इन्द्रियों के विषय में वैराग्य भी तत्त्वज्ञान प्राप्ति का एक विशेष साधन है। अतः यह तत्त्वज्ञानी का भी एक स्वभावसिद्ध लक्षण है।

(११) **अनहङ्कारः**—अनात्म-देहादि में आत्माभिमान को अहंकार कहते हैं। देहादि दृश्य हैं और जीव द्रष्टा है। द्रष्टा जब आत्मा को भूल कर दृश्य देहादि के साथ अज्ञान के कारण एकात्मबोध करता है तब अहङ्कार की उत्पत्ति होती है एवं जब तक अहङ्कार रहता है तब तक आत्मा के यथार्थ स्वरूप की विस्मृति भी अवश्यम्भावी है। अहंकार से देहादि (क्षेत्र) के धर्म आत्मा (क्षेत्रज्ञ) में आरोपित होने से जीव

अपने को सुखी, दुःखी इत्यादि मानता है। प्रकृति (क्षेत्र) एवं पुरुष (क्षेत्रज्ञ) का संयोग ही अहंकार है। इसी संयोग का प्रभाव अर्थात् अनात्मदेहादि में अभिमान-रहितत्व को अनहङ्कार कहते हैं और उससे ही क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ को पृथक् करना सम्भव होता है। इसलिये अनहंकार (अहंकारशून्यता) तत्वज्ञान प्राप्ति के लिये एक विशेष उपाय है एवं ज्ञानी का एक स्वभावसिद्ध लक्षण है।

(१२) **जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्**—जन्म, मृत्यु, जरा (वार्धक्य), व्याधि (शिर-पीड़ा, ज्वर, अतिसार आदि) ही प्रकृत दुःख हैं–उनके दोषों का अनुदर्शन करना, अर्थात् पुनः पुनः आलोचन मुमुक्षु को करना चाहिए। कहने का अभिप्राय यह है कि जन्म दुःख है, मृत्यु भी दुःख है तथा जरा, व्याधि आदि भी दुःख ही है। परन्तु ये सभी क्षेत्र (देहादि) के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। तथापि जब तक देहादि में आत्मबुद्धि रहती है तब तक ये सब आत्मा में उपचरित होते हैं। आत्मा का न तो जन्म होता है, न मृत्यु, और न तो व्याधि, न जरा, आत्मा को वे न स्पर्श कर पाते हैं, क्योंकि आत्मा सदा ही अविकारी (एकरूप) है। जन्म, मृत्यु इत्यादि केवल दुःख ही हैं, इस प्रकार पुनः-पुनः आलोचन करने पर साधक को देह-इन्द्रियादि से तथा विषयभोग से वैराग्य हो जाता है। सभी प्राणी दुःख की निवृत्ति तथा सुख की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं। देह, इन्द्रियों तथा विषय से वैराग्य उत्पन्न होने पर ही क्षेत्रज्ञ आत्मा देहादि रूप क्षेत्र से तथा उसके धर्मों से पृथक् है, यह ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिये जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि सदा ही दुःखदायी हैं एवं वह दुःख ही सबसे बड़ा दोष है (क्योंकि सभी जीव की काम्यवस्तु जो सुख है उसके यह प्रतिकूल है।) इसलिये जो इस दोष का अनु (पुनः पुनः) अर्थात् प्रत्येक घटना के साथ साथ दर्शन (पर्यालोचन या भलीभाँति विचार) करता है वह अनायास ही जान लेता है कि आत्मा (क्षेत्रज्ञ अर्थात् इन सबका ज्ञाता) इन सब दृश्य वस्तुओं से पृथक् है। यही तत्वज्ञान है। अतः जन्मादि रूप दुःख के दोषों का निरन्तर अनुसंधान करना ज्ञान का साधन है एवं तत्वज्ञानी पुरुष का एक विशेष लक्षण (परिचय) है।

(१३-१४) **असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु**—पुत्र, दार, (स्त्री) गृह एवं भृत्यादि सब स्नेह के विषयों में असक्ति ('मैं और मेरा' ऐसी भावना से

रहित), अभिष्वङ्गरहित (पुत्र, स्त्री आदि के सुख से सुखबोध एवं दुःख से दुःख बोध का अभाव)। स्त्री, पुत्र इत्यादि के प्रति जो आसक्ति होती है वह उनके शरीरादि (क्षेत्र) के प्रति ममत्वबोध होने पर ही सम्भव होती है। अतः क्षेत्र में ही उसकी दृष्टि रहने के कारण उससे विलक्षण क्षेत्रज्ञ का ज्ञान नहीं होता है। इसलिये उनके प्रति आसक्ति तथा आसक्तिजनित अभिष्वङ्ग—दोनों ही तत्त्वज्ञानप्राप्ति के मार्ग में प्रतिबन्धक हैं। जो इन दोनों से रहित है वही क्षेत्रज्ञ का स्वरूप जानने में समर्थ है। अतः ये ज्ञान के विशेष साधन (उपाय) हैं एवं जो तत्त्वज्ञानी हैं उनमें ये लक्षण प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं।

(१५) **नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु**—इष्ट या अनिष्ट की प्राप्ति में समचित्तत्व अथवा हर्ष-विषाद-शून्य होना। इष्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिये एवं अनिष्ट वस्तु के परिहार की वासना एवं प्रयत्न शरीरादि को आश्रय कर ही होता है। अतः वह आत्मा के धर्म नहीं क्योंकि आत्मा (अर्थात् शुद्ध चैतन्यस्वरूप क्षेत्रज्ञ) सर्वशरीर में सम (एक) हैं। द्वैतबुद्धि से ही चित्त की चंचलता होती है क्योंकि शरीरादि तथा प्रपंच में अर्थात् क्षेत्र में जब तक सत्यत्व बुद्धि रहती है तब तक इष्टानिष्ट (अनुकूल-प्रतिकूल) की भावना भी रहेगी। जब गुरु तथा शास्त्र की कृपा से क्षेत्र तथा क्षेत्रधर्म में मिथ्यात्व निश्चित होता है तब साधक क्षेत्रज्ञ परमात्मा को ही एकमात्र सत्य वस्तु निर्णीत कर सकता है एवं सर्व चिन्तारहित होकर चित्त की सर्वावस्था में समता प्राप्त कर उस परमात्मा को अपनी आत्मा के रूप में (निर्विकल्प समाधि से) साक्षात्कार कर सकता है। इसलिये निरन्तर समचित्तता भी ज्ञानप्राप्ति का एक विशेष साधन है। तत्त्वज्ञानी पुरुषों में इसप्रकार का समत्व सदा ही दिखाई देता है। इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण ने, भी गीता में कहा है—'समत्वं योग उच्यते' (गीता २।४८) अर्थात् समत्व (चित्त का सर्वप्रकार से विक्षेपराहित्य) ही भगवान के योग (एकत्व) अनुभव करने का उपाय है।

(१६) **अनन्ययोगेन च मयि अव्यभिचारिणी भक्तिः**—समचित्तत्व लाभ करने पर साधक निश्चय करता है कि सर्वत्र एक ही भगवान् (क्षेत्रज्ञ आत्मा) सर्वरूप में सर्वकाल में सर्वदेश में विद्यमान है, एवं उसके अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तु की

पारमार्थिक सत्ता नहीं है, अतः "वह भगवान ही मेरी एकमात्र गति है"। ऐसा निश्चय कर उसकी भक्ति अव्यभिचारिणी होती है अर्थात् हजारों प्रतिकूलताओं के उपस्थित होने पर भी स्थिर एवं अचल रूप से भगवान का निरन्तर अनुस्मरण वह करता रहता है एवं उससे वह आत्मसाक्षात्कार कर क्षेत्रज्ञ आत्मा (परमात्मा) को तुरन्त साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। अतः ऐसी भक्ति तत्त्वज्ञान का अन्तरंग साधन है एवं तत्त्वज्ञान की भी इसप्रकार की भक्ति स्वतःसिद्ध लक्षण है।

(१७) **विविक्तदेशसेवित्वम्**—विविक्त अर्थात् स्वभाव से या संस्कार से शुद्ध देश में अर्थात् चोर, सर्प व्याघ्रादि से उत्पन्न विघ्न जहाँ नहीं है उस स्थान में, अथवा अरण्य, नदी, देवालय इत्यादि प्रसन्नता सम्पादन करने वाले देश में अथवा सम्पूर्णतया निर्जन स्थान में प्रीतिपूर्वक रहने के अभ्यास को 'विविक्त देश की सेवा' कहते हैं। शुद्ध, पवित्र निर्जन स्थान में ही भगवान् का निरन्तर चिन्तन सम्भव होता है। ऐसा अभ्यास तत्त्वज्ञान के अनुकूल होने के कारण इसे 'ज्ञान' कहा गया है।

(१८) **जनसंसदि अरतिः**—आत्मज्ञानशून्य अथवा भगवद्भक्ति से शून्य लोगों के साथ संग करने में अरुचि। जो भगवद्‌भक्तिहीन, विषयासक्त है उसके साथ संग करने से पूर्वाभ्यासवश विषयों के चिन्तन उदित होकर मुमुक्षु को भी आत्मचिन्तन से विचलित कर देता है। इसलिए विषयी का संग आत्मज्ञान का प्रतिबन्धक है। अतः ऐसे संग का त्याग भी ज्ञान का साधन होने के कारण इसे 'ज्ञान' कहा गया है।

(१९) **अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्**—आत्मा को अधिकार कर (आत्मानम् अधिकृत्य) जो ज्ञान है अर्थात् एकमात्र आत्मा ही जिस ज्ञान का विषय है उस ज्ञान को अध्यात्मज्ञान कहा जाता है, अर्थात् अनात्म देहादि रूप क्षेत्र से चैतन्य स्वरूप आत्मा का विवेकज्ञान अध्यात्मज्ञान है। लोक-संग से विरत हो कर जो निरन्तर क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ आत्मा को पृथक् कर उसमें ही नित्य (निरन्तर) स्थित रहता है, उसको ही तत्वज्ञान प्राप्त हो सकता है। इसलिए अध्यात्मज्ञान का नित्यत्व अर्थात् निष्ठा या निरन्तर स्थिति ज्ञान का विशेष उपाय होने के कारण 'ज्ञान' कहलाता है।

(२०) **तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्**—आत्मा एवं परमात्मा के एकत्व अनुभव को तत्वज्ञान कहते हैं। अमानित्वादि सर्व साधन का अन्तिम फल है तत्त्वज्ञान। इस

तत्त्वज्ञान का अर्थ (प्रयोजन) है अविद्या एवं अविद्या के जिन कार्यों से संसार के अनन्त दुःख की सृष्टि होती है उनको निवृत्त कर परमानन्द प्राप्ति के द्वारा संसार से उपराम (मोक्ष) लाभ करना। इस प्रकार तत्वज्ञान के अर्थ को अर्थात् नित्य, शुद्ध, अखण्ड, अद्वय परमात्मा के साथ एकत्व साक्षात् अनुभव कर उसके मोक्षरूप अर्थ या प्रयोजन को जो दर्शन अर्थात् निरन्तर आलोचन करता है वही उसके अमानित्वादि साधनों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है। और जिसको तत्त्वज्ञान के अर्थ या प्रयोजन का बोध नहीं हुआ वह तो संसार से भी मोक्ष प्राप्ति के लिये इच्छुक नहीं होगा। इसलिए तत्त्वज्ञान के प्रयोजन का आलोचन जो करता है, अर्थात् जो यथार्थ जिज्ञासु एवं मुमुक्षु है वही मोक्षसाधन में प्रवृत्त हो सकता है। अतः यह भी ज्ञान का एक विशेष साधन है।

अज्ञानं यदतोऽन्यथा—ज्ञान दो प्रकार का होता है एक **विशेषज्ञान**—जो विषयों के साथ इन्द्रिय के संयोग से उत्पन्न होता है। और दूसरा **साधारण ज्ञान**—जो सभी विशेष ज्ञानों का आधार है एवं जिससे सारे प्रपंच का ज्ञान प्रकाशित होता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि के ज्ञान को **विशेष** ज्ञान कहते हैं और अविकारी स्थिर अचल जो सभी प्राणियोंमें चैतन्य सत्ता (आत्मा) के रूप से विद्यमान है वह **साधारण** ज्ञान है, क्योंकि वह सभी में एक ही रूप में अवस्थित है एवं वह सभी विशेष ज्ञानों को प्रकाशित करता है। विशेष ज्ञान संसार प्राप्त कराता है एवं साधारण ज्ञान (आत्मज्ञान) संसार से मोक्ष दिलाता है। संसार अज्ञान का ही कार्य होने के कारण सांसारिक सारा ज्ञान ही अज्ञान है एवं वह पुनः पुनः संसारप्राप्ति का कारण होता है। अतः अमानित्वादि मोक्ष साधनों से विपरीत मानित्व, दम्भित्व हिंसा इत्यादि) सभी अज्ञान है।

पूर्व श्लोकों में उक्त अमानित्वादि ज्ञान द्वारा क्या ज्ञातव्य है? अर्थात् किस विषय को जाना जायगा? इसका उत्तर भगवान् अब 'ज्ञेयं यत् तत्' इत्यादि छ श्लोकों से दे रहे हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि पूर्ववर्ती श्लोकों में ज्ञान के साधन के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उसमें शंका इस प्रकार हो सकती है—अमानित्व गुण तो यम और नियम हैं, उनसे ऐसी कोई वस्तु नहीं जानी जा सकती जिसे ज्ञेय (जानने योग्य) कहा जाता है क्योंकि अमानित्वादि (सद्गुण होने पर भी) किसी वस्तु को परिच्छेद

(विषय) कर उसके ज्ञापक (प्रकाशक) होते हैं ऐसा नहीं देखा गया है। सभी स्थानों में यह देखा जाता है कि जो ज्ञान जिस वस्तु को विषय करने वाला होता है वही उसका ज्ञापक होता है—कोई विशेष वस्तुविषयक ज्ञान द्वारा अन्य वस्तु नहीं जानी जाती जिस प्रकार घटविषयक ज्ञान द्वारा अग्नि कभी नहीं जानी जाती है। इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार दोष की शंका उपस्थित नहीं हो सकती है क्योंकि हम पहले ही कह चुके हैं कि ज्ञान के साधन होने से और उसके सहकारी कारण होने से अमानित्वादि सद्गुणों को 'ज्ञान' कहा गया है। अब उनसे कौन सी यथार्थ वस्तु जानी जाती है अर्थात् ज्ञेय कौन है? उसे यहाँ कहा जा रहा है।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

अन्वय—यत् ज्ञेयम् यत् ज्ञात्वा अमृतम् अश्नुते तत् प्रवक्ष्यामि (किम् यत्) तत् अनादिमत् परम् ब्रह्म, न सत् न असत् उच्यते।

अनुवाद—जो ज्ञेय है एवं जिसे जानकर जीव अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है, वह मैं बताता हूँ। (वह कौन है) वह ज्ञेय वस्तु ब्रह्म है। ब्रह्म अनादि और परम (निरतिशय) है। वह न सत् (प्रपञ्चरूप कार्य) है और न तो असत् (अव्यक्तरूप कारण) है [और न किसी शब्द से कहा जाता है]।

भाष्यदीपिका—**यत् ज्ञेयम् तत् प्रवक्ष्यामि**—जो ज्ञेय (जानने योग्य) है उसका प्रकृष्ट रूप से (स्पष्टतया यथार्थ रूप से) मैं वर्णन करता हूँ। उस ज्ञेय से क्या फल प्राप्त होता है? इसप्रकार के प्रश्न द्वारा श्रोता में रुचि उत्पन्न करके श्रोता को अभिमुख (आकर्षित) करने के लिये फल बताकर उस ज्ञेय ब्रह्म की स्तुति करते हुए कहते हैं **यत् ज्ञात्वा अमृतम् अश्नुते**—जिस कहे जाने वाले ज्ञेय ब्रह्म को जानकर जीव अमृत (अमृतत्व अर्थात् मोक्ष) प्राप्त कर लेता है अर्थात् संसारगति से मुक्त होकर फिर नहीं मरता है। [उस ज्ञेय का स्वरूप क्या है? इस पर कहते हैं—] **अनादिमत् परम् ब्रह्म**—वह ज्ञेय अनादिमत् है। जिसका आदि है वह आदिमत् है और जो आदिमत् नहीं है वह अनादिमत् कहलाता है। वह कौन है? वही परम्

[निरतिशय अर्थात् जिससे अन्य कोई अतिशय (श्रेष्ठ) वस्तु नहीं है ऐसा] ब्रह्म [अर्थात् सब प्रकार से अनवच्छिन्न (सीमारहित या अनन्त) परमात्मवस्तु] है। वह ब्रह्म ही इस प्रकरण में ज्ञेयरूप से वर्णित है कई टीकाकार 'अनादिमत् परं' पद को 'अनादि' 'मत्परं' इसप्रकार पदच्छेद करते हैं क्योंकि वे यह कहते हैं कि बहुव्रीहि समास द्वारा बतलाया गया अनादि शब्द का अर्थ है 'जिसका आदि नहीं है वह'। अनादि पद के साथ 'मतुप्' प्रत्यय का प्रयोग होने पर भी अर्थ का कोई भेद नहीं होता है, अतः मतुप् प्रत्यय का प्रयोग यहाँ निरर्थक होने के कारण वह अनिष्ट है। वे लोग 'मत्परम्' शब्द का विशेष अर्थ भी बतलाते हैं। उनके मत में **मत्परम्**—मत्तः परम् अर्थात् मुझसे [मैं वासुदेव कृष्ण उस ब्रह्म की पराशक्ति हूँ अतः में सगुण (सविशेष) मुझ सगुण ब्रह्म से] निर्विशेषरूप (निर्गुण स्वरूप) ज्ञेय ब्रह्म परम् (श्रेष्ठ) है (मधुसूदन) यह ठीक है कि यदि उक्त प्रकार से पदच्छेद करके अर्थ सम्भव होता तो ऐसा पदच्छेद करने पर पुनरुक्ति के दोष का निवारण हो सकता था, परन्तु 'मैं वासुदेव नामक' जिसकी परा शक्ति हूँ ऐसी इसकी व्याख्या ठीक नहीं है क्योंकि 'न सत्तन्नासदुच्यते' इत्यादि वचनों से सर्व विशेषणों के प्रतिषेध द्वारा निर्विशेष ब्रह्म का ही प्रतिपादन करना उद्देश्य है। ज्ञेय ब्रह्म को किसी विशेष शक्तिवाला बतलाना और साथ ही साथ सब विशेषणों का प्रतिषेध करना यह परस्पर विरुद्ध है। अतः यही समझना चाहिए कि 'मतुप्' प्रत्यय का और बहुव्रीहि समास का समान अर्थ होने पर भी यहाँ श्लोक का पूरण (पादपूर्ति) करने के लिये 'मतुप्' प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। 'जिसका फल अमृतत्व (मोक्ष) है ऐसा ज्ञेय ब्रह्म मेरे द्वारा कहा जाता है' इस कथन से अर्जुन के मन में रुचि उत्पन्न कर भगवान् (अर्जुन को) सन्मुख करके (उस ज्ञेय का स्वरूप जानने के लिये उत्साह युक्त करके) कहते हैं। **न तत् सत् न असत् उच्यते**—उस ज्ञेयको न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है।

पूर्वपक्ष—तुमने तो कटिवद्ध होकर बड़े गम्भीर कण्ठध्वनि से यह घोषणा की कि 'मैं ज्ञेय वस्तु को स्पष्टतया यथार्थ रूप से बतलाऊंगा' और अब कह रहे हो कि 'वह न सत् कहा जाता है और न तो असत्'। इसप्रकार कहना तो तुम्हारी घोषणा के अनुरूप नहीं है।

उत्तरपक्ष—तुम्हारा आक्षेप युक्त नहीं है। मेरा कहना तो प्रतिज्ञा के अनुरूप ही है क्योंकि वाणी का विषय न होने के कारण सब उपनिषदों में ही ज्ञेय ब्रह्म 'ऐसा नहीं' ('स्थूल नहीं, सूक्ष्म नहीं' इसप्रकार सब विशेषणों के प्रतिषेध द्वारा ही निर्देश किया गया ऐसा नहीं कहा गया कि वह ज्ञेय अमुक है।

पूर्वपक्ष—जो वस्तु 'अस्ति' (है) शब्द नहीं कही जाती है वह तो है ही नहीं अतः यदि 'अस्ति' शब्द से नहीं कहा जाता है तो वह ज्ञेय है ही नहीं। वह ज्ञेय है और 'अस्ति' शब्द से नहीं कहा जा सकता इसप्रकार कहना अतिविरुद्ध है।

उत्तरपक्ष—वह ज्ञेय ब्रह्म नहीं है, ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं क्योंकि वह 'नहीं है', इस बुद्धि (ज्ञान) का भी विषय नहीं है।

पूर्वपक्ष—समस्त ज्ञान 'अस्ति (है) या नास्ति (नही है)' इन बुद्धियों से किसी एक के अनुगत होते हैं, अतः ज्ञेय भी या तो अस्ति, ज्ञान से अनुगत बुद्धिवृत्तिका विषय होगा या 'नास्ति' ज्ञान से अनुगत प्रत्यय (बुद्धिवृत्ति) का विषय होगा।

उत्तरपक्ष—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि वह इन्द्रियों का विषय नहीं होने के कारण 'अस्ति, नास्ति' इनदोनों प्रकार के ज्ञानों से अनुगत प्रत्ययका अविषय है। इन्द्रियों के द्वारा जो घटादि वस्तु जानी जाती है, वे या तो 'अस्ति' बुद्धि से अनुगत प्रत्ययका विषय या 'नास्ति' बुद्धि से अनुगत प्रत्ययका विषय होते हैं। किन्तु यह ज्ञेय ब्रह्म इन्द्रियातीत होने के कारण केवल एक शब्दप्रमाण से ही जाना जाता है। अतः घट आदि के समान यह "है", "नहीं है" इन दोनों प्रकार के ही ज्ञानों से अनुगत प्रत्ययका विषय नहीं है। इसलिये वह (ज्ञेय ब्रह्म) न तो सत् और न तो असत् कहा जा सकता है। फिर तुमने जो कहा है कि ज्ञेय होने पर भी यदि वह सत् और असत् नहीं कहा जाता है तो यह विरुद्ध बात है, इस पर कहता हूँ कि इसमें विरोध नहीं है क्योंकि श्रुति भी कहती है—'अन्यदेव' 'तद्विदितादथो अविदितादधि' (के० उ० १।३) अर्थात् वह ब्रह्म विदित से (जाने हुए से) और अविदित से (न जाने हुए से) भी अन्य है। अतः श्रुति प्रमाण से हमने जो कहा वह सिद्ध होता है।

पूर्वपक्ष—यदि हम कहे कि यह श्रुति भी विरुद्ध अर्थवाली ही है तो? जैसा

यज्ञशाला बनाने का विधान करके वहाँ कहा है कि 'को हि तद् वेद यद्यमुष्मिँल्लोकेऽस्ति वा न वेति' (तै० सं० ६।१।१) अर्थात् उस बातको कौन जानता है कि परलोक में यह सब है या नहीं। इस श्रुति के समान 'अन्यदेव' इत्यादि उपर्युक्त श्रुतिवाक्य भी विरुद्धार्थयुक्त हो तो ? अर्थात् उक्त श्रुति ज्ञेय ब्रह्म "है कि नहीं" इस प्रकार संदेहार्थ प्रकाश कर रही है, ऐसा यदि हम कहें तो ?

उत्तरपक्ष—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उक्त श्रुति 'जाने हुए से विलक्षण' एवं 'न जाने हुए से भी विलक्षण' ऐसा कहकर निःसन्देह अवश्य ही विज्ञेय अर्थका (जिसको जानना चाहिए उस ब्रह्मका) प्रतिपादन करनेवाली है और 'यह सब परलोक में है या नहीं' इत्यादि श्रुतिवाक्य विधि के अन्त का अर्थवाद है, अतः 'अन्यदेव' इत्यादि श्रुतिवाक्य के साथ इसकी समानता नहीं है। [विहित कर्मकी निन्दा भी अर्थवाद परक होती है। अर्थवाद द्वारा विहित कर्मों में लोगों को प्रवृत्त या आकृष्ट किया जाता है, अतः इसकी सार्थकता है।]

युक्ति से भी यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म सत् या असत् आदि शब्दों से नहीं कहा जाता है क्योंकि अर्थका प्रकाश करने के लिये वक्ताद्वारा बोले जाने वाले तथा श्रोता द्वारा सुने जाने वाले सभी शब्द जाति, क्रिया, गुण एवं सम्बन्धद्वारा संकेत ग्रहण करवाकर ही अर्थका बोध कराते हैं, अन्य प्रकार से नहीं क्योंकि अन्य प्रकार से किसी भी शब्द से अर्थकी प्रतीति (बोध) होती है, ऐसा कभी नहीं देखा जाता है— जैसे गौ या घोड़ा यह जाति से, पकाना या पढ़ना यह क्रिया से, सफेद या काला गुण से और धनवान् या गौओं वाला यह सम्बन्ध से जाने जाते हैं इसप्रकार अन्य सबका ज्ञान होता है। किन्तु ब्रह्म जातिविशिष्ट (जातिवाला) नहीं है क्योंकि श्रुति ब्रह्मको 'अगोत्रमवर्णम्' कहती है, अतः सत्-असत् आदि शब्दों द्वारा ब्रह्म नहीं कहा जा सकता। ब्रह्म गुणवान् नहीं है क्योंकि श्रुति में उसको 'केवलो निर्गुणश्च' कहा है, अतः निर्गुण होने के कारण गुणवाचक शब्दों से उसको निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। ब्रह्म क्रियारहित है क्योंकि उसको श्रुति 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्' (श्वे० उ० ६।१९) कहती है, अतः वह क्रियावाचक शब्द से भी नहीं कहा जा सकता। सभी श्रुति ब्रह्मको 'एक अद्वितीय, इन्द्रियोंका अविषय और आत्मरूप' से वर्णन करती है अतः 'असंगो

स्वयं पुरुषः'–बृ० उ०) इसप्रकार श्रुति वाक्यसे किसी के साथ उसका सम्बन्ध न रहने के कारण सम्बन्धवाचक शब्दों से उसका निर्देश हो नहीं सकता। अतः यह कहना युक्तियुक्त ही है कि ब्रह्म किसी भी शब्द से नहीं कहा जा सकता। 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (जहाँ से वाणी निवृत्त होकर लौट आती है) इत्यादि श्रुतिप्रमाणों से भी यही बात सिद्ध होती है। [मधुसूदन सरस्वतीने इस प्रकार व्याख्या की—'न सत्तन्नासदुच्यते' इस वाक्य से ब्रह्मकी निर्विशेषताका वर्णन करते हैं। जो विधिमुख से प्रमाण का विषय होता है वह 'सत्' शब्द से और जो निषेधमुख से प्रमाण का विषय होता है वह 'असत्' शब्द से कहा जाता है। ब्रह्म निर्विशेष और स्वप्रकाश चैतन्यरूप होने के कारण उन दोनों से ही विलक्षण है। "यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह" (जहाँ से मनके सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है) इस श्रुति से यह प्रमाणित होता है कि वह ब्रह्म न तो सत् (भावत्वका आश्रय) है और न असत् (अभावत्वका आश्रय) है, इसलिये मुख्यवृत्ति द्वारा किसी भी शब्द से वह नहीं कहा जाता है क्योंकि उसमें शब्दकी प्रवृत्ति के हेतुओं का (जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध) का अभाव है। जिस प्रकार 'गौ–अश्व' ये शब्द जाति से, 'पकाता है—पढ़ता है' ये शब्द क्रिया से, 'श्वेत–काला' ये शब्द गुण से, तथा 'धनी–गौवाला' ये शब्द सम्बन्ध से अर्थका ज्ञान (बोध) कराते हैं। ब्रह्म क्रिया, गुण और सम्बन्ध से विलक्षण है यहाँ सम्पूर्ण जाति और उपाधिरूप धर्म का 'जाति' शब्द से संग्रह किया गया है। "डित्थ–डवित्थ" आदि मनमाने शब्द भी अपने विषय में किसी धर्मको निमित्त बनाकर ही प्रवृत्त होते हैं, अतः वे भी जातिपरक शब्द ही हैं। इसी प्रकार तार्किकों के मत में 'आकाश' शब्द भी शब्दाश्रयत्वादि किसी धर्म को लेकर ही प्रवृत्त होता है। हमारे मतमें तो पृथ्वी आदि के समान आकाशरूप व्यक्ति (Manifestation) भी जन्य (उत्पत्तिशील) और अनेक है, अतः आकाशत्व भी जाति है, इसलिये यह भी जातिपरक शब्द ही है। आकाश से भिन्न दिशा तो है ही नहीं तथा काल भी ईश्वर से अतिरिक्त नहीं है ऐसा माना जाय तो 'दिशा' और 'काल' शब्द किसी उपाधि विशेष की प्रवृत्ति के कारण हैं, इसलिये जातिपरक शब्द ही हैं। अतः शब्द की प्रवृत्तिका निमित्त चार प्रकार का होने से शब्द चार प्रकार का ही है। यहाँ 'न सत् है और न असत्' इस प्रकार कहकर केवल

जाति का ही निषेध नहीं किया परन्तु उपलक्षण द्वारा गुण और सम्बन्धों का भी निषेध किया है 'एकमेवाद्वितीयम्' (ब्रह्म एक और अद्वितीय है) इस वाक्य से श्रुति ने ब्रह्म की जाति का निषेध किया क्योंकि अनेक व्यक्तियों में रहने वाली जाति एक ही में नहीं रह सकती। 'निर्गुणं निष्क्रियं शान्तम्' (ब्रह्म निर्गुण, निष्क्रिय और शान्त है) इससे क्रमशः उसमें गुण, क्रिया और सम्बन्धका निषेध किया गया है। 'असंगो ह्ययं पुरुषः' (यह पुरुष असंग है) तथा 'अर्थात् आदेशो नेति नेति' (यह नहीं है–यह नही है—इस प्रकार ब्रह्मका निरूपण होता है) इन श्रुतिवाक्यों से ब्रह्ममें सबका (जाति, गुण, क्रिया सम्बन्ध इन सबका) निषेध किया गया है। इसलिये किसी भी शब्द से ब्रह्मका वर्णन नहीं किया जाता–यह ठीक ही कहा है। प्रश्न होगा यदि ऐसा ही है तो 'प्रवक्ष्यामि' (स्पष्टरूप से कहता हूँ) ऐसा क्यों कहा? और वेदान्त दर्शन में 'शास्त्रयोनित्वात्' यह सूत्र क्यों है? अर्थात् शास्त्र उस ब्रह्मकी योनि (ज्ञापक) है, इस प्रकार ब्रह्मसूत्र में क्यों कहा है? इसके उत्तर में कहा जायगा कि किसी प्रकार के लक्षणद्वारा शब्द ब्रह्मका प्रतिपादन करता है—मुख्यवृत्ति से अर्थात् साक्षात्रूप से कोई भी शब्द ब्रह्मका वाचक नहीं है। शास्त्र किस प्रकार ब्रह्मका प्रतिपादन करता है उसकी शैली 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्' (गीता २।२९) इस श्लोककी व्याख्या में दिखायी गयी है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—उपर्युक्त साधनों द्वारा जो जानने योग्य है उसका वर्णन 'ज्ञेयम्' इत्यादि छ श्लोकों द्वारा करते हैं **यत् ज्ञेयम् तत् प्रवक्ष्यामि**—जो जानने योग्य है उसे स्पष्ट रूप से बताऊँगा। श्रोता की आदरबुद्धि उत्पन्न कराने के लिये ज्ञान का फल दिखाते हैं—**यत् ज्ञात्वा अमृतम् अश्नुते**—जिसे कहे जाने वाले ज्ञेय तत्त्व को जानकर मनुष्य अमृत को (मोक्ष को) प्राप्त हो सकता है। वह ज्ञेय वस्तु क्या है? **अनादिमत् परम् ब्रह्म**–जो आदिवाला नहीं है (जिसकी उत्पत्ति नहीं होती है) वह अनादिमत् है। ऐसा पर (निरतिशय अर्थात् सर्वश्रेष्ठ) ब्रह्म है। 'अनादि' इतना कहने से ही 'आदि जिसका नहीं है वह अनादि' इसप्रकार बहुव्रीही समास द्वारा अनादित्व सिद्ध हो सकता था तथापि अनादि शब्द में जो पुनः 'मतुप्' प्रत्यय का प्रयोग हुआ है वह छान्दस (अर्थात् छन्द का पादपूरण करने के लिये) है।

अथवा 'अनादि' और 'मत्परम्' इस प्रकार दो पद है। ऐसे पदच्छेद के अनुसार 'मत्परम्' शब्द का अर्थ है मुझ (सविशेष या सगुण) विष्णु से पर (श्रेष्ठ) निर्विशेष (निराकार) ब्रह्म है। उस ब्रह्म का स्वरूप क्या है ? उसे कहते हैं **न सत् न असत् उच्यते**—वह न सत् कहा जाता है और न असत् भी कहा जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि विधिमुख से जो प्रमाण का विषय हो वह 'सत्' शब्द से कहा जाता है, और जो निषेध का विषय हो वह 'असत्' है। परब्रह्म 'सत्' या 'असत्' शब्द किसी का विषय न होने के कारण उन दोनों से विलक्षण है।

(२) **शंकरानन्द**—इस प्रकार अमानित्वादि ज्ञानकी उत्पत्ति के सहकारी कारणों की सामग्री का निरूपण करके विशेष भाव से उक्त हुए उन साधन संपत्ति से किये गये श्रवण आदि द्वारा जिस यति का ज्ञान उत्पन्न हुआ है उसकी जो वस्तु ज्ञातव्य (जानने योग्य है, उसका अब निरूपण करते हैं **यत् ज्ञेयम् तत् प्रवक्ष्यामि**—जिस मुमुक्षु यति ने वेदान्तवाक्यादि श्रवण किया है एवं श्रवण से जिसका ज्ञान उत्पन्न हुआ है उसका जो ज्ञेय है (जानने योग्य जो वस्तु है) उसको मैं बतलाऊंगा उस ज्ञान से मुझे क्या प्राप्त होगा ? इसपर कहते हैं **यत् ज्ञात्वा अमृतम् अश्नुते**—जिसको जानकर ('तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के अर्थ का विचार कर उस विचार से उत्पन्न हुए ज्ञान से जिस वस्तु को जानकर) अमृत को [मृत्यरहित अर्थात् अविनाशी मोक्षरूप परब्रह्म को (जिसके लक्षण आगे कहे जायेंगे उन लक्षणयुक्त परब्रह्म को)] प्राप्त होता है। 'एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से ब्रह्म को अमृत कहा गया है एवं विद्वान् अर्थात् ब्रह्मवित् पुरुष उस परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, यह भी कहा गया है। इसप्रकार फल को सूचित कर श्रोता को अभिमुख करके (आग्रह बुद्धि कर) जिस ज्ञेय ब्रह्म के सम्बन्ध में कहने की प्रतिज्ञा की थी उसका प्रतिपादन करते हैं—**अनादिमत् परम् ब्रह्म**—वह परब्रह्म अनादिमत् है। जिसका आदि (कारण या जन्म) है वह आदिमत् है महत् (महत्तत्व) से लेकर इस स्थूल पर्यन्त सभी वस्तु आदिमत् है। किन्तु परब्रह्म स्वयं उससे विलक्षण होने के कारण अनादिमत् है अर्थात् जन्म, वृद्धि, अपक्षय, नाश इत्यादि विकारयुक्त सभी पदार्थों से भिन्न है। त्रिगुण की साम्यावस्थारूप (मूलप्रकृतिरूप) अव्याकृत भी विकारशून्य है, इसलिए

उसे अक्षर कहा जाता है अतः अनादिमत्व उसमें भी है। उस अव्याकृत से ब्रह्म की व्यावृत्ति (पृथक्) करने के लिये 'परम्' यह विशेषण है। निरवयव, नित्यकूटस्थ, असंग, चिद्रूप, ज्ञाता, सबसे अन्तरतम और परममहत् होने के कारण ब्रह्म स्वयं अव्यक्त से पर (भिन्न) ही है, क्योंकि 'अप्रमाणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः' (प्राण-रहित, मनरहित, शुभ्र परमब्रह्म अक्षर से अर्थात् अव्यक्त से परे अर्थात् भिन्न है) ऐसे श्रुतिवाक्य हैं। 'अनादि' और 'पर' होने से ब्रह्म व्यक्त और अव्यक्त से (कार्य और कारण से) अन्य (अर्थात् पृथक्) ही है, यह सिद्ध है क्योंकि 'अन्यदेव तद्वि-दितादथो अविदितादधि' (वह विदित और अविदित से अन्य ही है) ऐसी श्रुति है। 'वह क्षेत्र जैसा है' जिसप्रकार के स्वरूप वाला है, जिसप्रकार के विकारों से युक्त है एवं क्षेत्रज्ञ भी जैसा है जिसप्रकार का प्रभावशाली है उसे तुम मुझसे संक्षेप में सुनो' (गीता १३।३), इस श्लोक से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के यथार्थ तत्त्व का प्रतिपादन करने के लिये उपक्रम करके 'महाभूतानि' इत्यादि श्लोक से क्षेत्र के स्वरूप का प्रतिपादन किया है। उसके पश्चात् क्षेत्र के स्वरूप का प्रतिपादन करना उचित था, परन्तु उस उपक्रम को (जिस विषय के सम्बन्ध में कहने की प्रतिज्ञा की उसको) छोड़कर 'अनादिमत् परं ब्रह्म' इससे अनुपक्रान्त ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन क्यों किया जाता है ? ऐसी शंका होगी क्योंकि उसका उपक्रम से विरोध होगा। इस पर कहा जायगा कि ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि क्षेत्रज्ञ तथा परब्रह्म के अभेद का निश्चय पहले ही हो चुका है, अतः विरोध नहीं है। 'नाऽयं हन्ति न हन्यते' (यह न मारता है और न मारा जाता है (गीता २।१९) इससे क्षेत्रज्ञ आत्मा सर्वप्रकार से विकाररहित है ऐसा बोधन करने के लिये उपक्रम करके, उसीका 'न जायते' (गीता २।२०) इत्यादि से स्पष्टीकरण करके 'नित्यः सर्वगतः' (गीता २।२४) इससे ब्रह्म में नित्यत्व, कूटस्थत्व, असंगत्व, चिद्रूपत्व और व्यापकत्व का प्रतिपादन करके 'येन भूतान्यशेषेण' (गीता ४।३५) इससे क्षेत्रज्ञ का ब्रह्म से अभिन्नत्व सूचित करके और 'भोक्तारं यज्ञतपसाम्' (गीता ५।२९) इससे तथा 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' एवं 'यो मां पश्यति सर्वत्र' (गीता ६।२९–३०) इससे क्षेत्रज्ञ और ब्रह्म इन दोनों में एकत्व को सिद्ध करके 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' (ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है, यह मेरा मत है–(गीता ७।१८) ऐसा कहकर कंठतः उस

ऐक्य का ही प्रतिपादन कर करोड़ों श्रुति और स्मृतियों में जो ब्रह्म और क्षेत्रज्ञ आत्मा के एकत्व को प्रतिपादित किया गया है उस ऐक्य का ही 'क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि' ('मुझको ही क्षेत्रज्ञ जानो' इससे अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रतिपादन करके भगवानने 'क्षेत्रज्ञ ही ब्रह्म है एवं ब्रह्म ही क्षेत्रज्ञ है' यह कहा है, इसप्रकार क्षेत्रज्ञ व ब्रह्म का अभेद ही मूढ़ और अमूढ़ सभी को ज्ञातव्य है इसलिए 'स च यो यत् प्रभावश्च तत् समासेन मे शृणु' (क्षेत्रज्ञ का जो स्वरूप है और क्षेत्रज्ञ का जो प्रभाव है उसे मुझसे संक्षेप में सुनो–गीता १३।२–३) इसप्रकार कहकर ज्ञेयस्वरूप से उपक्रान्त क्षेत्रज्ञ का ही विधेय (ज्ञातव्य) के प्राधान्य से नपुंसक लिंग (तत् शब्द) द्वारा 'ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि' (जो ज्ञेय है, उसको कहूँगा' ऐसा परामर्श करके उसके यथार्थ ब्रह्मस्वरूप का बोधन करने के लिये 'अनादिमत् परंब्रह्म' ऐसा कहा है। इससे क्षेत्रज्ञ और ब्रह्म दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है। अतः क्षेत्रज्ञ के लिये जो वाक्य उपक्रम में कहा गया है उसका अर्थ क्षेत्रज्ञ और ब्रह्म के अभिन्नत्व का प्रतिपादक है, विवेक ज्ञान से युक्त निपुण विद्वानों को ऐसा जानना चहिए, यह सिद्ध हुआ अर्थात् सर्व शरीरों में क्षेत्रज्ञ रूप में एकमात्र परब्रह्म ही ज्ञेय है, यह सिद्ध हुआ। इसलिये 'अनादिमत् परंब्रह्म' इससे ब्रह्म की सब दृश्यों से विलक्षणता (पृथकत्व) सूचित करके 'स च यत् प्रभावश्च' इसमें 'यत्' शब्द से कहा गया क्षेत्रज्ञ के स्वरूप का 'नेति नेतीत्यागृह्यो नहि गृह्यते', 'अर्थात् आदेशो नेति नेति' अर्थात् यह नहीं, यह नहीं, यह आत्मा इन्द्रियों से ग्रहणयोग्य नहीं है, अतः उसका ग्रहण नहीं किया जाता', इसलिये 'नेति नेति यह आदेश है' इत्यादि श्रुति के अर्थ के अनुसार अतत् के (दृश्य के) निषेध द्वारा बोधन करने के लिये कहते हैं–**न सत् न असत् उच्यते**—नाम, रूप, क्रिया, जाति, गुण विशेषों से जो 'यह, यह' कहा जा सकता है वह नामरूपादियुक्त होकर अभिव्यक्त महत्तत्व आदि सम्पूर्ण कार्यसमुदाय (दृश्य विश्वप्रपञ्च) 'सत्' कहलाता है। उसका कारण अव्यक्त है तथा कार्य से वह विलक्षण है इसलिये वह 'असत्' कहलाता है। उक्त नामरूप क्रिया जाति आदि लक्षण वाला 'सत्' ब्रह्म नहीं हो सकता क्योंकि वह जन्मवान् है एवं नामरूप आदि से युक्त होने के कारण घट के समान दृश्य है किन्तु ब्रह्म उससे विलक्षण है क्योंकि ब्रह्म का जन्म नहीं है। इसलिये श्रुति कहती है–'अजो नित्यः' इत्यादि (ब्रह्म जन्मरहित तथा नित्य

है) ब्रह्म नामरूप आदिवाला भी नहीं है क्योंकि श्रुति कहती है—'अग्राह्यमगोत्रमशब्दमस्पर्शमरूपम्' (ब्रह्म इन्द्रिय आदि से अग्राह्य है तथा अगोत्र, अशब्द, अस्पर्श, अरूप है)। ब्रह्म दृश्य भी नहीं है क्योंकि श्रुति में उसे 'अदृष्टमव्यवहार्यम्' (अदृष्ट, अव्यवहार्य) कहा है। अतः यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म महदादि (महत्तत्त्व आदि) सब विकारशील पदार्थों से भिन्न है। इसलिये 'न सत्' (वह सत् नहीं है) ऐसा कहकर कार्य पदार्थों में (दृश्यप्रपञ्च में) ब्रह्मत्व का निषेध करके 'न असत्' कहकर कारण में भी ब्रह्मत्व का निषेध करते हैं। सत् से विलक्षण सम्पूर्ण जगत का कारण जो अव्याकृत है, वह ब्रह्म नहीं है, क्योंकि वह बीज के समान अवयवविशिष्ट, ज्ञेय (दृश्य) तथा जड़ है। यदि कहो कि कार्य सावयवत्वादि धर्मों से विशिष्ट देखने में आता है अतः कारण भी उन धर्मों से विशिष्ट होगा क्योंकि मिट्टी आदि में वैसा ही देखने में आता है और न्यायशास्त्र भी कहता है कि 'कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते' अर्थात् कारण के गुण ही कार्य के गुणों का आरम्भ करते हैं। सावयव पदार्थ विकारी अवश्य होगा और जो विकारी है वह अनित्य है अतः जगत् का कारण अव्याकृत अनित्य ही होगा। 'मैं अज्ञ हूँ' इस प्रकार अव्यक्त में ज्ञेयत्व स्पष्ट है और ज्ञेय होने के कारण अव्यक्त जड़ है किन्तु परब्रह्म उससे विलक्षण है। ब्रह्म सावयव नहीं है क्योंकि श्रुति ने ब्रह्म को निष्कल (अंशशून्य) तथा निष्क्रिय कहा है। ब्रह्म जड़ भी नहीं है क्योंकि श्रुति के अनुसार ब्रह्म 'साक्षी चेता' है। ब्रह्म ज्ञेय भी नहीं है क्योंकि श्रुति में कहा है—'स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता' अर्थात् वह वेद्य (ज्ञेय) सब वस्तु को जानता है, उसका कोई वेदिता नहीं है। सत् शब्द से कार्य (व्यक्त) तथा असत् शब्द के कारण (अव्यक्त) दोनों में ब्रह्मत्व का निषेध करने पर उनके निषेध की अवधिभूत दूसरी किसी वस्तु को हम नहीं देखते हैं, अतः इससे ब्रह्म का अभाव ही सिद्ध होता है एवं ज्ञेय शब्द का अर्थ अप्रामाणिक ही है—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि इस विषय पर आप से प्रश्न होगा कि क्या उन दोनों के निषेध का अवधिभूत अभाव सत् है या असत् है या सदसदात्मक है और वह स्वयं भासता है (प्रकाशित होता है) अथवा दूसरे से ? अभाव सत् नहीं हो सकता क्योंकि वह सद्रूप होने के कारण (सत् के अन्तर्गत होने के कारण) 'सत् नहीं है' ऐसा निषेध करने पर फिर वह अपने निषेध की अवधि नहीं हो

सकता। वह असत् भी नहीं है क्योंकि अपनी सत्ता से रहित वह असत् खरगोश के सींग के समान शून्यस्वरूप होने के कारण निषेध की अवधि नहीं हो सकता है। वह सत् तथा असत् उभयात्मक भी नहीं हो सकता क्योंकि सत् और असत् परस्पर विरुद्ध होने के कारण दोनों का एक अधिकरण नहीं हो सकता अतः एक ही वस्तु का सत् और असत् भाव असम्भव है। यदि माना भी जाय कि ब्रह्म सत् व असत् उभयात्मक है तो 'अभाव है' ऐसा कहने पर अभाव में भावत्व रहने के कारण 'अभाव है' इस प्रकार निर्देश युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि 'यह है' इस प्रकार प्रत्यक्षरूप से निर्देश भाव पदार्थ के सम्बन्ध में ही होता है, अभाव का नहीं क्योंकि अभाव में विषय और विषयी का एक दूसरे के अवयवों से संयोग नहीं होता है। विषय और विषयी के अवयवों से संयोग होने पर ही घटादि में विषयत्व देखने में आता है, असत् में नहीं। चक्षु का विषय होकर जो 'है' रूप से प्रतीत होता है, वह भाव ही होता है, अभाव नहीं क्योंकि अस्तित्व और अभावत्व इन दोनों का एक अधिकरण नहीं हो सकता। चतुर्थ पक्ष भी युक्त नहीं है अर्थात् अभाव स्वतः नहीं भासता है क्योंकि अभाव ज्ञेय है, अतः वह जड़ होने के कारण उसका घट के समान स्वतः भान असंभव है। और यदि कहो कि दूसरे से ही उसका भान होता है तो इसमें प्रश्न होगा कि क्या अभाव का भासक पदार्थ विद्यमान है या नहीं? यदि मानो कि अभाव का भासक (प्रकाश करनेवाला) पदार्थ विद्यमान नहीं है तो वह युक्त नहीं है क्योंकि उसके अभाव में, सूर्य के अभाव में घट आदि के समान, अभाव के भान का अभाव हो जायगा। और यदि कहो कि अभाव का भासक पदार्थ है तो हम कहते हैं कि जो अभाव का भासक पदार्थ है वही ब्रह्म है। ब्रह्म के सद्भाव में तुम ही प्रमाण हो (जीव ब्रह्म ही है अतः तुम्हारा अस्तित्व ही ब्रह्म का अस्तित्व प्रमाणित कर रहा है) और श्रुति भी इस विषय पर प्रमाण है, यथा 'अन्यदेव तद्विदितात्' (वह विदित पदार्थों से अन्य ही है); 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (वह धर्म से अन्य, अधर्म से अन्य) इत्यादि। स्मृति भी कहती है—'न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः' (पुरुष न प्रकृति है और न तो विकृति है), सुषुतवच्छून्यवदप्रतर्क्यं तन्मूलभूतं पदमामनन्ति' (सुषुत के समान, शून्य के समान उसके मूलभूत पद है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं)। श्रुति ने 'अदृश्य में, अनात्म्य में',

'वह स्थूल नहीं, अणु नहीं' इत्यादि कहकर अध्यस्त सभी विशेषों से सम्पूर्णतया निषेध कर ही ब्रह्म अवगत होता है ऐसा सिद्ध किया है अर्थात् ज्ञेय ब्रह्म का प्रमाण सभी श्रुति में प्रसिद्ध है। अतः सत् और असत् से भिन्न, उनके निषेध का अवधिभूत, उनका अवभासक, निर्विशेष, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, परमानन्द तथा अद्वितीय परब्रह्म को 'यह मैं ही हूँ' इस प्रकार मुमुक्षुओं को अपने आत्मरूप से जो वस्तु ज्ञातव्य (जानने योग्य) है वह न तो सत् है और न असत् है, यह सिद्ध हुआ।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व पाँच श्लोकों में अमानित्वादि चौवीस ज्ञान के साधन भगवान् ने बतलाए। अब उन साधनों से किस यथार्थ तत्व को जाना जाता है उसे स्पष्ट कर रहे हैं भगवान् अर्जुन को कहते हैं इन सब साधनों का जो ज्ञेय है उसका यथार्थ स्वरूप मैं तुमको बतलाऊँगा जिसको जानकर सब मुमुक्षु अमृतत्व (परमानन्द रूप मोक्ष) को प्राप्त होता है। वह ज्ञेय वस्तु क्या है ? इस पर कहते हैं वह **परम ब्रह्म**—है।

प्रश्न—उसका स्वरूप क्या है ?

उत्तर—वह अनादिमत है अर्थात् उसका आदि (उत्पत्ति) नहीं है अर्थात् वह नित्य शाश्वत, सनातन है उसको प्रकाश करने के लिए किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा नहीं है क्योंकि वह स्वयंप्रकाश है (चैतन्य स्वरूप है)। एवं सबको प्रकाश करने वाला भी है इसलिए वह परम है अर्थात् सर्व श्रेष्ठ है। वह पूर्ण एवं अनन्त है इसलिये वह **ब्रह्म**—कहलाता है जिससे अन्य कोई बड़ा नहीं है उसे ही ब्रह्म कहा जाता है)।

प्रश्न—यदि वह ज्ञेय हो तो क्या अन्यान्य दृश्य वस्तु के समान वह इन्द्रियों का विषय है ?

उत्तर—नहीं। इन्द्रियाँ मन बुद्धि इत्यादि सभी उससे प्रकाशित होकर ही अर्थात् जड़ इन्द्रियाँ उससे चेतनायुक्त होकर ही अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होती हैं इसलिए द्रष्टा या विज्ञाता सर्वात्मा ब्रह्म को इन्द्रियाँ प्रकाशित नहीं कर सकती है अतः वह सत् नहीं है अर्थात् सभी दृश्य प्रपंच जिस प्रकार 'है' इसप्रकार बुद्धिवृत्ति का विषय होते हैं उसी प्रकार 'इदम् अस्ति' (यह है) इसप्रकार इन्द्रियों के विषय नहीं हो सकते हैं इसलिये श्रुति में कहा है 'तदेव ब्रह्म तद्विद्धि यद्

इदम् नेदमुपासते' अर्थात् यह ब्रह्म है अर्थात् ब्रह्म दृश्य है इसप्रकार जो ब्रह्म की उपासना करता है वह ब्रह्म को नहीं जानता है। जो दृश्य वस्तु त्रिगुणात्मिका प्रकृति के कार्यरूप से भासता है एवं वह है इसप्रकार प्रतीत होता है उसको सत् कहा जाता है जब विश्व प्रपंच रूप कार्य त्रिगुण सत्व रजः तमः साम्यावस्थारूप अव्यक्त अवस्था में लय होते हैं एवं उस अव्यक्त अवस्था को असत् कहा जाता है। कार्य सत् एवं कारण असत् एवं मूल प्रकृति अव्यक्त दोनों का ही अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य स्वरूप ब्रह्म है। यह वस्तु है तथा यह वस्तु नहीं है इन दोनों का ही विज्ञाता या द्रष्टा वह परम् ब्रह्म ही है इसलिए वह न तो सत् है और न असत् है अर्थात् कार्य तथा कारण से सदा ही विलक्षण है।

प्रश्न—यदि वह है (सत्) एवं नहीं है (असत्) ये दोनों प्रतीति के अविषय हैं तब उसको 'ज्ञेय' (जानने के योग्य) पदार्थ क्यों कहा गया है?

उत्तर—सत् एवं असत् से विलक्षण वस्तु को जानने के लिये मुमुक्षु को सत् (दृश्य प्रपंच) एवं असत् (मूल प्रकृति या अव्यक्त) को पार होकर सर्वाधिष्ठान सत्ता में लय हो जाना पड़ेगा भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि नदी कभी समुद्र का यथार्थ स्वरूप जान नहीं सकेगी अथवा प्राप्त नहीं हो सकेगी जब तक वह समुद्र से स्वल्प माया से भी पृथक् रहे। नदी जब समुद्र में अपने को लय कर समुद्र में लय हो जायगी तभी समुद्र का यथार्थ स्वरूप जान सकेगी उसी प्रकार परम ब्रह्म को जानना और परम ब्रह्म हो जाना एक ही बात है इसलिये वेद में कहा गया है 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'। निर्विकल्प समाधि द्वारा ही कार्य एवं कारण से अतीत होकर सत् असत् से विलक्षण परमात्मा के साथ एक होकर उसको जानना पड़ेगा अर्थात् एकात्म भाव को अनुभव करना पड़ेगा यही इस श्लोक का तात्पर्य है। नमक के पिण्ड को समुद्र को मापने के लिये प्रयत्न करने से जैसी अवस्था होती है उसी प्रकार मुमुक्षु को भी ज्ञेय ब्रह्म को जानने के लिये प्रयत्न करने पर ब्रह्म स्वरूपता ही प्राप्त होती है इसलिये भगवान् ने कहा है इसको जानने पर अमृतत्व प्राप्त होता है। जब साधक ब्रह्म ही होता है तब द्वैत नहीं रहने के कारण यह सत् है यह असत् है ऐसा कौन बोलेगा इसलिये ब्रह्म का स्वरूप वाणी मन इत्यादि का अविषय है श्रुति भी इसलिये कहती है 'विज्ञातारमरे

केन विजानीयात्' (बृ० उ०) अर्थात् जो स्वयं सबका विज्ञाता है (जानने वाला है) उसको किससे जानोगे। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० उ०) अर्थात् वाणी मन जहाँ से लौट आती है वही आनन्द स्वरूप परम ब्रह्म है। सत् या असत् नहीं है इसप्रकार कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि ब्रह्म एक शून्य पदार्थ है किन्तु वह स्वयं ही अपने को जान सकता है अर्थात् स्वयं ज्ञाता तथा ज्ञेय है यही कहने का तात्पर्य है।

पूर्व श्लोक में कहा है कि सत् शब्द द्वारा जो विषयप्रतीति हो सकती है ब्रह्म उस प्रकार का विषय नहीं है। इससे ब्रह्म के असत्व की (सत्ता के अभाव की) आशंका होने पर 'वह असत् नहीं है' इस वाक्य से उसका निराकरण कर देने पर भी विस्तार से उस आशंका की निवृत्ति के लिये समस्त प्राणियों की इन्द्रियादि रूप उपाधि के द्वारा चेतन क्षेत्रज्ञ रूप से उस ज्ञेय ब्रह्म के अस्तित्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

अन्वय—तत् सर्वतः पाणि-पादम् सर्वतः अक्षि-शिरोमुखम्, सर्वतः श्रुतिमत् (सत्) लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति।

अनुवाद—वह ज्ञेय ब्रह्म सब ओर हाथ और पैरवाला है, तथा सर्वत्र नेत्र शिर और मुख वाला है तथा वह सब ओर कान वाला है। अतः वह (ब्रह्म) समस्त प्राणीसमुदाय में सबको व्याप्त करके स्थित है।

भाष्यदीपिका—सर्वतः पाणिपादम्—उस ज्ञेय ब्रह्म के हाथ पैर सर्वत्र फैले हुए हैं [समस्त शरीरों में अचेतन हाथ और पैरों को जो चेतन क्षेत्रज्ञ प्रेरित करने वाला है अर्थात् अपने-अपने व्यापारों में लगाने वाला है उसे 'सर्वतः पाणिपाद' कहा गया है। वही ज्ञेय ब्रह्म है क्योंकि अचेतन हाथ-पैरों की सारी प्रवृत्तियाँ उस चेतन को अधिष्ठान करके ही होती हैं। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण अचेतन (जड़) हाथ-पैर इत्यादि की प्रवृत्ति के हेतुभूत उस चेतन ब्रह्म में असत्ता की आशंका नहीं हो सकती है (मधुसूदन)] सकल प्राणियों के इन्द्रियरूप उपाधि के कार्य समूह द्वारा उनके परिचालक (प्रेरक) एक चेतन क्षेत्रज्ञ ब्रह्म का अस्तित्व सिद्ध होता है क्योंकि

कोई चेतनसत्ता अधिष्ठान रूप से विद्यमान रहने पर ही अचेतन (जड़) हाथ-पैर इत्यादि इन्द्रियों की प्रवृत्ति सम्भव होती है अन्यथा नहीं। क्षेत्ररूप उपाधि के कारण ही वह ज्ञेय ब्रह्म क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। क्षेत्ररूप उपाधि हाथ पैर इत्यादि भेद से अनेक प्रकार से विभक्त है। वास्तव में क्षेत्र की उपाधियों के भेद से किये हुए समस्त भेद क्षेत्रज्ञ में मिथ्या ही कल्पित है अतः उन सब भेदों को हटाकर ज्ञेय ब्रह्म का स्वरूप 'वह न सत् कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है' ऐसा बतलाया गया है। ज्ञेय ब्रह्म का अस्तित्व समझाने के लिये उपाधिकृत मिथ्या रूपों की भी उसके धर्मों के समान कल्पना करके 'वह सब ओर से हाथ-पैर वाला है' इत्यादि बतलाया जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि कल्पित भेद द्वारा वस्तु के यथार्थ स्वरूप का कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, अतः क्षेत्ररूप कल्पित उपाधि का निषेध कर जो निर्विशेष सत्ता रहती है वही पूर्ण आनन्द स्वरूप ब्रह्म है एवं उसको ही मुमुक्षु लोग जानकर (साक्षात् आत्मरूप से अनुभव कर) अमृतत्व प्राप्त होते हैं। (गीता १३।१२)। इसलिये उस ब्रह्म को ज्ञेय (एकमात्र जानने के योग्य) पदार्थ कहा गया है। सम्प्रदाय परम्परा को जानने वालों का भी कहना है कि 'अध्यारोप और अपवाद द्वारा प्रपंच-रहित परमात्मा की व्याख्या की जाती है। सर्वत्र अर्थात् सब शरीरों के अंग रूप से दीखने वाली हाथ पैर आदि इन्द्रियाँ ब्रह्म की शक्ति से (चेतन सत्ता से) ही स्वकार्य में (अपने-अपने कार्य में) प्रवृत्त होती हैं, अतः ये सब ज्ञेय की सत्ता के (अस्तित्व के) चिह्न होने के कारण उपचार से ज्ञेय के धर्म कहे जाते हैं। ऐसे ही और सब की व्याख्या कर लेनी चाहिये। [साक्षात् रूप से निर्देश न कर गौण रूप से लक्षणादि द्वारा किसी वस्तु को निर्देश करना 'उपचार' है। ब्रह्म का विधिमुख से साक्षात् निर्देश नहीं किया जाता है, इसलिये उसे 'सत्' शब्द से सूचित नहीं किया जाता है तथापि वह 'असत्' नहीं है क्योंकि उस ब्रह्मसत्ता के अधिष्ठानत्व से ही देह तथा समस्त इन्द्रियादि अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त होती हैं। अतः सर्व दृश्य वस्तु का अधिष्ठान तथा प्रेरक होने के कारण ब्रह्म का अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जाता है अर्थात् श्लोक में अक्षि सिर मुख इत्यादि जो जो विशेषण दिया गया है उनसे ब्रह्म का अस्तित्व ही सिद्ध होता है।]

सर्वतः अक्षिशिरोमुखम्—उस ज्ञेय ब्रह्म के आँख, शिर और मुख सर्वत्र है अर्थात् सब ओर विद्यमान है। सकल प्राणियों के आँख, शिर और मुख जिसके द्वारा प्रवृत्त होते हैं अर्थात् जिसकी सत्ता से सत्तावान् होकर अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त होते हैं उस अधिष्ठानरूप ब्रह्मसत्ता को 'सर्वतः अक्षिशिरोमुख' कहा जाता है। इसप्रकार **सर्वतः श्रुतिमत्**—उसका कर्ण-इन्द्रिय सब ओर फैला हुआ है अर्थात् सब प्राणियों के श्रवण इन्द्रिय के प्रवर्तकरूप से वह विद्यमान है। इसप्रकार **लोके**—लोक में अर्थात् समस्त प्राणियों में **सर्वम् आवृत्य तिष्ठति**—वह सबको व्याप्त करके स्थित है। [तात्पर्य यह है कि देह, इन्द्रियादि अचेतन वर्ग की प्रवृत्ति के हेतुभूत उस चेतन ब्रह्म में असत्ता की आशंका नहीं हो सकती क्योंकि सम्पूर्ण प्राणि समूहों में एक नित्य तथा विभु (सर्वव्यापी) ब्रह्म ही समस्त अचेतन वर्ग को आवृत करके अर्थात् अपनी सत्ता स्फूर्ति से आध्यासिक सम्बन्ध द्वारा व्याप्त करके निर्विकाररूप से स्थित है। उसका अपने में अध्यस्त जड़ प्रपञ्च के अणुमात्र दोष का भी सम्बन्ध नहीं है। अयस्कान्त मणि (चुम्बक लोहे) के सान्निध्य में जिसप्रकार लोहकणसमूह कार्यों में प्रवृत्त होते हैं उसी प्रकार नित्य, अविकारी, उदासीन एक चैतन्य सत्ता के (जिसको क्षेत्रज्ञ आत्मा या ब्रह्म कहा गया है उसके) सान्निध्य में सभी प्राणियों को जड़ देह तथा इन्द्रियादि चेतना युक्त होकर कर्म में प्रवृत्त होते हैं। समस्त देह में एक ही सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा विद्यमान है। अतः वह ब्रह्मस्वरूप आत्मा सर्व इन्द्रियादि का प्रवर्तक होने के कारण उपचार से सर्वत्र उनका ही हाथ, पाँव, आँख, सिर, मुख, कर्ण आदि हैं, ऐसा कहा गया है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—पूर्व श्लोक में जैसा कहा गया है उसीप्रकार ब्रह्म यदि सत् और असत् से विलक्षण हो तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छा० उ० ३।१४।१) अर्थात् निःसन्देह यह सब ब्रह्म है, ब्रह्मैवेदं सर्वम् (नृ० ता० ७।३) अर्थात् यह सब ब्रह्म ही है इत्यादि श्रुतियों से विरोध होगा—इसप्रकार शंका होने पर 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वे० उ० ६।८) इत्यादि श्रुति वाक्यों से ब्रह्म की अचिन्त्यशक्तिमत्ता प्रसिद्ध होने के कारण उसकी सर्वरूपता 'सर्वतः' इत्यादि ५ श्लोकों द्वारा दिखाते हुए कहते हैं—

सर्वतः पाणिपादम्—जिसके सब स्थान में हाथ और पैर हैं **सर्वतः अक्षिशिरोमुखम्**—तथा जिसकी आँख, सिर और मुख भी सब स्थान पर हैं **सर्वतः श्रुतिमल्लोके**—जो सर्वत्र श्रवणेन्द्रिय से युक्त है **तत् सर्वम् आवृत्य तिष्ठति**—वह जगत् में सबको व्याप्त करके स्थित है। कहने का अभिप्राय यह है कि वह (ज्ञेय ब्रह्म) सब प्राणियों की प्रवृत्तियों द्वारा अर्थात् हाथ, पैर आदि उपाधियों के द्वारा समस्त व्यवहार के अधिष्ठान (आधार) रूप से स्थित है।

(२) **शंकरानन्द**—'स च यो यत्प्रभावश्च' इस श्लोक में (१३।३) 'यत्' शब्द का जो परिचय देने की प्रतिज्ञा भगवान् ने की है उस शब्द से उपलक्षित क्षेत्रज्ञ आत्मा का अपना स्वरूप जो प्रकृति और प्राकृत (प्रकृति के कार्य) से विलक्षण है एवं जो स्वरूप यतियों को विदेह मुक्ति की प्राप्ति के लिये अपने आत्मरूप से ज्ञातव्य है, उसे निरूपण करके अब सम्पूर्ण श्रुतियों में प्रसिद्ध होने पर भी ब्रह्म विदित और अविदित से भिन्न होने के कारण परोक्ष है, अतः उसका सद्भाव (सत्ता) के सम्बन्ध में संशय रह सकता है। इस कारण 'जिसकी केवल सन्निधिमात्र से देह, इन्द्रिय आदि चेष्टा करते हैं, उनकी प्रवृत्ति का कारण ब्रह्म ही है' इस प्रकार की युक्ति से उसका अस्तित्व अनुमान से जाना जा सकता है यह समझाने के लिये 'यत् प्रभावश्च' इस विशेषण से समस्त प्राणियों के कारणरूप उपाधि से विशेषित क्षेत्रज्ञ (ज्ञेय ब्रह्म) के श्रुतिप्रसिद्ध स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं—सर्वतः इत्यादि से जिन अनादिमत्त्व आदि लक्षण वाले परब्रह्म का ज्ञेयरूप से उपक्रम किया गया है वह ब्रह्म **सर्वतः पाणिपादम्**—सभी जगह हाथ-पैर वाला है अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियों के हाथ-पैर उनके हाथ-पैर है ['पाणिपाद' शब्द सभी कर्मेन्द्रियों का उपलक्षण है]। **सर्वतः अक्षिशिरोमुखम्**—उसकी आँखें, सिर और मुख सब जगह हैं। [अक्षि शब्द से ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि उपलक्षित हो रही हैं। 'सर्वतः शिरः' ग्रहण अनेक देहों का सूचन करने के लिये है। घट, मठ आदि विशेषणों से जैसे आकाश विशेषित होता है, वैसे ही ब्रह्मा से लेकर चींटी तक की देह के विशेषण नामरूपों से ब्रह्म स्वयं विशेषित होता है—यह कहने का अभिप्राय है]। **सर्वतः श्रुतिमत्**—उसका सर्वत्र श्रुति (श्रोत्र अर्थात् कर्ण) है। **लोके तत् सर्वम् आवृत्य तिष्ठति**—जो दृश्यरूप से प्रकाशित

होता है अर्थात् देखा जाता है वह लोक है अर्थात् प्राणीसमूह उसमें 'लोके' यह द्वितीया के अर्थ में सप्तमी है अर्थात् 'लोके' शब्द का अर्थ है प्राणीसमुदाय को (प्रकृति तथा प्रकृति के सब कार्य को) वह क्षेत्रज्ञ ब्रह्म बाहर भीतर सर्वत्र चैतन्यरूप से व्याप्त कर (जैसे आकाश घट, मठ आदि को व्याप्त कर स्थित है, वैसे ही व्याप्त कर) स्थित है। जैसे लोह चुम्बक लोहे को चलाता है, वैसे ही वह उससे व्याप्त देह, इन्द्रिय आदि को चलाता है, स्वयं नहीं चलता–यह कहने का तात्पर्य है। निर्विशेष ब्रह्म का यह पाणिपाद आदि विशेषणों से विशेषित रूप औपाधिक और मायिक है–वह स्वाभाविक नहीं है क्योंकि यदि स्वभावसिद्ध होता तो उनका निषेध नहीं हो सकता था। विशेषरूप का ही निषेध हो सकता है, इसलिये कहा गया है कि 'न वह सत् कहा जाता है और न असत्'। यदि शंका हो कि इस प्रकार होने पर ब्रह्म का सगुण (विशेष) रूप अप्रमाणिक होगा तो इसके उत्तर में कहा जायगा कि वह अप्रामाणिक नहीं है क्योंकि श्रुतिं भी कहती है 'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति। सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं सुहृत्' अर्थात् वह ब्रह्म सर्वत्र हाथ, पैर, आँख, मुख तथा श्रोत्र से युक्त है। वह सब इन्द्रियों के गुणों का अभिभासक (प्रकाशक) है परन्तु स्वयं सब इन्द्रियों से रहित है। वह सबका प्रभु तथा ईशान (ईश्वर) है तथा सबका सुहृत् भी है। व्यवहार में वह ईश्वर का रूप सत्य ही है एवं उस ईश्वर का आराधन करके ही उसके प्रसाद से मुमुक्षु जीव मुक्ति को प्राप्त होता है। इसलिये भगवान् ने भी कहा है 'मत्कर्मकृत् मत्परमः' इत्यादि (गीता ११।५५)। निर्विशेष क्षेत्रज्ञ आत्मा के सद्भाव का प्रकाश करने के लिये ही सविशेष स्वरूप का वर्णन किया गया है। सर्वत्र हाथ पैर आदि विशिष्ट सविशेष स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। क्षेत्र को जो जानता है अथवा क्षेत्र के धर्मों से जो स्वयं ज्ञात होता है, वह क्षेत्रज्ञ है। पाणि, पाद, बुद्धि, इन्द्रियादि स्वयं जड़ होने के कारण चर्म एवं काष्ठ की प्रतिमा के समान चेतनशक्ति के बल से ही अपने-अपने व्यापारों में प्रवृत्त हो सकते हैं। युक्ति से भी यह सिद्ध होता है यथा–देह इन्द्रियादि स्वयं जड़ है, दूसरे अधिष्ठाता से चेतन होकर बुद्धिपूर्वक वे कर्म में प्रवृत्त होते हैं, रथादि के समान इसप्रकार समस्त प्राणियों की देह इन्द्रियादि

उपाधियों से ज्ञेय ब्रह्म का अस्तित्व जानने में आता है। इसलिये यद्यपि असंग क्षेत्रज्ञ आत्मा का हाथ पैर वाला होना औपाधिक मिथ्याभूत है (अर्थात् इसप्रकार हाथ पैर वाला होना उपाधि का आश्रय करके ही सम्भव है, अतः वह मिथ्या है) ऐसा स्वीकार करके भगवान् ने मुमुक्षु को अपने स्वरूप का तत्व समझाने के लिये कहा है। जैसे चन्द्र को दिखाने के लिये वृक्ष शाखा के अग्र में दृष्टि आकर्षित कर चन्द्र को निर्देश किया जाता है अतः वही ब्रह्म स्वरूप आत्मा का पारमार्थिक रूप है जो पूर्व श्लोक में कहा गया है कि वह न तो सत् है और न असत् है।' इससे यह सिद्ध हुआ है कि (१) परस्पर भिन्न सब क्षेत्र में क्षेत्रज्ञ आत्मा एक ही है (२) वह क्षेत्रज्ञ आत्मा अपने सान्निध्य से तत्-तत् देह इन्द्रियादि की प्रवृत्ति का निमित्त है। (३) प्रवर्तक होने से उस प्रवृत्त होने वाले क्षेत्र से भिन्न है। (४) वह ब्रह्मस्वरूप आत्मा निरवयव, नित्य, चेतन, असंग, असंसारी तथा पूर्ण है।

(३) **नारायणी टीका**—नवम अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में भगवान ने कहा है कि वे केवल अमृत (मृत्युहीन) ही नहीं हैं परन्तु मृत्यु भी हैं तथा वह सत् एवम् असत् दोनों ही हैं और पूर्ववर्ती श्लोक में उन्होंने कहा है कि वे केवल अमृत (मृत्युरहित) स्वरूप हैं एवं उनको जान लेने पर जीव अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है फिर यह भी कहा कि वे सत् भी नहीं हैं और असत् भी नहीं हैं अतः शंका होगी कि इस प्रकार विरुद्ध उक्तियों का समन्वय कैसे हो सकता है? दूसरा प्रश्न यह है कि यदि परमब्रह्म स्वरूप भगवान् पृथक रूप से ज्ञेय नहीं हैं अर्थात् इन्द्रियों तथा मन, बुद्धि के विषय नहीं हैं अतः वाणी के भी विषय नहीं हैं तो उनके सम्बन्ध में 'प्रवक्ष्यामि' कहकर भगवान् वाणी से अर्जुन को उनके यथार्थ स्वरूपको कैसे समझायेंगे? कहने का अभिप्राय यह है कि श्रुतिवाक्य के अनुसार जहाँ से वाणी तथा मन लौट आते हैं उनका वर्णन वाणी से कैसे हो सकता है? अतः 'प्रवक्ष्यामि' शब्द का क्या तात्पर्य है? (**उत्तर**)—यह कहना ठीक है कि सत् (कार्य) एवं असत् (कारण) से अतीत निष्प्रपंच, अद्वितीय परमब्रह्म का स्वरूप वाणी का जो विषय नहीं है अतः वेदादि शास्त्रों ने तटस्थलक्षण द्वारा ही अर्थात् ब्रह्म का सगुण या ईश्वर स्वरूप का वर्णन करके ही ब्रह्म का अस्तित्व प्रतिपादन किया है। 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि द्वारा अर्थात्

माया की सृष्टि, स्थिति, प्रलय कार्य निर्गुण, निष्क्रिय निर्विकार ब्रह्म में आरोपित कर जिस लक्षण द्वारा ब्रह्मका अस्तित्व प्रतिपादन किया जाता है वह तटस्थ लक्षण कहलाता है। इस कारण अपनी महिमा का कीर्तन करते हुए तटस्थ लक्षण के प्रति दृष्टि रख कर भगवान् ने नवम अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में कहा कि मैं अमृत (मृत्यु हीन) हूँ तथा मृत्यु भी मैं हूँ। मैं सत् (प्रकृति के कार्य रूप विश्वप्रपंच) हूँ तथा असत् (सर्व प्रपञ्च के उपशम होने के पश्चात् जो अव्यक्त रूप मूल प्रकृति रहती है वह) भी भी मैं ही हूँ। जिस प्रकार चलचित्र (सीनेमा) के श्वेत वस्त्र खण्ड (White screen) के ऊपर जो कार्य कारणात्यक नाटक दृश्य दिखाई देते हैं उनके जाति, गुण, क्रिया के साथ श्वेतवस्त्र खण्ड का कोई सम्बन्ध नहीं है परन्तु उस अधिष्ठान के विना नाटक दृश्य की प्रतीति होना सम्भव भी नहीं है एवं नाटक दृश्य में किसी वस्तु को (कार्य अथवा कारण को) स्पर्श करने की चेष्टा करने पर हाथ में केवल श्वेतवस्त्र खण्ड ही आ जाता है अर्थात् जिस प्रकार नाट्य दृश्य से श्वेतवस्त्र खण्ड सम्पूर्ण पृथक् रहने पर भी समस्त दृश्यों में वस्त्र खण्ड की सत्ता के अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तु की सत्ता नहीं रहती है उसी प्रकार मायारचित कार्यकारणात्मक विश्व प्रपञ्च से सत्य, ज्ञान तथा अनन्त स्वरूप सर्वभूतात्मा ब्रह्मस्वरूपतः पूर्णतया पृथक् रहने पर भी जब तक प्रपंच का नाटक चलता है तब तक किसी वस्तु की सत्ता उनकी सत्ता से पृथक नहीं है क्योंकि अध्यस्त वस्तु की सत्ता अधिष्ठान की सत्ता से पृथक नही हो सकती है। उसे ही वर्तमान श्लोक में भगवान् ने स्पष्ट किया है। जब तक जीव का विन्दु मात्र भी अहंकार (जीवत्व बुद्धि रहता है तक तक कल्पित जगत् का भान होता है एवं जब तक जगत् की प्रतीति है तब तक मायायुक्त ब्रह्म या ईश्वर की सत्ता भी स्वीकार करनी पड़ती है। समस्त व्यष्टि की सत्ता समष्टि ईश्वर की सत्ता का ही एक-एक अंश है एवं ईश्वर चैतन्य से ही प्रेरित होकर कर्म करना पड़ता है! इसलिये समस्त विश्व ही उस ईश्वर का रूप बन जाता है अर्थात् एक ही ईश्वर अनन्त नाम, रूप तथा क्रिया में प्रकाशित हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है। इसलिये भगवान् कहते हैं कि जिनका तटस्थ लक्षण में मन निविष्ट होने पर उनका निर्गुण, अखण्ड, अद्वय स्वरूप लक्षण का ज्ञान (अनुभव) स्वतः ही होता है उन परमेश्वर का ही हाथ, पैर, आँख, सिर, मुंह, एवं कर्ण सर्वत्र

फैले हुए हैं क्योंकि वह सबको व्याप्त करके स्थित है। कहने का अभिप्राय यह है कि सर्व प्राणियों का हाथ, पैर (अर्थात् सर्व कर्मेन्द्रिय) आँख कान (अर्थात् सर्वज्ञानेन्द्रिय) सिर मुख (अर्थात् अन्य सब अंग) परमेश्वर की सत्ता से ही सत्तावान् होकर चुम्बक लोहे के समान चैतन्य स्वरूप के सानिध्य से चेतनावान् होकर कर्म में प्रवृत्त होते हैं एवं चलचित्र के (Cinema के)दृश्यों में जिस प्रकार प्रतीत होता है कि श्वेतवस्त्र खण्ड ही क्रिया कर रहा है, उसी प्रकार भ्रान्ति से प्रतीत होता है कि परमब्रह्म ही सर्वप्राणियों के हस्त पादादि से युक्त होकर सब कुछ क्रिया कर रहे हैं। श्रुति भी इसलिये कहती हैं—'ध्यायतीव लेलायतीव' अर्थात् मानो ध्यान कर रहा है। मानो चेष्टा कर रहा है। वस्तुतः नाट्य दृश्य में श्वेतवस्त्र खण्ड नाटक के आदि, अन्त, मध्य में जिस प्रकार स्थिर, अचल भाव से एक ही रूप में स्थित रहता है उसी प्रकार विश्व प्रपंच के आदि (सृष्टि), मध्य (स्थिति) तथा अन्त (लय) में किसी प्रकार लिप्त न होकर अपना प्रकाश तथा आध्यासिक सम्बन्ध के द्वारा सबको व्याप्तकर एकही अचल, अविकारी सच्चिदानंद ब्रह्म अपने स्वरूप में सदा ही स्थित रहता है। यही 'तिष्ठति' शब्द का तात्पर्य है। सगुण ब्रह्म की (तटस्थ लक्षण की) उपासना से ही निर्गुण ब्रह्म में (यथार्थ स्वरूप में) पहुँचना सम्भव है। इसलिये यहाँ कारण उपाधि (सगुण भाव) का वर्णन कर क्षेत्रज्ञ ब्रह्म का अस्तित्व प्रतिपादन किया गया है।

[उपाधिरूप हाथ पैर आदि इन्द्रियों के अध्यारोप से किसी को ऐसी शंका न हो कि वह ज्ञेय ब्रह्म उन उपाधियों से युक्त है, इस उद्देश्य से इस श्लोक का आरम्भ किया गया है—]

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

अन्वय—(तत् ज्ञेयम्) सर्वेन्द्रियगुणाभासम्, सर्वेन्द्रियविवर्जितम्, असक्तम्, सर्वभृत् निर्गुणम्, गुणभोक्तृ च एव।

अनुवाद—वह ज्ञेय ब्रह्म समस्त इन्द्रियों से रहित होने पर भी समस्त इन्द्रिय व्यापारों के विषय रूप से भासता है अर्थात् इन्द्रियों के गुणों में (व्यापारों में) यथा

आदान, भ्रमण, दर्शन, श्रवण, अध्यवसाय, संकल्प इत्यादि सकल कर्मों में प्रवृत्त है, ऐसा प्रतीत होता है किन्तु स्वयं इन्द्रियों से रहित है। इस आत्मा का किसी वस्तु के साथ संग (सम्बन्ध) नहीं है तथापि वह सम्पूर्ण माया से रचित हुए पदार्थ को (अधिष्ठानरूप से) धारण एवं पोषण करता है। वह परमार्थतः सत्वरजः तमः गुणों से रहित है किन्तु वह गुणों का भोक्ता है अर्थात् सुख, दुःख और मोह में परिणत हुए सत्वरजः तमः इन गुणों का भोग (ग्रहण) करनेवाला है।

भाष्यदीपिका—सर्वेन्द्रियगुणाभासम्—वह ज्ञेय ब्रह्म समस्त इन्द्रियों के गुणों से अवभासित होता है अर्थात् जाना जाता है। यहाँ इन्द्रिय शब्द से श्रोत्रादि पंचज्ञानेन्द्रियाँ, वाक् आदि पंच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन एवं बुद्धि ये दोनों अन्तःकरण इन सब इन्द्रियों को ग्रहण किया गया है। अन्तःकरण भी ज्ञेय की उपाधि के रूप में अन्य इन्द्रियों के समान ही है बल्कि श्रोत्रादि इन्द्रियों का उपाधित्व अन्तःकरण रूप उपाधि के द्वारा ही होता है, इसलिये भगवान् के कहने का अभिप्राय यह है कि उपाधिरूप अन्तः-करण और बाह्यकरण के गुण जो अध्यवसाय (निश्चय), संकल्प, श्रवण, भाषण इत्यादि हैं, उनके द्वारा वह ज्ञेय ब्रह्म प्रकाशित होता है अर्थात् उन इन्द्रियों के व्यापारों में (क्रिया में) वह व्यापृत है ऐसा क्रियावान्-सा दिखलाई देता है। श्रुति भी इसलिये कहती है–'ध्यायतीव लेलायतीव' (बृह० उ० ४।३।७) अर्थात् मानो वह ध्यान करता है, मानो वह चेष्टा करता है। [यह 'ध्यायतीव' शब्द ज्ञान इन्द्रिय और अन्तःकरण की क्रियाओं का उपलक्षण है अर्थात् दर्शन, श्रवण, चिन्तन, ध्यान इत्यादि जो कुछ व्यापार (क्रिया) ज्ञान-इन्द्रिय तथा अन्तःकरण से सम्पादित हो रहा है उन सबको आत्मा ही कर रहा है ऐसा प्रतीत होता है। 'लेलायति' शब्द कर्मेन्द्रियों के व्यापार का उपलक्षण है अर्थात् कर्मेन्द्रियों से जो कुछ किया जाता है उसे भी आत्मा ही कर रहा है ऐसा प्रतीत होता है। अब शंका होगी कि यदि ऐसा ही हो तो फिर वह ज्ञेय आत्मा स्वयं क्रिया कर रहा है ऐसा क्यों नहीं मान लिया जाता है ? इस पर कहते हैं **सर्वेन्द्रिय-विवर्जितम्**—वह ज्ञेय समस्त इन्द्रियों से (करणों से) रहित है। अतः वह इन्द्रियों के व्यापार से वास्तव में व्यापारवाला नहीं होता है। [रज्जु में सर्पभ्रान्ति होने से कल्पित सर्प रज्जु में पहले नहीं था बाद में भी नहीं रहेगा, अतः बीच में जो उसकी प्रतीति

होती है वह अविद्या के विलास के सिवाय और कुछ नहीं है अर्थात् अज्ञान के कारण ही उस प्रकार की प्रतीति होती है। कल्पित वस्तु की प्रतीति अवस्था में भी उसकी वास्तविक कोई सत्ता नहीं रहती है, इस कारण वह मिथ्या है। जो वस्तु है नहीं परन्तु प्रतीत होता है जैसे रज्जु में सर्प-भ्रान्ति सीपी में चाँदी की भ्रान्ति मरुभूमि में मरीचिका की प्रतीति, स्वप्नदृश्य इत्यादि सब मिथ्या ही हैं। माया के (प्रकृति के) कार्य यह जगत् तथा जागतिक विकार-समुदाय (इन्द्रियादि का व्यापार इत्यादि भी) इसी कारण मिथ्या है क्योंकि रज्जु में कल्पित सर्प के समान वे सभी एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म में कल्पित हैं। यह ही अध्यारोप कहलाता है। इस अध्यारोप द्वारा तेरहवें श्लोक में ब्रह्म को 'सर्वतः पाणिपादम्' इत्यादि विशेषणों से विशिष्ट कर वर्णित किया गया है। वर्तमान श्लोक में उस अध्यारोप का अपवाद कर ब्रह्म परब्रह्म सत् (कार्य) तथा असत् (कारण) से अर्थात् विश्वप्रपञ्च से अतीत है, अर्थात् प्रपञ्चान्तर्गत इन्द्रियादिरूप उपाधि से उसका किसी प्रकार पारमार्थिक सम्बन्ध नहीं है तथा निष्क्रिय, निर्विकार, अखण्ड, अद्वय आत्मस्वरूप परमब्रह्म उसमें आरोपित इन्द्रियादि करण समूहों के व्यापारों में व्यापृत नहीं हो सकता, यह स्पष्ट करने के लिए ब्रह्म को ["**सर्वेन्द्रिय-विवर्जितम्**—कहा है]। श्रुति में भी कहा है—'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (श्वे० उ० ३।१९) अर्थात् 'वह (ईश्वर) बिना पैर और हाथ के चलता और ग्रहण करता है, बिना चक्षु के देखता और विना कानों के सुनता है'। इस श्रुतिवाक्य का अभिप्राय यह है कि वह ज्ञेयब्रह्म समस्त इन्द्रियरूप उपाधियों के गुणों की अनुरूपता प्राप्त करने में समर्थ है, वह साक्षात् गमनादि क्रिया से युक्त है ऐसा बतलाना अभिप्राय नहीं है [जैसे किसी जलपात्र में जल कम्पित होने से उसमें प्रतिबिम्बित सूर्य भी कम्पित हो रहा है ऐसा देखा जाता है परन्तु आकाशस्थित सूर्य कम्पनादि व्यापार में लिप्त न होकर अपने स्वरूप में सदा ही स्थिर रहता है] उसी प्रकार आत्मा भी भ्रान्ति से बुद्धि तथा इन्द्रियादि के चाञ्चल्य का अनुकरण कर सर्वकर्मों में **व्यापृत** है ऐसा प्रतीत होता है परन्तु परमार्थतः वह सदा ही अपने अचल स्वरूप में स्थित रहता है। इन्द्रियादि के गुणों का अनुकरण कर आत्मा क्रियावान् प्रतीत होता है तो उपर्युक्त श्रुतिवाक्य का अर्थ भी आत्मा की

क्रियाशीलता बतलाना ही अभिप्राय है,—ऐसा यदि हम कहे तो ? उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उक्त मंत्र में जो कुछ कहा है वह 'अन्धो मणिमविन्दत' अर्थात् अन्धे ने मणि प्राप्त की इत्यादि मन्त्र के समान वह अर्थवाद है (प्रशंसामात्र है)। श्रुति का यथार्थ निर्णय करने में अर्थवाद का कोई विशेष तात्पर्य नहीं है। अतः सर्वकर्म-रहित होने के कारण ब्रह्मस्वरूपतः सर्व इन्द्रियो के व्यापारों से वर्जित है—यही प्रकृत अर्थ है (आनन्दगिरि)। वेद में इसके लिए कहा है–'अन्धो मणिमविन्दत'। अन्धे के लिए मणि देखना असम्भव है अतः यह भी अर्थवाद ही है मन्त्रका तात्पर्य यह है कि मानो अन्धे ने मणि देखा था। उसी प्रकार 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' इत्यादि मन्त्रका भी अर्थ है ब्रह्म पाणिपाद (हाथ पैर) रहित होकर भी तथा किसी वस्तुको ग्रहण न करते हुए भी हस्तपादादि उपाधि से युक्त होकर मानो ग्रहण कर रहा है किन्तु परमार्थतः वह सर्व इन्द्रियादि से वर्जित ही है अतः **असक्तम्**—वह सर्वप्रकार संग से (सम्बन्धों से) रहित है। श्रुति भी इसलिये कहती है कि 'असंगो ह्ययमात्मा' (बृह०उ०) अर्थात् आत्मा सर्व-संग से वर्जित है, तथापि वह माया से **सर्वभृत्**—वह ज्ञेय ब्रह्म सबको धारण करनेवाला है। [जो सद्रूप से सम्पूर्ण कल्पित पदार्थों को धारण और पोषण करे वह 'सर्वभृत्' कहलाता है, क्योंकि बिना अधिष्ठान के कोई भ्रम नहीं होता है–(मधुसूदन)] कहने का अभिप्राय यह है कि जगत् में सभी वस्तु एक सत् पदार्थको (ब्रह्मको) आश्रयकर प्रतीत होती है क्योंकि सभी वस्तु ज्ञान के साथ सद्बुद्धि (यह है, यह है इसप्रकार बुद्धि) सर्वदा अनुगत रहती है। मृगतृष्णिकादि कल्पित (मिथ्या) होने पर भी आश्रयशून्य नहीं है अर्थात् किसी न किसी आश्रय या अधिष्ठान सत्ताको अवलंबन करके ही स्थित है उसप्रकार भ्रान्ति की प्रतीति होती है। अतएव भ्रम कभी निरधिष्ठान (आश्रयशून्य) नहीं होता है सद्भाव को छोड़कर (यह है, यह है—इसबुद्धि को छोड़कर) किसी वस्तु की प्रतीति होना असम्भव है। ब्रह्म ही एकमात्र सद्वस्तु है अतः समस्त मिथ्या प्रपञ्चरूप भ्रम भी सद्ब्रह्म में कल्पित है। जगत् प्रपञ्चरूपी भ्रम उसके अधिष्ठानभूत परमात्मा की सत्ता से ही सत्तावान् एवं प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है, इसलिए ज्ञेय ब्रह्मको सर्वभृत् कहा गया है। जिसप्रकार कल्पित सर्पादि द्वारा रज्जु की कोई हानि वृद्धि नहीं होती है

उसीप्रकार कल्पित जगत् से सद्ब्रह्मकी कोई हानि-वृद्धि नहीं होती है क्योंकि सद्ब्रह्म के साथ कल्पित जगत् का धार्य-धारकता सम्बन्ध भी कल्पित, (आरोपित) होने के कारण परमार्थतः उनका जागतिक व्यापार में किसी प्रकार संग नहीं रहता है। इसलिए 'सर्वभृत्' विशेषण के साथ 'असक्तम्' शब्द का प्रयोग किया गया है उस ज्ञेय की सत्ताको दूसरे विशेषण से अब स्पष्ट कर रहे हैं। **निर्गुणं गुणभोक्तृ च एव**—वह ज्ञेय ब्रह्म निर्गुण है अर्थात् सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों से अतीत है तो भी गुणों का भोक्ता है अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध इन पञ्च विषय को निमित्त कर सुख-दुःख और मोह के रूप में परिणत हुए तीनों गुणों का भोग करने वाला (उन्हे उपलब्ध करने वाला) है [विषय एवं विषयजनित सुख-दुख व मोह वे सभी सत्त्व रज तथा तम इस त्रिगुणात्मिका माया का ही कार्य है। सत्व गुण के आधिक्य से सुख, रजोगुण के आधिक्य से दुःख, तमो गुण के आधिक्य से मोह (अविवेक) उत्पन्न होता है (गीता १७ अध्याय)। आत्मस्वरूप ब्रह्म में कोई गुण नहीं है इसलिए वह निर्गुण है तथापि ब्रह्मस्वरूप अधिष्ठान सत्ता का अवलंबन करके ही भोक्तृत्व, भोग्यत्व तथा भोग ये तीनों कल्पित कार्य सिद्ध हो रहे हैं। अधिष्ठान सत्ता के बिना अध्यस्त (कल्पित वस्तु) की पृथक सत्ता नहीं है। फिर सत् और चित् स्वरूप आत्मा ही एकमात्र चेतन वस्तु है अतः सुख, दुःख व मोहरूप त्रिगुण के कार्य का भोक्ता (उपलब्ध या प्रकाशक) एकमात्र आत्मा ही हो सकती है, दूसरा नहीं। यदि आत्मा असत् (सत्ताहीन) हो तो सुख-दुःखादि के भोक्ता दूसरा कोई नहीं हो सकता। अतः त्रिगुण का भोक्तृत्व अथवा उपलब्धृत्व द्वारा आत्मास्वरूप ज्ञेयब्रह्मका अस्तित्व सिद्ध होता है।

टिप्पणी। (१) **श्रीधर—सर्वेन्द्रियगुणाभासम्**—वह ज्ञेयतत्व चक्षु आदि समस्त इन्द्रियों के गुणों में अर्थात् रूपादि के आकारवाली वृत्तियों में उन–उनके आकार से प्रतीत होता है अथवा समस्त इन्द्रियों को एवं गुणों को (उन-उन इन्द्रियों के विषयों को) प्रकाशित करता है **सर्वेन्द्रियविवर्जितम्**—परन्तु वह समस्त इन्द्रियों से रहित है। श्रुति भी ऐसा ही कहती है कि 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' (श्वेता० उ० ३।१९) अर्थात् 'वह परमात्मा हाथ-पैरों से रहित होकर

भी समस्त वस्तुओं को ग्रहण करनेवाला तथा वेगपूर्वक सर्वत्र गमन करनेवाला है। आँखों के बिना ही वह सब कुछ देखता है और कानों के बिना ही सब कुछ सुनता है। वह **असक्तम्**—आसक्ति रहित अर्थात् किसी के साथ संगरहित तथापि **सर्वभृत् च**—सबको धारण करनेवाला है अर्थात् सब प्राणियों का आधारस्वरूप है। **निर्गुणं गुणभोक्तृ च एव**—वह ज्ञेय ब्रह्म निर्गुण है अर्थात् सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों से रहित है तथापि सत्त्वादि गुणों का भोक्ता अर्थात् पालन करनेवाला भी है।

(२) **शंकरानन्द**—पूर्ववर्ती श्लोकों में जो कुछ कहा गया है उससे यह सूचित है कि क्षेत्रज्ञ में ही ईश्वरत्व प्राप्त है। यदि इस विषय में कोई शंका हो तो कहा जायगा कि इसका प्रतिपादन करना ही गीता शास्त्र का उद्देश्य है क्योंकि भगवान् भी उपदेश करते हैं कि क्षेत्रज्ञ भी मुझको ही जानो (गीता १३।२)। अब क्षेत्रज्ञ का जो विशेष लक्षण है उसे प्रतिपादित करते हैं—**सर्वेन्द्रियगुणाभासम्**—'स्व-स्वविषयान् (शब्दादीन् इन्द्रयन्ति (बोधयन्ति) इति इन्द्रियाणि' अर्थात् जो अपने-अपने शब्द आदि विषयों का बोधन करती है वे इन्द्रियाँ हैं। श्रोत्रादि पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, वागादि पञ्च कर्मेन्द्रिय ये दस बाहर की इन्द्रियाँ हैं। आत्मा की उपाधि होने से संकल्पात्मक मन तथा अध्यवसायरूपी बुद्धि अन्तरिन्द्रिय है। इन इन्द्रियों के स्पष्टत्व, अस्पष्टत्व, दुष्टत्व, अदुष्टत्व आदि तथा श्रवण, स्पर्श, वचन, आदान, संकल्प, अध्यवसाय आदि गुणों का जिससे अवभास (प्रकाशित) किया जाता है वह 'सर्वेन्द्रियगुणाभास' है। बुद्धि आदि इन्द्रियाँ स्वयं जड़ होने से अपने से अन्य किसी वस्तु से प्रकाश प्राप्त करती हैं जैसे लोह का पिण्ड आग में तप्त होकर आग का धर्म प्राप्त कर लेता है। युक्ति से भी यही सिद्ध होता है यथा—बुद्धि आदि जड़ है, ज्ञेय होने से घट आदि के समान, अतः बुद्धि आदि का तथा उनके गुणों का (विषयों का) जो प्रकाशक ज्ञाता है वह ब्रह्म है—ऐसा जाना जा सकता है। अथवा (२) सब इन्द्रियों के श्रवणादि रूपी गुणों से (कार्यों से) जो पदार्थ अवभासित होता है वह 'सर्वेन्द्रियगुणाभास' है। इन्द्रियाँ अधिष्ठाता से प्रयुज्य है। अर्थात् चैतन्यस्वरूप अधिष्ठान की सत्ता से चेतनावती होकर इन्द्रियाँ अपने अपने कार्य में प्रवृत्त होती हैं। अतः प्रयुज्य के करण होने से वास्यादि (वस्त्रादि) के समान उन करण के क्रिया से क्षेत्रज्ञ का सद्भाव (अस्तित्व) ज्ञात होता

है। इसलिए वह 'सर्वेंद्रियगुणाभास' है। यदि प्रश्न हो कि आत्मा जब असंग और अक्रिय है तब उसमें इन्द्रियरूप करण का प्रयोजकत्व कैसे सम्भव है ?

उत्तर—इसके उत्तर में कहा जायगा कि इस प्रकार कहना युक्त नहीं है क्योंकि प्रयोजकत्व आत्मा में आरोपित है, इसलिए विरोध नहीं है। जैसे कमल का विकास कमल का ही धर्म है तथापि उस धर्म को सूर्य में आरोपित कर कहा जाता है कि कमल का विकास सूर्य करता है। ऐसे ही श्रवणादिरूप उपाधिधर्म आत्मा में अध्यस्त (आरोपित) होता है। 'मैं हूँ' इस प्रकार आत्मा का सद्भाव अस्तित्व सर्वत्र विद्यमान है, यह समझाने के लिए कहा गया है कि आत्मा इन्द्रियों को कर्मों में प्रवृत्त करता है। इसलिए जैसे वृक्ष के चलने से आकाश चलता-सा प्रतीत होता है ऐसे ही इन्द्रियों के व्यापारों से आत्मा भी व्यापारों वाला प्रतीत होता है। श्रुति भी इसलिए कहती है— 'ध्यायतीव लेलायतीव' (आत्मा ध्यान-सा करता है, चलता-सा है)।

प्रश्न—किन्तु श्रुति कहती है–'पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्कर्णः' अर्थात् वह नेत्र-रहित है फिर भी देखता है, उसके कान नहीं है फिर भी सुनता है। इस वाक्य के अनुसार यद्यपि आत्मा के स्वतः कर्णादि नहीं है तथापि उपाधि के द्वारा उसमें श्रवणादि का प्रतिपादन किया जाता है। यदि ऐसा हो तो आत्मा में श्रवणादि व्यापार का अभाव कैसे कहा जाता है ?

उत्तर—ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि श्रुति का उसमें तात्पर्य नहीं है। 'वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च' अर्थात् वह स्थावर और जंगम सब लोकों का वश करने वाला है, इस श्रुति से ईश्वर में वशित्व का (सर्वलोक का निग्रह-अनुग्रह कारित्व का) प्रतिपादन किया गया है। इससे शंका हो सकती है कि ईश्वर में देह-इन्द्रिय का सम्बन्ध है। उस शंका को मिटाने के लिए श्रुति ईश्वर में देहेन्द्रियादि के अभाव का प्रतिपादन करती है, परमात्मा में क्रिया का प्रतिपादन करना उसका अभि-प्राय नहीं है। आत्मा में यदि क्रिया हो तब 'निष्कलं निष्क्रियं ब्रह्म' 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठति' [वृक्ष के समान स्तब्ध (अचल) प्रकाशवान् अपने स्वरूप में स्थित है] 'स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' (स्थाणु अचल यह सनातन) सर्वमावृत्य तिष्ठति (सबको व्याप्त करके स्थित है) इत्यादि श्रुतियों और स्मृतियों से विरोध होगा। अतः आत्मा

वृक्ष के चलने पर आकाश जैसे चलता हुआ सा दिखाई देता है, उसीप्रकार देह आदि रूप उपाधि के चलने पर आत्मा भी चलता हुआ सा प्रतीत होता है परन्तु वह स्वयं नहीं चलता क्योंकि निरवयव (पूर्ण), निराकार और निरिन्द्रिय है। इसलिए आत्मा में आत्मसद्भाव अर्थात् आत्मा का अस्तित्व जानने के लिए जिस उपाधि को स्वीकार किया गया है उस उपाधि के साथ आत्मा का वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं है, यह बोधन करने के लिए कहते हैं **सर्वेन्द्रियविवर्जितम्**—उक्त सब इन्द्रियों से, उनके देहरूप आश्रय से और उनके द्वारा किए गए पुण्य-पापादि कर्मों से आत्मा सदा ही वर्जित (रहित) है। आत्मा का देहेन्द्रियादि के साथ सम्बन्ध नहीं है इसे सिद्ध करने के लिए कहते हैं **असक्तम्**—संगरहित अर्थात् आत्मा निरवयव होने के कारण किसी वस्तु से उसका संयोगादि सम्बन्ध नहीं है क्योंकि श्रुति ने भी 'असंगोह्ययं पुरुषः' कहकर आत्मा के सबसे संग का अभाव प्रतिपादन किया है। 'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' तथा 'असक्तम्' इन कथनों से तो यह प्राप्त होता है कि आत्मा की देह, इन्द्रियादि तो हैं किन्तु असंग होने से वह उनसे रहित है—ऐसा संशय होने पर आत्मा में देहेन्द्रियों के सद्भाव का भी निराकरण कर रहे हैं। **निर्गुणम्**—गुण अर्थात् तीन गुणों के कार्यभूत देह, इन्द्रियादि से रहित होने के कारण आत्मा निर्गुण है क्योंकि श्रुति कहती है कि 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्' (जो वह अदृश्य, अगोत्र, अवर्ण, अचक्षु, अश्रोत्र, वह हस्तपादरहित), 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्' (नित्य, विभु, सर्वगत, बहुत ही सूक्ष्म), 'अशरीरं शरीरेषु' (शरीरों में अशरीर), 'अशरीरो निरिन्द्रियोऽप्राणोऽमनाः सच्चिदानन्दमात्रः' (अशरीर, इन्द्रियरहित अप्राण, मनरहित सच्चिदानन्दमात्र है)। इससे यही सूचित होता है कि 'सर्वतः पाणिपादम्' शब्द से ब्रह्म का अस्तित्व जानने के लिए ही पाणिपाद आदि उपाधि का उल्लेख किया गया है, स्वरूप जानने के लिए नहीं। यदि ब्रह्म का स्वरूप पाणिपाद विशिष्ट होता तो 'निर्गुण' शब्द से उनका निषेध करने का कोई तात्पर्य नहीं होता अथवा 'निर्गुण' शब्द का अर्थ है गुणरहित क्योंकि शुद्ध सत्ता में गुणों को स्वीकार नहीं किया गया है। ब्रह्म में सत्त्वादि, रूपादि अथवा सुखादि गुण नहीं हैं जिनके साथ युक्त होकर वह स्वयं गुणी हो। यदि सत्त्व आदि गुणों से वह गुणवान् हो तो 'गुण के नाश से गुणी का भी नाश

होता है', इस न्याय से ब्रह्म के नाश का **प्रसंग** आयेगा। ब्रह्म नित्य है अतः गुणी के नित्य होने के कारण गुण भी नित्य है, ऐसा कहना युक्त नहीं होगा क्योंकि गुणों के नित्यत्व में कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहो कि श्रुति में ब्रह्म को 'सत्यकाम', 'सत्य-संकल्प' बताया गया है तो उसपर हमारा कहना है कि यहाँ पर 'सत्य' शब्द का अमोघ (अव्यर्थ) अर्थ है। इसलिए वह नित्यत्व का बोधक नहीं है क्योंकि यदि 'सत्य' शब्द का अर्थ नित्य हो तो सृष्टि की कामना भी नित्य होने के कारण सर्वदा (नित्य) सृष्टि का प्रसंग आयेगा। फिर 'विकल्पो नहि वस्तु'—इससे गुणों और गुणों के कार्यों का भी अवस्तुत्व (मिथ्यात्व) सुनने में आता है फिर ब्रह्म में रूपादि भी नहीं है क्योंकि श्रुति उसको 'अशब्दमस्पर्शम्' कहकर रूप आदि का अभाव प्रतिपादन करती है। यदि ब्रह्म रूपादि से युक्त हों तो सावयव होने के कारण उसमें अनित्यत्व का प्रसंग आयेगा। सुखादि ज्ञेय है, अतः वे सब क्षेत्र के धर्म हैं। इसलिये ज्ञाता आत्मा के वे धर्म नहीं हो सकते। श्रुति भी 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' [ब्रह्म साक्षी है, चैतन्य-स्वरूप है, केवल (एक अखण्ड अद्वितीय) है और निर्गुण है] ऐसा कहकर परम ब्रह्म के निर्गुणत्व का अवधारण करती है। अतः परब्रह्म गुणरहित ही है। यद्यपि ब्रह्म स्वयं सत्त्वादिगुणों से और उनके कार्यों से रहित हैं तथापि **गुणभोक्तृ च**—गुणों का भोक्ता (गुणों के कार्य देह, इन्द्रियादि, शब्दादि और सुखादि का भोक्ता अर्थात् उपलब्धा है)। बुद्धि आदि के सान्निध्य से ही सब ज्ञेय पदार्थ जाने जाते हैं, यह कहने का अभिप्राय है। ब्रह्म गुण भोक्ता (उपलब्धा) है, इसप्रकार की उक्ति ब्रह्म में जो परिच्छिन्नत्व एवं सद्वितीयत्व (द्वैतभाव) प्राप्त होता है उसका निषेध करने के लिये कहते हैं-**सर्वभृत् च**—अपने में आरोपित अव्यक्त से लेकर स्थूल पर्यन्त सबको अपनी सत्ता एवं स्फूर्ति (प्रकाश) से सत्तावान् और प्रकाशयुक्त बनाकर जो भरण (पालन) करता है वह 'सर्वभृत्' है क्योंकि सम्पूर्ण प्रपञ्च में सत् और चित् का अन्वय है अर्थात् 'यह है' और 'यह प्रकाशित हो रहा है' इसप्रकार अनुभव सर्ववस्तु में ही होता है। श्रुति ने भी 'सदिदं सर्वम्' 'चिदिदं सर्वम्' (यह सब सत् है, यह सब चित्) ऐसा कहकर सब ब्रह्म ही है इस तत्व का प्रतिपादन किया है। 'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' [सत्य ब्रह्म ही सत्य और अनृत (मिथ्या) हुआ]—ऐसा श्रुति- वाक्य है। अतः यह

सिद्ध हुआ है कि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य वस्तु का अभाव होने से ब्रह्म में न तो परिच्छिन्नत्व है और न सद्वितीयत्व (द्वैतभाव) ।

(३) **नारायणी टीका**–चक्षु, कर्ण, नासिका जिह्वा, त्वचा–ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं—वाक् पाणि पाद पायु उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं–मन, बुद्धि इत्यादि अन्तरिन्द्रियाँ हैं। मन का गुण है संकल्प करना, बुद्धि का गुण है अध्यवसाय या निश्चय करना वाक् पाणि आदि का गुण है बोलना ग्रहण करना इत्यादि, और चक्षु-कर्ण आदि का गुग है दर्शन श्रवण करना इत्यादि। ये सब इन्द्रियों के गुण ब्रह्म में आरोपित होने पर वह दर्शन आदि के कर्ता के समान प्रतीत होता है। इसकारण ब्रह्म मानों इन्द्रियविशिष्ट है ऐसा मालूम होता है। इसी दृष्टि से जो ब्रह्म अन्तिम ज्ञेय वस्तु है उसको 'सर्वेन्द्रियगुणाभासम्' कहा है अर्थात् सर्व इन्द्रियों के गुणों से (व्यापारों से) व्यापृत होकर ब्रह्म जगत्-प्रपञ्च में आभासित (प्रकाशित) हो रहा है ऐसा कहा गया है यह ब्रह्म का उपाधिविशिष्ट रूप अथवा तटस्थ लक्षण कहलाता है वस्तुतः ब्रह्म के वाक् पाणि पाद आदि इन्द्रियाँ नहीं हैं साथ साथ इसलिए कहा है 'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' यह ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है इन्द्रियादि सब जड़ है और ब्रह्म चैतन्यस्वरूप है। अग्नि के ताप में लौह खण्ड प्रविष्ट होने पर जिसप्रकार लौह अग्नि धर्म को प्राप्त होता है। उसी प्रकार इन्द्रियादि जड़ पदार्थ चैतन्य स्वरूप ब्रह्म को अधिष्ठान कर जब क्रियावान् होते हैं तब वह क्रिया भी चेतन के ही धर्म के रूप से प्रतिभासित होती है। वस्तुतः ब्रह्म से अतिरिक्त जितने दृश्य जड़पदार्थ हैं उसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है क्योंकि वे सब माया-कल्पित मात्र हैं। जो वस्तु है ही नहीं उसके साथ संग या आसक्ति होना असम्भव है इसलिए कहा है **असक्तम्**—ब्रह्म असक्त है तथापि भ्रान्ति दर्शन एक सत्य वस्तु का अवलंबन करके ही होता है अतः मायारचित अनन्त ब्रह्माण्ड ब्रह्म को आश्रय करके प्रतीत होने के कारण ब्रह्म ही इन सबको धारण तथा पालन कर रहे हैं ऐसा कहा जाता है। इसलिए कहा है वह ज्ञेय ब्रह्म असक्त होकर भी **'सर्वभृत्'**—है अखण्ड, अद्वितीय ब्रह्म के स्वरूप में सत्व, रज तम इन तीनो गुणों का अस्तित्व असम्भव है इसलिए कहा है वह निर्गुण है तथापि गुणों की क्रिया सुख दुःख, मोह इत्यादि के भोक्तृत्व के लिए (उपलब्धि करने के लिए) अवश्य ही एक चेतन सत्ता आवश्यक है।

तीनों गुणों का परिणाम चैतन्य स्वरूप ब्रह्म का आश्रय करके ही होता रहता है, अतः उपाधि स्वीकार कर ब्रह्म को गुणों का भोक्ता कहा गया है, यद्यपि स्वरूपतः उसमें न तो कर्तृत्व है और न भोक्तृत्व। कहने का तात्पर्य यह है कि नामरूप तथा क्रियात्मक समस्त जगत् प्रपञ्च मायाकल्पित है। अतः वे सब ब्रह्म में अध्यस्त है। इसलिए ब्रह्म की सत्ता के बिना विश्वप्रपञ्च में किसी वस्तु की कोई पृथक् सत्ता नहीं है। सिनेमा में श्वेत वस्त्रखण्ड (White screen) जिस प्रकार सर्वइन्द्रियों से वर्जित होकर सर्व इन्द्रियों के व्यापारों को प्रकाशित करता है तथा सिनेमा का दृश्य पदार्थों के साथ उस वस्त्रखण्ड का संयोगादि सर्वप्रकार संग से बर्जित होकर भी (असक्त होकर भी) सभी दृश्य वस्तुओं को धारण करता है (सर्वभूत होता है) एवं सर्व गुणों से तथा गुणों की क्रियाओं से वर्जित होकर भी सुख दुःख मोह का नाटक प्रकाशित करता है, उसीप्रकार पर ब्रह्म भी (शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा भी) सर्वेन्द्रियों से वर्जित होकर ब्रह्मा से लेकर पिपीलिका तक सभी प्राणियों के इन्द्रियों का व्यापार करता हुआ प्रतीत होता है। अधिष्ठान रूप से मिथ्या कल्पित दृश्यों के साथ सर्वप्रकार से असक्त (संग रहित) होकर भी अपनी सत्ता तथा प्रकाश द्वारा समस्त विश्व प्रपञ्च को धारण कर रहा है। फिर स्वरूप में सर्वगुणों से अतीत (निर्गुण) होकर भी सर्वगुणों का सुख-दुःख मोह का भोक्ता (उपलब्ध) या पालनकर्ता रूप से प्रतीत होता है। वस्तुतः नामरूप और क्रिया सभी अचिन्त्य माया शक्ति का कार्य है। ब्रह्मरूप अधिष्ठान में वे केवल आरोपित होते हैं। परमार्थतः ब्रह्म सदा ही अपने स्वरूप में अचल भाव से स्थित है। भ्रम से (अज्ञान से) माया के कार्यों को अध्यारोपित कर ब्रह्म क्रियावान् दिखाई देता है। फिर ज्ञान द्वारा भ्रम की निवृत्ति होने पर (अध्यारोप का अपवाद अर्थात् निषेध होने पर) भोक्ता, भीग तथा भोग्य सब ब्रह्मस्वरूप में लय हो जाता है और उसी अवस्था में ही ब्रह्म का नित्य अचल सनातन स्वरूप का अनुभव होता है। वह स्वरूप ही सर्व मुमुक्षुओं की अन्तिम ज्ञेय (अनुभव करने योग्य) वस्तु है।

[ज्ञेय ब्रह्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में यह भी प्रमाण है]

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

अन्वय—तत् भूतानां बहिः अन्तः च (वर्तते) तत् अचरम् चरम् एव च (तत्) सूक्ष्मत्वात् अविज्ञेयम् (तत्) दूरस्थम् अपि अन्तिके च (वर्तते)।

अनुवाद—वह ज्ञेय ब्रह्म भूतों के बाहर और भीतर है अतः वही स्थावर-जंगम भूत भी है। वह सूक्ष्म होने के कारण अविज्ञेय है (अर्थात् उसको जाना नहीं जाता) तथा दूरवर्ती भी है और अतिनिकट भी है।

भाष्यदीपिका—तत् भूतानां बहिः अन्तश्च (वर्तते)—वह ज्ञेय ब्रह्म बाहर तथा भीतर है। त्वचा पर्यन्त देह अविद्या द्वारा आत्मभाव से कल्पित होता है। उस देहकी अपेक्षा से ज्ञेय को उसके बाहर बतलाते हैं ऐसे ही अन्तरात्मा को लक्ष्य करके तथा शरीरको ही अवधि (सीमा) मानकर ज्ञेयको उसके भीतर व्याप्त बतलाया जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि सर्वभूतों के देहके बाहर तथा अन्तर ज्ञेय ब्रह्म व्याप्त होकर विद्यमान है। अब प्रश्न होगा यदि ज्ञेय ब्रह्म बाहर और भीतर व्याप्त है तब क्या मध्य में उसका अभाव है? इस पर कहते हैं (तत्) अचरं चरम् एव च—चर और अचररूप भी वही है अर्थात् रज्जु में सर्प के समान जो चर-अचर रूप शरीर का आभास होता है वह भी ज्ञेय ही है। अब प्रश्न होगा कि यदि चर और अचर रूप समस्त व्यवहार का विषय वह ज्ञेय ब्रह्म ही है, तो फिर 'वह यह है' इस प्रकार सबसे क्यों नहीं जाना जा सकता? इसके उत्तर में कहते हैं—तुम जो कह रहे हो वह ठीक है। समस्त दृश्य उसीका स्वरूप है तथापि वह ज्ञेय आकाश के समान सूक्ष्म है अतः यद्यपि वह अपने स्वरूप से ज्ञेय है तथापि सूक्ष्मत्वात् अविज्ञेयम्—वह सूक्ष्म होने के कारण अज्ञानियों के लिए अविज्ञेय ही है। कहने का तात्पर्य है कि ब्रह्म आकाश के समान (सूक्ष्म) तथा रूपादि हीन, अतः अतीन्द्रिय है अर्थात् स्थूल वस्तु की भाँति वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है। सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) होने के कारण आत्मा 'वह यह है' इसप्रकार ज्ञेय (ज्ञान के योग्य) नहीं है। विद्वान् व्यक्ति जब बाहर के सभी दृश्य पदार्थों को 'नेति-नेति' कर निषेध की सीमा में पहुँच जाते हैं अर्थात् जिस

अवस्था में निषेध करने योग्य दृश्य वस्तु नहीं रहती है एवं सर्व निषेध की जानने वाली सत्ता ही एकमात्र रह जाती है तब उसी सत्ता को आत्म रूप से साक्षात् कर लेता है एवं वह प्रत्यक्षरूप से जान लेता है कि 'यह सब कुछ आत्मा है, यह सब कुल ब्रह्म ही है' (छा० उ० ७।२५।२), बृ० उ० २।५।१) किन्तु अज्ञानी (अविवेकी) पुरुष उस अन्तरात्माको देहेन्द्रियादि के संघात से पृथक करने में असमर्थ होने के कारण आत्मा के यथार्थ स्वरूपको नहीं जान सकता। अतः उनके लिए आत्मा अविज्ञेय है। वह ज्ञेय ब्रह्म अज्ञानी के लिए अज्ञात होने के कारण एवं जब तब अज्ञान रहता है तब तक करोड़ों वर्षों तक भी प्राप्त न हो सकने के कारण **दूरस्थम्**—वह उनसे बहुत दूर है **अन्तिके च तत्**—किन्तु ज्ञानियों का तो वह आत्मा होने के कारण उनके अतिनिकट ही है। [कहने का तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार रस्सी अपने में कल्पित सर्प, तथा जल-धारादि के बाहर-भीतर व्याप्त रहती है उसी प्रकार सम्पूर्ण भूतों का (उत्पत्ति धर्मवाले सभी कल्पित कार्यों का) एक अकल्पित ब्रह्म ही अधिष्ठान है और वह सर्वात्म भाव से उन भूतों में बाहर-भीतर व्याप्त है। इसीसे अधिष्ठानरूप होने के कारण वही अचर (स्थावर) और चर (जंगम) भूतसमुदाय है अर्थात् कल्पित सभी पदार्थ उससे लेश मात्र भी पृथक नहीं हैं। इसप्रकार सर्वात्मक होने पर भी सूक्ष्म और रूपादि हीन होने के कारण वह अविज्ञेय है अर्थात् 'वह वही है'—इस प्रकार के स्पष्ट ज्ञान के योग्य नहीं है। इसीलिए आत्मज्ञान के साधन से रहित पुरुषोंको अनन्त काल तक, अपेक्षा करने पर भी उनसे वह प्राप्त नहीं हो सकता। अतः अज्ञानियों के लिए वह दूरस्थ है अर्थात् लाखों करोड़ों योजन के व्यवधान वाला-सा है किन्तु जो ज्ञान के साधनों से सम्पन्न हैं उनके तो वह समीप ही है अर्थात् आत्मा होने के कारण अत्यन्त व्यवधान-शून्य ही है। यह बात श्रुतियों से भी सिद्ध होती है यथा—'दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यतस्वेहैव निहितं गुहायाम्' (वह दूर से भी दूर है और समीप भी है क्योंकि ज्ञानियों के लिए तो वह यहाँ हृदय गुहा में ही छिपा हुआ है (मधुसूदन)]

टिप्पणी—(१) **श्रीधर—बहिः अन्तः च भूतानाम्**—जैसे कड़े और कुण्डल आदि आभूषणों के बाहर—भीतर सोना है तथा जैसे जल के तरंग के बाहर—भीतर जल है ऐसे ही चर और अचर समस्त प्राणियों के बाहर और भीतर वही है

अचरं चरमेव च—तथा अचर (स्थावर) और चर (जंगम) सभी प्राणी वही हैं क्योंकि कार्य कारणरूप ही होता है **सूक्ष्मत्वात् तत् अविज्ञेयम्**—इस प्रकार होने पर भी वह रूप आदि से रहित तथा सूक्ष्म होने के कारण अविज्ञेय है अर्थात् स्पष्टरूप से जानने में आनेवाला नहीं है। **दूरस्थम् च अन्तिके च तत्**—इस कारण अविद्वान् (अज्ञानी पुरुष) के लिए लाखों योजन के अन्तर की भाँति वह दूर में स्थित है क्योंकि वह विकारयुक्त प्रकृति से परे (भिन्न) है परन्तु विद्वानों के (तत्वज्ञानियों के) लिए उनकी प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा) होने के कारण वह अत्यन्त निकट है। श्रुति में भी ऐसा ही मन्त्र है—

'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः'॥ (ईशा० ५)

अर्थात् वह चलता है, वह नहीं चलता, वह दूर से भी दूर है, वह अत्यन्त निकट है, वह इस सम्पूर्ण जगत् के भीतर परिपूर्ण है और वही इस सम्पूर्ण जगत् के बाहर भी है!

(२) **शंकरानन्द**—नामरूपात्मक द्वैत प्रपञ्च की पृथक्रूप से प्रत्यक्षतः सभी को उपलब्धि होती है। फिर सब ब्रह्म ही है ऐसा कैसे कहा जाता है? इस पर कहते हैं-ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि बाहर और भीतर अग्नि से व्याप्त लोहे की पृथक् सत्ता का अभाव होने से जैसे वह केवल अग्नि स्वरूप ही है, ऐसे ही बाहर और भीतर ब्रह्म से व्याप्त जगत् की भी अपनी सत्ता का अभाव होने से वह ब्रह्ममात्र ही है, यह स्पष्ट कर रहे हैं-**बहिः अन्तः च भूतानाम्**—मुमुक्षु के ज्ञेयत्वरूप से जो ब्रह्म का उपक्रम किया गया है वह ब्रह्म भूतों को (अव्यक्त से लेकर स्थूल तक पदार्थ को) भीतर और बाहर, अग्नि से व्याप्त तप्त लौह पिण्ड के समान, चारों ओर से व्याप्त करके स्थित है, वह किसी से परिच्छिन्न नहीं है क्योंकि जैसे निरवयव और अतिसूक्ष्म आकाश को घटादि किसी वस्तु से भी परिच्छेद नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार ब्रह्म भी निरवयव और अतिसूक्ष्म होने के कारण उसका कोई भी वस्तु परिच्छेद नहीं कर सकती। फिर आकाश जिस प्रकार सबको बाहर-भीतर चारों ओर व्याप्त करके स्थित रहता है ऐसे ही ब्रह्म भी चारों ओर से सबको व्याप्त करके स्थित रहता है। श्रुति भी

कहती है—'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' (वह इन सबके भीतर है, वही इन सबके बाहर है)। गीता में भी कहा है—'मया ततमिदं सर्वम्' (मैं इन सबको व्याप्त करके स्थित हूँ)। जिस प्रकार अग्नि तप्त लौह के पिण्ड को बाहर-भीतर चारों ओर से व्याप्त कर स्थित रहती है उसी प्रकार सब भूतों को बाहर-भीतर चारों ओर से व्याप्त कर विद्यमान रहने के कारण ब्रह्म अपरिच्छिन्न है तथापि जैसे अग्नि का व्याप्य जो लौह पिण्ड है वह अग्नि से भिन्न है ऐसे ही ब्रह्म का भी व्याप्य जो जगत् प्रपञ्च है वह ब्रह्म से भिन्न होने के कारण द्वैतभाव रहता ही है अर्थात् ब्रह्म में अद्वितीयत्व का अभाव होता है अतः ऐसी परिस्थिति में अद्वैत की सिद्धि किस प्रकार होगी ?

उत्तर—ऐसी आशंका करना उचित नहीं है क्योंकि श्रुति में कहा है 'प्राणो ह्येष सर्वभूतैर्विभाति' (यह प्राण ही सब भूतों के रूप से भासता है। इस श्रुति वाक्य से यह सिद्ध होता है कि जगत् ब्रह्म का विवर्त है अर्थात् माया से कल्पित जगत् वास्तविक सत्ताहीन होने पर भी ब्रह्म में केवल प्रतीत होता है अतः उसकी ब्रह्म से कोई पृथक् सत्ता नहीं है अर्थात् प्रत्यक्दृष्टि से देखने पर सब ब्रह्म ही है। इसलिए कहते हैं **अचरं चरमेव च**—जो क्रियावान् है वह चर है जो उससे विलक्षण अर्थात् क्रियावान् नहीं है वह अचर है। चर (जंगम) तथा अचर (स्थावर) सब भूतों का आभास ब्रह्म ही है अर्थात् जैसे शुक्ति (सीपी) में जो रजत (चाँदी) का आभास होता है वह शुक्ति ही है ऐसे ही ब्रह्म में जो जगत्-प्रपञ्च का आभास होता है वह ब्रह्म से भिन्न और कुछ नहीं है। श्रुति भी इसलिए कहती है'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म'–(यह सब ब्रह्म ही है)। जब ब्रह्म सर्वात्मक, परिपूर्ण और अद्वितीय (द्वैतरहित) है तब सभी को 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार ग्रहण होना उचित है किन्तु उसका ग्रहण क्यों नहीं होता है ? इस पर कहते हैं—**सूक्ष्मत्वात् तत् अविज्ञेयम्**—यद्यपि ब्रह्म सर्वात्मक. परिपूर्ण एवं अद्वितीय है तथापि वह स्वयं आकाश से भी अतिसूक्ष्म है क्योंकि 'सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं नित्यम्' (वह सूक्ष्मसे सूक्ष्म तर नित्य वस्तु है) ऐसी श्रुति है। महत् (महत्तत्त्व–समष्टि बुद्धि) और अव्यक्त (मूलप्रकृति) आदि से भी सूक्ष्म होने के कारण वह ब्रह्म अविज्ञेय है अर्थात् यद्यपि ब्रह्म सब प्राणियों की अपनी आत्मा ही है तथापि जैसे अन्धे पुरुषों को अपना स्वरूप नहीं दिखाई पड़ता है, ऐसे ही श्रुति आचार्य, ईश्वर तथा आत्मा के प्रसाद से शून्य अविशुद्ध (मलिन) बुद्धि वाले

पुरुष उस ब्रह्म को नहीं जान सकते। इसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिए कहते हैं—**दूरस्थम्**—विवेक, वैराग्य, शम, दमादि शास्त्रविहित साधनों का नियमपूर्वक जो अभ्यास नहीं करते हैं, अतः जिनका अन्तःकरण मलिन रह गया है उनके वेदान्त वाक्यादि श्रवण करने पर भी स्वरूपभूत वह ब्रह्म उनको दूरस्थ अर्थात् चक्रवल से (लोकालोक पर्वत से) भी अतिदूर ही रहता है। सैकड़ों करोड़ों जन्मों में भी वह प्राप्त नहीं किया जा सकता। जो ब्रह्म अशुद्ध बुद्धि वालों के लिए दूरतर है वही ब्रह्म, जो विद्वान् का (तत्त्वज्ञानी का) अनुग्रह प्राप्त किये हैं एवं जिनका अन्तःकरण प्रशान्त हो गया है उनके लिए अतिनिकट ही है। 'चकार' अवधारण के (निश्चय के) अर्थ में है अर्थात् सबसे समीप जो हृदय गुहा है उसमें ही अपने आत्मरूप से जाना जा सकता है। इसलिए श्रुति भी कहती है—'दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्' (अविद्वानों के लिए वह ब्रह्म दूर से दूर है और विद्वानों के लिए वह इस देह में और समीप में हैं, चेतनावान् प्राणियों में बुद्धिरूप गुहा में ही स्थित है)।

(२) **नारायणी टीका**—मायाकल्पित विश्व प्रपञ्च ब्रह्म को अधिष्ठान (आश्रय) कर भास रहा है। अतः चर (जंगम) तथा अचर (स्थावर) रूप से जो कुछ दिखाई देता है वह ब्रह्मस्वरूप ही है तथा उसके बाहर भीतर सर्वत्र एक अखण्ड सर्वात्मक अद्वितीय ब्रह्मसत्ता ही विद्यमान है अर्थात् ब्रह्म से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। तथापि ब्रह्म सर्वव्यापी होने पर भी 'यह ब्रह्म है' इसप्रकार किसी से दृश्यरूप से जाना नहीं जाता है क्योंकि ब्रह्म अरूप तथा अतिसूक्ष्म (इन्द्रियातीत) है। जबतक गुरु शास्त्र तथा भक्त की कृपा से जीव शास्त्रविहित कर्म भगवदर्पण बुद्धि से अनुष्ठान करके अपने चित्त की शुद्धि का सम्पादन नहीं करता है तब तक अधिष्ठानस्वरूप ब्रह्म की सत्ता का कभी अनुभव करने में समर्थ नहीं होता है अतः वह तो अज्ञान के कारण नाम, रूप तथा क्रियात्मक विश्व प्रपञ्च में ही भटकता रहता है। इसलिए अज्ञानियों के लिए ब्रह्म दूर से भी दूर है अर्थात् करोड़-करोड़ जन्म में भी उसकी प्राप्ति की सम्भावना नहीं है किन्तु जिस सुकृतिशाली पुरुष की चित्तशुद्धि हो गई है अर्थात् नामरूपात्मक प्रपञ्च में वैराग्य उत्पन्न होने के पश्चात् नित्य सत्य परमानन्द वस्तु के प्रति विशेष राग उत्पन्न हुआ है वह गुरु-मुख से वेदान्त वाक्यादि श्रवण कर मनन तथा निदिध्यासन के

द्वारा उस परब्रह्म को आत्मरूप से साक्षात् कर लेता है एवं वह जान लेता है कि सर्वात्मा ब्रह्म उसके तथा विश्व के अणु-परमाणु में पूर्ण रूप से सदा ही विद्यमान है। अतः उनके लिए वह परमब्रह्म निकट से भी निकट है। इसलिए श्रुति ने कहा है—'साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' अर्थात् इस ब्रह्म को आत्मरूप से साक्षात् अपरोक्षभाव से (प्रत्यक्ष भाव से) जाना जाता है।

पूर्वश्लोक में कहा है कि ज्ञेय ब्रह्म अकेला ही सबको व्याप्त करके स्थित है। जो लोग प्रत्येक शरीर में आत्मा की भिन्नता बतलाते हैं उनके मतका निराकरण करने के लिये अब स्पष्ट रूप से कहते हैं—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

अन्वय—तत् ज्ञेयं भूतेषु अविभक्तम् (अपि) विभक्तम् इव स्थितम्; तत् ज्ञेयं भूतभर्तृ, ग्रसिष्णु, प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

अनुवाद—वह समस्त प्राणियों में विभक्त न होने पर भी विभक्त हुआ-सा स्थित है। वह ब्रह्म (स्थिति काल में) सब भूतों का भरण (पालन) करने वाला, (संहार काल में) वह विश्वका ग्रास (नाश) करनेवाला तथा (सृष्टि काल में) वही प्रभव (उत्पत्ति) करने वाला है, ऐसा जानना चाहिए।

भाष्यदीपिका—तत् ज्ञेयम्—वह ज्ञेय ब्रह्म **भूतेषु अविभक्तम्**—प्रत्येक शरीर में आकाश के समान अविभक्त (अभिन्न) है अर्थात् एक ही है अर्थात् प्रत्येक देह में भिन्न-भिन्न नहीं है। तथापि **विभक्तमिव च स्थितम्**—[देह के साथ तादात्म्य बुद्धि रहने के कारण तथा देह में ही आत्मा की प्रतीति होने के कारण] वह प्रति देह में विभक्त (पृथक्)-सा स्थित है। [तात्पर्य यह है कि आकाश में प्रतीत होने वाले घटाकाशादिरूप भेद के समान देहरूप उपाधि के भेद के कारण ब्रह्म में अवास्तविक (मिथ्या अर्थात् कल्पित) भेद की प्रतीति होती है। 'यदि अर्जुन कहे कि क्षेत्रज्ञ सर्वव्यापक और एक ही हो, उसमें कोई आपत्ति नहीं है किन्तु जगत् का कारणभूत ब्रह्म तो उससे (क्षेत्रज्ञ से) पृथक् ही है'? इस पर भगवान् कहते हैं कि

वह क्षेत्रज्ञ जिसको ज्ञेय कहा है वह और ब्रह्म अभिन्न (एक) है क्योंकि (मधुसूदन) वह क्षेत्रज्ञ आत्मा ही **भूतभर्तृ**—स्थितिकाल में भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला है। वही **ग्रसिष्णु**—प्रलय काल में सबका ग्रसन (संहार) करनेवाला है और वही **प्रभविष्णु च**—उत्पत्तिके समय सबको उत्पन्न करनेवाला है, जैसे कि मिथ्याकल्पित सर्पादिके (उत्पत्ति, स्थिति और नाश के कारण) रज्जु आदि होते हैं। [अतः तात्पर्य यह है कि जो ब्रह्म संसार की उत्पत्ति, स्थिति, और लयका कारण है वही क्षेत्रज्ञ है और वह एक ही ज्ञेय प्रत्येक शरीर में व्याप्त है, अतः वह क्षेत्रज्ञ आत्मा ब्रह्म से भिन्न नहीं है।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—भूतेषु—स्थावरजंगमरूप प्राणियोंमें **अविभक्तम्**—कारणरूप से अविभक्त (अभिन्न) किन्तु **विभक्तम् इव च स्थितम्**—कार्यरूप से विभक्त अर्थात् पृथक्-सा स्थित है। जिसप्रकार समुद्र से उत्पन्न हुआ फेन आदि समुद्र से भिन्न नहीं है, तथापि भिन्न-सा प्रतीत होता है, उसीप्रकार कारणरूप ब्रह्म से कार्यरूप भूतवर्ग पृथक् नही है तथापि देहादि के भेद से वह प्रत्येक देह में भिन्न-सा जान पड़ता है। **तज्ज्ञेयम्** जो ब्रह्म पहले ज्ञेय कहा गया है वह **भूतभर्तृ**—स्थितिकाल में प्राणियों के भर्ता अर्थात् पालन कर्ता **ग्रसिष्णु**—प्रलयकाल में ग्रसन (नाश) करनेवाला तथा **प्रभविष्णु**—सृष्टिकाल में नाना कार्य के रूप में उत्पन्न होने वाला है।

(२) शंकरानन्द—पूर्वश्लोक में 'अचरं चरमेव च' इत्यादि से ब्रह्म को सर्वात्मक कहा है इस पर शंका होगी कि ऐसा कथन युक्त नहीं है क्योंकि सर्वत्र ब्रह्म का स्वरूप देखने में नहीं आता। जंगम (चलने वाले) प्राणियों के शरीरों में ही मैं (मैं, मेरा इत्यादि ज्ञान रूप) चेतनत्व देखा जाता है, स्थावर (नहीं चलने वाले) वस्तु में नहीं। अतः ब्रह्म परिच्छिन्न ही है। **उत्तर**—ऐसी आशंका युक्त नहीं है क्योंकि प्राणियों के अति निर्मल (अत्यन्त शुद्ध) अन्तः करणों में ही परिपूर्ण ब्रह्म की स्फूर्ति (प्रकाश) होती है, अन्यत्र नहीं होती। जिसप्रकार यद्यपि सर्वत्र आकाश का स्वच्छ (निर्मल) जल आदि में ही प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिसप्रकार अग्नि की ताप देने वाली शक्ति सर्वव्यापी होते हुए भी सूर्यकान्तमणि में ही उसका स्फुरण होता है, जिसप्रकार रूप सर्वत्र विद्यमान रहने पर भी नेत्र में ही उसका उपलम्भ (अनुभव) होता है,

अन्यत्र नहीं एवं इतने से रूप का परिच्छेद नहीं हो सकता है, उसी प्रकार ही ब्रह्म की परिच्छिन्न के समान जो प्रतीति होती है वह प्रामाणिक नहीं है क्योंकि श्रुति स्मृतियों में ब्रह्म के परिच्छेद का कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहो कि विश्व-प्रपंच में (नाम, रूप क्रियाओं में) तो ब्रह्म की परिछिन्नता प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ती है, अतः इस विषय पर प्रत्यक्ष प्रमाण तो है ही। उसके उत्तर में कहूँगा कि प्रत्यक्ष भी यथार्थ प्रमाण नहीं है क्योंकि चन्द्रमा को प्रादेशमात्र (बित्ता के परिमाण से) दिखाया जाता है अथवा आकाश नीला दिखता है तथा मरूभूमि में मरीचिका दिखाई जाती है, स्वप्न दृश्य जाग्रत अवस्था के दृश्य के समान दिखाई देता है, इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि वे सब ऐसे ही हैं अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण का इनसबो में व्यभिचार है। फिर श्रुति कहती है 'यदल्पं तन्मर्त्यम्' [अर्थात् जो अल्प है (परिच्छिन्न है) वह मरणशील है]। अतः इस वाक्य के अनुसार यदि ब्रह्म परिच्छिन्न हो तो ब्रह्म में अनित्यत्व का प्रसंग आ जायेगा। श्रुति और भी कहती है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप, अनन्त (अपरिच्छिन्न असीम) है। अतः ब्रह्म का अपरिच्छिन्नत्व (परिपूर्णत्व) श्रुति वाक्य से ही सिद्ध होता है। इसे ही अब भगवान् स्पष्ट कर रहे हैं—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्—ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सभी प्राणी नाम, रूप, गुण, क्रिया, जाति और स्वभाव विशेष से परस्पर भिन्न हैं एवं 'मैं, मैं' इसप्रकार अहं पद के अर्थ रूप से (विषय रूप से) प्रतीयमान होने के कारण उन विभक्त प्राणियों के शरीरों की भिन्नता से आत्मा भी विभक्त-सी स्थित है, ऐसा प्रतीत होता है। इस कारण से ही सांख्य-मतावलम्बी आत्मा को असंग, चिद्रूप, परस्पर भिन्न और अनेक मानते हैं परन्तु उनका ऐसा मानना युक्तिसिद्ध नहीं है क्योंकि श्रुति और न्याय से इस मत का विरोध है। जिसप्रकार भ्रान्त व्यक्ति आकाश को घट आदि से परिच्छिन्न देखते हैं परन्तु आकाश की परिछिन्नता नहीं है, ऐसे ही वह ब्रह्म यथार्थ स्वरूप से अविभक्त ही है अर्थात् भूतों से उसका विभाग नहीं किया जा सकता क्योंकि आत्मा निरवयव, अति सूक्ष्म और इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि का अविषय है। शरीरों के विभाग से आत्मा विभक्त है ऐसा मानने पर आत्मा में सावयवत्व, अनित्यत्व आदि दोषों का प्रसंग आ जायगा तथा सम्पूर्ण प्रपंचों की स्फूर्ति का अभाव हो जायगा

और श्रुति से विरोध उपस्थित होगा क्योंकि श्रुति कहती है–'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' (एक ही देव सम्पूर्ण भूतों में गूढ़ अर्थात् छिपा हुआ है), 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः', (वह आकाश के समान सर्वगत और नित्य है), 'पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' (उस पुरुष से सब पूर्ण हैं), 'तदेतत् ब्रह्मापूर्वम्' (वह यह ब्रह्म अपूर्व है), अतः इन सब श्रुतिवाक्यों से यह नियम प्रतिपादित होता है कि ब्रह्म एक, सर्वगत, नित्य और अद्वितीय है। अतः ब्रह्म अविभक्त ही है। जैसे सूर्य का अविभक्त (सर्वव्यापी) प्रकाश ही विभक्तरूप से भासित होकर घट, पट आदि सम्पूर्ण पदार्थों को व्याप्त कर ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है अर्थात् केवल विभक्त (भिन्न-भिन्न) वस्तु को ही पृथकरूप से प्रकाश नहीं करता है क्योंकि केवल विभक्त के (पृथक्-पृथक् वस्तु के) प्रकाशक होने पर तो उससे सर्वत्र पदार्थों का स्फुरण नहीं होगा, वैसे ही बाहर भीतर सर्वत्र व्याप्त अविभक्त ब्रह्म स्थूल, सूक्ष्म, अव्यक्त, महत् आदि सब दृश्यों का प्रकाशन करता है। यदि ब्रह्म परिच्छिन्न होता तो सब बाह्य पदार्थों का भान नहीं हो सकता था। श्रुति से भी यह सिद्ध होता है कि सर्वत्र सब ब्रह्म के प्रकाश से ही प्रकाशित हो रहे हैं–'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (उसके ही प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है)। इसलिये 'अविभक्त होकर भी विभक्त के समान स्थित है', ऐसा भगवान् ने कहा है। इससे ब्रह्म अपरिच्छिन्न ही है यह सिद्ध हुआ। इसीलिये ब्रह्म में अपरिच्छिन्नत्व तथा अद्वितीयत्व को सिद्ध करने के लिये जगत् ब्रह्म का विवर्त है ऐसा सूचित करते हैं। **प्रभविष्णुः**–जिस प्रकार अन्धकार में रज्जु, सर्प, धारा इत्यादि सा प्रतीत होता है, इसी प्रकार अध्यात्म आदि रूप से ज्ञेय ब्रह्म ही अज्ञान दशा में (भ्रान्त पुरुषों की दृष्टि में) प्रपञ्च के आकार से भासता है। इसलिये वह 'प्रभविष्णु' (उत्पत्ति या सृष्टि करने वाला) कहलाता है क्योंकि श्रुति कहती है–'सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्' (तैत्तरीय० उ०) अर्थात् सत्यरूप से तथा मिथ्यारूप से जो प्रपञ्च भास रहा है वह ब्रह्म ही है। **भूतभर्तृ च**–वही ब्रह्म सर्वभूतों का भर्ता अर्थात् अपने में आरोपित आकाशादि भूतों की सत्ता-स्फूर्ति के प्रदान द्वारा भरण (पालन-पोषण) करता है अर्थात् अपने में आरोपित सब पदार्थों को अज्ञानी मूढ़ों के व्यवहार के लिए धारण करता है। श्रुति भी ऐसा ही कहती है–'व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः' (श्वेता० उ०) अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त सम्पूर्ण

भूतों का वह ईश्वर ही भरण करता है। **ग्रसिष्णु च**—प्रबोध दशा में (ज्ञान-अवस्था में अर्थात् अधिष्ठान के यथार्थ स्वरूप के सम्यक् प्रकार दर्शन काल में) सम्पूर्ण आरोपित विश्व-प्रपंच को अपने स्वरूप से ग्रास करने का अर्थात् अपने में ही भय करने का जिसका शील (स्वभाव) है, वह ग्रसिष्णु है। सर्वात्मा ब्रह्म ऐसा ही है। इसलिये श्रुति भी कहती है-'परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति' (उस परम अव्यय अर्थात् अविनाशी परमात्मा में सब एक हो जाते हैं), 'सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति' (सब वेद जहाँ एक हो जाते हैं)। अतः 'ग्रसिष्णु' शब्द का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भ्रान्ति मिटने के पश्चात् रज्जु में आरोपित सभी वस्तु रज्जु में लय हो जाती है, उसी प्रकार मुमुक्षु को तत्त्वज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् उसकी ब्रह्मस्वरूप आत्मामिथ्या विश्वप्रपंच को अपने स्वरूप से उपसंहार करके विपरीत भाव को छोड़कर बोधमयी, अविकारिणी, केवल अद्वैतरूपा अपनी सत्ता को भजता है अर्थात् उसमें ही अचल रूप से स्थित होता है।

(४) **नारायणी टीका**—सांख्यमत में पुरुष को (आत्मा को) बहु माना है। इस मत का परिहार करने के लिये (गीता १३।१३ श्लोक में) भगवान्‌ने जो कहा है कि 'सर्वम् आवृत्य तिष्ठति' अर्थात् समस्त पदार्थ को व्याप्त कर ब्रह्म स्थित है, उसे अब स्पष्ट कर रहे हैं। देह के भेद के कारण ब्रह्मस्वरूप क्षेत्रज्ञ आत्मा भिन्न भिन्न रूप से प्रतीत होने पर भी सर्व देह में एकमात्र शुद्ध चैतन्य-स्वरूप आत्मा ही विद्यमान है जिसप्रकार सर्वव्यापी आकाश सदा ही एक रूप से (अविभक्त रूप से) सर्वत्र विद्यमान रहने पर भी घट, मठ इत्यादि रूप उपाधि के भेद से परिच्छिन्न घटाकाश, मठाकाश इत्यादि भिन्न-भिन्न रूपों मे प्रतीत होता है परन्तु उससे आकाश की परिछिन्नता या भेद सिद्ध नहीं होता है, उसी प्रकार आत्मा भी पृथक्-पृथक् देहादिउपाधिविशिष्ट जीव रूप में प्रतीत होने पर भी वह नित्य, सर्वगत, अचल एवं अनन्त (परिपूर्ण) सत्ता से कभी च्युत नहीं होती है। इसलिये उसको शास्त्रों में 'अच्युत' कहा गया है। विश्वप्रपञ्च आत्मा में माया से कल्पित है अर्थात् मनरूपी माया ही कल्पना से इस विश्व की सृष्टि, स्थिति (पालन) तथा ग्रसन (संहार) कर रही है एवं माया ही उन सब कार्यों को आत्मा में अध्या-

रोपित होकर उस ज्ञेय आत्मा को सृष्टि, स्थिति एवं संहार के कर्तारूप में प्रतीत करा रही है। इसलिये कहा है—वह परमात्मा प्रभविष्णु (सृष्टि करने वाला) है, भूतभर्तृ (सब भूतों का पालन पोषण करने वाला है) एवं ग्रसिष्णु (संहार करने वाला भी) है। सृष्टिस्थिति अज्ञान अवस्था में ही भासती है और जब नाम रूप-क्रियात्मक विश्वप्रपञ्च तत्त्वज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् सुषुप्ति अवस्था के समान आत्मा में लय हो जाते हैं तब ब्रह्मस्वरूप आत्मा को ग्रसिष्णु कहा जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा जब मन अमनीभाव (सर्व प्रकार से संकल्परहित) हो जाता है तब द्वैत नामक कोई पदार्थ नहीं रहता है। उसी अवस्था में एक अविभक्त सर्वव्यापी आत्मा ही विद्यमान रहता है जैसे घटाकाश, मठाकाश का परिछिन्न आवरण नष्ट होने के पश्चात् वे घटाकाश एवं मठाकाश भी महाकाश में लय होकर उस अविचल सर्वव्यापी आकाश के ही स्वरूप को प्राप्त होते हैं। इसलिए कहा है कि 'मनोदृश्यमिदं सर्वं यत् किंचित् सचराचरम् मनसोह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते' (माण्डुक्यो० उप० गौड़पादकारिका)। अतः यह सिद्ध होता है कि ज्ञेयस्वरूप आत्मा ही एक मात्र सत्य वस्तु है एवं अज्ञान दशा में जो कुछ दिखाई देता है वह सभी कल्पित (मिथ्या) है। अतः वह क्षेत्रज्ञ ब्रह्म जिसको भगवान् ने 'ज्ञेय' कहा है उसको ही जानना (साक्षात् अनुभव करना) ही मनुष्यजीवन का एकमात्र परमपुरुषार्थ है क्योंकि वही सर्वभूतों की आत्मा है, वही ब्रह्म या भगवान् है, वही कल्पित सर्वनाम, सर्वरूप तथा सर्व क्रिया की अधिष्ठान सत्ता है। उसको जानने के पश्चात् और कोई ज्ञातव्य वस्तु शेष नहीं रहती है। इसलिए श्रुति कहती है—'तस्मिन्नु विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति (बृह० उप०) अर्थात् उसको साक्षात् अनुभव करने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है।

[अब शंका होगी कि यदि ज्ञेय ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान रहते हुए भी सबको प्रत्यक्ष नहीं होता है तो क्या वह अंधकार (प्रकाशहीन) वस्तु है ? इसके उत्तर में कहते हैं—नहीं, ऐसी आशंका युक्त नहीं है क्योंकि वह ज्ञेय ब्रह्म—]

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

अन्वय—तत् ज्योतिषाम् अपि ज्योतिः, तत् तमसः परम् उच्यते, (तत्) ज्ञानम्, (तत्) ज्ञेयम्, (तत्) ज्ञानगम्यम्, तत् सर्वस्य हृदि विष्ठितम् ।

अनुवाद—वह प्रकाशक पदार्थों का भी प्रकाशक है और अज्ञानरूप अंधकार से (अज्ञान जनित जड़ वर्ग से) परे कहा जाता है । वह ज्ञान स्वरूप है एवं वही ज्ञेय भी है और ज्ञान के साधनों द्वारा वही जानने योग्य है अर्थात् वही ज्ञान के साधनों का फल है । [वह दूर नहीं है] किन्तु वह सबके हृदय में स्थित है अर्थात् सामान्य रूप से सर्वत्र विद्यमान रहने पर भी वह विशेषरूप से समस्त प्राणी समुदाय के हृदय में (बुद्धि में) अन्तर्यामी रूप से स्थित है ।

भाष्यदीपिका—तत् ज्योतिषाम् अपि ज्योतिः—वह ज्ञेय परमात्मा समस्त सूर्यादि ज्योतियों का परम ज्योति है । स्वयंप्रकाश आत्मा के प्रकाश द्वारा ही देदीप्यमान होकर सूर्यादि समस्त ज्योतिर्मय पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं । [जड़, ज्योतिर्मय पदार्थ दो प्रकार के हैं–एक बाह्य ज्योति यथा सूर्य प्रभृति एवं दूसरा अन्तर्ज्योति यथा बुद्धि प्रभृति] चैतन्य स्वरूप आत्मा के प्रकाश से ही वे दोनों जड़, ज्योति प्रकाशित हो रहे हैं, यह युक्ति से सिद्ध होता है क्योंकि ऐसा न होने पर जड़ ज्योति समूह (उनके कोई साक्षी न रहने के कारण) अप्रकाशित ही रहेंगे । अतः इन सबके प्रकाश से इनके साक्षीस्वरूप एक स्वयंप्रकाश तथा सर्व प्रकाशक ब्रह्म का अस्तित्व स्वीकार करना ही पड़ेगा] श्रुति वाक्य से भी उपर्युक्त बात ही सिद्ध होती है यथा–'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः', 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (अर्थात् जिस तेज से प्रदीप्त होकर सूर्य तपता है; उसी के प्रकाश से यह सब कुछ प्रकाशित है) । भगवान् भी गीता शास्त्र में 'यदादित्यगतं तेजः' (गीता १५।१२) इत्यादि कहकर इस बात को ही स्पष्ट करेंगे । [अब शंका हो सकती है कि स्वयं जड़ न होने पर भी वह जड़ से मिला हुआ होगा ?] इस पर कहते हैं–नहीं, 'तत् तमसः परमुच्यते' [वह तमो (अज्ञान) से तथा अज्ञानजनित कार्य से परे

(अतीत) है अर्थात् पारमार्थिक वह आत्मस्वरूप ब्रह्म अज्ञान एवं अज्ञान के कार्य द्वारा संश्लिष्ट नहीं होता है क्योंकि ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही एक मात्र सत्य वस्तु है। समस्त विश्वप्रपंच (जागतिक दृश्य वस्तु) अज्ञान से कल्पित होकर ब्रह्म में प्रतीत होते हैं, अतः वे सभी पारमार्थिक अर्थात् मिथ्या है। अतः असत् जगत् के साथ सत् ब्रह्म का तात्विक संस्पर्श अर्थात् संसर्ग (सम्बन्ध) नहीं हो सकता। कल्पित वस्तु के साथ जो सम्बन्ध प्रतीत होता है वह भी कल्पित अर्थात् मिथ्या ही होगा] **उच्यते**—(ब्रह्म अज्ञान रूप तम से विलक्षण है यह कथित होता है [अर्थात् श्रुतियों तथा ब्रह्मवादी पुरुषों के द्वारा इसप्रकार कथित होता है, यही कहने का अभिप्राय है। श्रुति कहती है अक्षरात्परतः परः' [अर्थात् वह अक्षर प्रकृति से परे तथा अक्षरसंज्ञक जीव से भी परे है], 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' [अर्थात् वह परम ब्रह्म सूर्य के समान प्रकाश वाला तथा अज्ञान से परे है अर्थात् सूर्य जैसे अपने प्रकाश के लिये दूसरी किसी बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करता है, ब्रह्म भी अपने प्रकाश के लिये चेतन या अचेतन किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं करता है, क्योंकि वह स्वयंप्रकाश और सर्वप्रकाशक है।] [ब्रह्मवादियों ने भी इसलिये ऐसा निश्चय किया है—

'निःसङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य विकारिणः।
आत्मनोऽनात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यन्ते'॥

अर्थात् ब्रह्म निःसङ्ग है और जागतिक सभी वस्तु परस्पर संगयुक्त हैं, ब्रह्म कूटस्थ (अचल निर्विकार) है किन्तु जागतिक वस्तु विकारी है। ब्रह्म सर्वभूतों की आत्मा है किन्तु जागतिक वस्तु मात्र ही अनात्मा है, अतः ब्रह्म के साथ जागतिक किसी पदार्थ का वास्तविक योग (सम्बन्ध) होना सम्भव नहीं है। (मधुसूदन)]।

ज्ञान आदि का सम्पादन करना बहुत कठिन है ऐसी बुद्धि से उत्साहरहित (अवसन्न चित्त) हुए साधक को उत्साहित करने के लिये कहते हैं **तत् ज्ञानम्**— वह ज्ञेय ब्रह्म ही ज्ञान है अर्थात् अमानित्वादि जो ज्ञान के साधन १३।७-११ श्लोकों में कहे गए हैं वे ब्रह्म ही हैं अर्थात् वे सब साधन भी ब्रह्म से अभिन्न हैं। **तत् ज्ञेयम्**— वही ज्ञेय है। ज्ञान के विषय को ज्ञेय कहा जाता है। बारहवें श्लोक में 'ज्ञेयम् यत्तत्प्रवक्ष्यामि' इत्यादि से बतलाया हुआ परमात्मा का स्वरूप ज्ञेय है। कहने का

अभिप्राय यह है कि जो जानने के योग्य वस्तु है उसको ज्ञेय कहा जाता है। दृश्य जड़ वस्तु इन्द्रियों से स्वतः ही जानी जाती है, अतः उसका अज्ञातृत्व न रहने के कारण वह वस्तुतः ज्ञेय नहीं है इन्द्रियातीत होने के कारण तथा माया या अज्ञान द्वारा आवृत होने के कारण (गीता ५।१५) आत्मा अज्ञानी जीवों के निकट अज्ञात है। अतः आत्मा ही साधनों के द्वारा ज्ञेय है। आत्मा केवल ज्ञान (ज्ञान के उपाय) तथा ज्ञेय (जानने के योग्य वस्तु) रूप से ही विद्यमान है ऐसा नहीं परन्तु फिर **तत् ज्ञानगम्यम्**—वह ब्रह्म ही जान लिए जाने पर ज्ञान का फल होने के कारण 'ज्ञानगम्य' कहा जाता है और जब जान लिया जाता है तब साधन की अवस्था में ज्ञेय कहलाता है। [प्रश्न होगा यदि ज्ञान के साधन द्वारा ही ब्रह्म गम्य (प्राप्त होता है) तो क्या उसको किसी देशान्तर में जाकर प्राप्त करना पड़ेगा ? इस पर कहते है नहीं, **तत् सर्वस्य हृदि विष्ठितम्**—जिस ब्रह्म स्वरूप आत्मा को ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञानगम्य कहा गया है, वह इन तीनों स्वरूप में समस्त प्राणीमात्र के अन्तः करण में (बुद्धि में) विशेष रूप से स्थित है। सूर्य का तेज सर्वत्र सामान्य रूप से विद्यमान रहने पर भी जैसे दर्पण में अथवा सूर्यकान्त मणि आदि में विशेष रूप से अभिव्यक्त (प्रकाशित) होता है उसी प्रकार ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञानगन्य रूप से आत्मा सर्वत्र सामान्य रूप से विद्यमान होने पर भी वह विशेष रूप से बुद्धिगुहा में अभिव्यक्त होने के कारण वहाँ स्थित है, ऐसा कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि आत्मा वस्तुतः सबके निकट है तथा नित्य प्राप्त भी है किन्तु व्यवधानशून्य होने पर भी भ्रान्तिवश व्यवहित (दूरस्थित) सा प्रतीत होता है। अतः भ्रम के कारण जो अज्ञान है उसकी निवृत्ति होने पर निर्मल बुद्धि में वह ज्ञेय ब्रह्म प्रकट हो जाता है।

[मधुसूदन सरस्वती ने 'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्' इन तीनों शब्दों की अन्य प्रकार से व्याख्या की है। **ज्ञानम्**—प्रमाणजन्य चित्त की वृत्ति में अर्थात् वेदान्त-श्रवणादि रूप शब्द प्रमाण से जो चित्तवृत्ति विशेष उत्पन्न होती है उसमें (अर्थात् निर्मल चित्त वृत्ति में) शुद्ध संवित् स्वरूप ब्रह्म की जो अभिव्यक्ति होती है वह ज्ञान कहलाता है। इसलिये वही **ज्ञेयम्**—जानने के योग्य है क्योंकि जड़ दृश्य वर्ग तो ज्ञात ही है, अतः अज्ञातत्व का अभाव रहने के कारण वे जानने योग्य नहीं है

प्रश्न होगा कि यदि ब्रह्म ज्ञेय ही हो तो फिर सबको ब्रह्मज्ञान क्यों नहीं होता है इस पर कहते हैं वह **ज्ञानगम्यम्**—ज्ञानगम्य है अर्थात् ज्ञान के हेतु होने के कारण जिन्हें 'ज्ञान' शब्द से कहा है उन पहले बतलाये हुए (गीता १३।७-११) अमानित्व से लेकर तत्वज्ञानार्थदर्शन पर्यन्त साधन समूह से गम्य (प्राप्त होने योग्य) है, उसके विना नहीं। प्रश्न होगा कि यदि वह साधन से प्राप्त होने वाला है तो क्या देशान्तर में स्थित है ? इस पर कहते हैं नहीं **हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्**—वह सबके हृदय में (बुद्धि में) स्थित है।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—ज्योतिषाम् अपि तत् ज्योतिः—चन्द्रमा, सूर्य आदि ज्योतियों का भी वह ज्योति अर्थात् प्रकाशक है। 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (तै० ब्रा० ३।१२।६) (अर्थात् तेज से प्रदीप्त सूर्य जिसके द्वारा तपता है।), 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति (कठ० २।२।१५, मु० २।२।१०, श्वेता० ६।१४) (अर्थात् वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा और न तो तारों का समुदाय ही प्रकाशमान होता है तथा न ये विजलियाँ ही वहाँ प्रकाशित होती हैं, फिर यह लौकिक अग्नि कैसे प्रकाशित हो सकती है ? क्योंकि उसके प्रकाशित होनेपर ही उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं। उसी के प्रकाश से यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है।) इत्यादि श्रुति से भी यही बात सिद्ध होती है। **तमसः परम् उच्यते**—अतः वह तम से अर्थात् अज्ञान रूप अज्ञान से परे है क्योंकि अज्ञान उसको स्पर्श नहीं कर सकता है। ऐसा कहा जाता है। श्रुति भी ऐसा ही कहती है 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' (श्वेता० उ० ३।८; गीता ८।९) **ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्**—वही निर्मल बुद्धि-वृत्ति में प्रकट होता है, इसलिये वह ज्ञान कहलाता है। वही रूप आदि के आकार से जानने में आनेवाला भी है इसलिये वह ज्ञेय है तथा ज्ञान के द्वारा प्राप्त होने वाला है अर्थात् पूर्वोक्त अमानित्व, अदम्भित्व इत्यादि ज्ञान के साधनों द्वारा प्राप्तव्य है, इसलिये उसे ज्ञानगम्य कहा जाता है। अब ज्ञानगम्य शब्द को स्पष्ट करते हैं—**हृदि सर्वस्य विष्ठितम्**—वह प्राणीमात्र के हृदय में प्रविष्ट है अर्थात् कभी अपने स्वरूप से विच्युत (विलग) न होकर नियन्ता (सर्व कर्मों के प्रवर्तक) होकर विशेषरूप से स्थित

है। कोई-कोई 'धिष्ठितम्' इस प्रकार पाठ ग्रहण करते हैं। यह पाठ मानने पर अधिष्ठाता होकर स्थित है, ऐसा अर्थ करना पड़ेगा।

(२) **शंकरानंद**—पूर्वोक्त 'प्रभविष्णु' आदि ब्रह्म के लक्षण का अव्याकृत नामक प्रकृति में भी सम्भव होता है, अतः उसमें भी (प्रकृति में भी) ब्रह्मत्व प्राप्त हो सकता है, इस आशंका का ब्रह्म का परत्व आदि विशेषणों से परिहार करते हुये ब्रह्म को जानने के लिये ब्रह्म का स्वरूप, उसकी प्राप्ति के नियत साधन और उसकी उपलब्धि का स्थान बतलाते हैं **तमसः परम् उच्यते**—वह ज्ञेय ब्रह्म तम से (प्रकृति से अर्थात् जगत् के बीज अज्ञान से) पर (भिन्न) ही है। 'मैं अज्ञ हूँ' इस प्रकार अपने में अध्यस्त अज्ञान का प्रत्यक्-लक्षण विशिष्ट (शुद्ध चैतन्य स्वरूप अन्तरात्मा) ब्रह्म से अनुभव होता है। इसलिये अज्ञानजनित ज्ञेय से (दृश्य से) ज्ञाता ब्रह्म भिन्न ही है। श्रुति भी ऐसा कहती है–'अक्षरात् परतः परः' (वह पर ब्रह्म अक्षर से अर्थात् प्रकृति या जीव से परे हैं), 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' (आदित्य के समान नित्यप्रकाश से युक्त तथा तम से (अज्ञान से) परे हैं। 'अव्यक्तात्तु परः पुरुषः' (वह पुरुष अव्यक्त अर्थात् प्रकृति से पर है (श्रेष्ठ है।) इत्यादि श्रुति वाक्य से जगत् बीजभूत अज्ञानात्मक अव्याकृत से (मूल प्रकृति से) ब्रह्म भिन्न है, ऐसा कहा जाता है। ब्रह्म तम से, अज्ञानात्मक प्रकृति से भिन्न है इसकी पुष्टि करने के लिये ब्रह्म का अन्य विशेषण कहते हैं। यह हेतुगर्भित विशेषण है। **ज्योतिषाम् अपि तत् ज्योतिः**—ब्रह्म तम से (प्रकृति से) किस हेतु से भिन्न है ?

उत्तर—ज्योति रूप होने से, जो ऐसा ज्योति रूप (स्वयंप्रकाश) नहीं है वह ऐसा (प्रकृति से भिन्न) नहीं है, जैसे घट, इस युक्ति से (हेतु से) भी ब्रह्म अव्याकृत नामक प्रकृति से भिन्न है, यही सिद्ध होता है। इसलिये इसको हेतुगर्भित विशेषण कहा जाता है। जिसका स्वरूप ही प्रकाश है अथवा जो सदा ही प्रकाश करनेवाला है, उसे ज्योति कहा जाता है। 'जिसने जाग्रत का अनुभव किया, जिसने स्वप्न देखा, जो सुषुप्ति में सुख से सोया वही 'मैं हूँ' इस प्रकार व्यक्त तथा अव्यक्त अवस्था का प्रकाशक होने के कारण आत्मा दोनों से भिन्न है, यह प्रत्यक्षरूप से सिद्ध होता है। अनुमान (युक्ति) से भी यह सिद्ध होता है यथा–'आत्मा व्यक्त एवं अव्यक्त' (कार्य, कारण) से

भिन्न है, दोनों का साक्षी होने के कारण, जो ऐसा नहीं है, वह ऐसा नहीं। श्रुति कहती है कि 'अन्यदेव तद् विदितात्' (वह विदित से अर्थात् जो वस्तु जानी जाती है उससे अर्थात सर्व दृश्य वस्तु से अन्य ही है)। अतः श्रुतिप्रमाण से भी ब्रह्म तम से (प्रकृति) से भिन्न है यह सिद्ध होता है। यदि शंका हो कि बाह्य सूर्यादि तथा भीतर बुद्धि आदि भी ज्योतिः (प्रकाश) स्वरूप तथा अन्य को प्रकाश करनेवाले हैं ही। अतः ज्योतिष्ट्व एवं अन्यप्रकाशकत्व ब्रह्म में ही है, यह कैसे कहा जाता है?

उत्तर—इस प्रकार की आशंका युक्त नहीं है क्योंकि उन सूर्यादि का भी प्रकाशक ब्रह्म ही है। अतः अतिव्याप्ति दोष की शंका नहीं है। यह ठीक है कि आदित्य आदि तथा बुद्धि आदि अन्य वस्तुओं के प्रकाशक होने के कारण उनको स्थूल दृष्टि से ज्योति कहा जाता है किन्तु उन सब ज्योतियों का भी ब्रह्म ही ज्योति (प्रकाशक) है। चैतन्य स्वरूप आत्मज्योति से ही प्रकाश प्राप्त हुए सूर्यादि तथा बुद्धि आदि तप्त लोह-पिण्ड के समान अपने से भिन्न पदार्थ को प्रकाशित करते हैं किन्तु स्वतः उनकी प्रकाश करने की शक्ति नहीं है। इसलिए श्रुति कहती है–'येनादित्यस्तपति तेजसा अञ्जसा च' (अर्थात् जिस तेज और प्रकाश से आदित्य तपता है) 'श्रोत्रस्य श्रोत्र मनसो मनः,' (अर्थात् श्रोत्र का श्रोत्र, मन का मन) 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (उसके प्रकाश से यह सब भासता है)। इस कारण से भगवान् अत्र कह रहे हैं कि–बाह्य पदार्थ का प्रकाशक आदित्य आदि तथा आन्तर वृत्तियों के प्रकाशक मन, बुद्धि आदि भौतिक ज्योतियों का जो प्रकाशक है, वही स्वतःज्योतिस्वरूप (स्वयंप्रकाश) ब्रह्म है जो आविर्भाव, तिरोभाव, वृद्धि, क्षय और परिच्छेद से रहित है तथा नित्य, निरतिशय, स्वयंप्रकाश एवं अप्राकृत (प्रकृति से भिन्न) है। मुमुक्षु को इस प्रकार ज्ञातव्य ब्रह्म 'न सत् और न असत् हैं' (गीता १३।१२)। इस प्रकार कार्यकारणरूप सभी अनात्म पदार्थों के निषेध द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन कर वही पूर्णरूप से ज्योतियों का भी ज्योति है, ऐसा कहकर वह ज्योतिस्वरूप ब्रह्म तम से (प्रकृति से) परे हैं (भिन्न है) ऐसा उपदेश भगवान ने किया परन्तु विशेष उपदेश के विना केवल उतने उपदेश से ही ब्रह्मसाक्षात्कार सिद्ध नहीं होता है ऐसा निश्चय कर अस्मत्प्रत्यय के विषयरूप से ('मैं' शब्द के लक्ष्य वस्तु के रूप से) तत्वज्ञानी जिसको बुद्धिगुहारूप अव्याकृत आकाश में

प्रकाशमान, बुद्धि आदि के साक्षी, सर्वान्तर, सर्वप्रकाशक तीनों कालों में अबाधित, असङ्ग, अविक्रिय (विकाररहित), प्रत्यक्‌रूप जिस अखण्ड चैतन्य को साक्षात् अनुभव करते हैं वही ब्रह्म है, ऐसा साक्षात् विधिमुख से समझाने के लिये कहते हैं। **ज्ञान ज्ञेयम्**—जो बाहर भीतर सर्वत्र परिपूर्ण, स्वप्रकाश, सर्वप्रकाशक, अनाधार, अनाधेय, अखण्डित, मन और वाणी का अविषय, अनादि, अनन्त, नित्य कूटस्थ, निर्विशेष, नित्य, शुद्ध, निराभास, केवल (अद्वितीय) और **ज्ञानस्वरूप**—है वही ब्रह्म मुमुक्षु यति को अपने आत्मरूप से ज्ञेय (जानने योग्य) है। ब्रह्मज्ञान (ज्ञानस्वरूप है, यह श्रुति पुनः पुनः कहती है-'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्यस्वरूप है, ज्ञान स्वरूप है, और अनन्त स्वरूप है), 'विज्ञानं आनन्दं ब्रह्म' (ब्रह्म विज्ञान और आनन्दरूप है), 'ज्ञानं विशुद्धं विमलं विशोकम्' (ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है तथा विशुद्ध, विमल, विशोक (शोक रहित) है)। [कहने का अभिप्राय यह है कि वह ब्रह्म ही ज्ञान (ज्ञानस्वरूप) होने के कारण मुमुक्षु को अज्ञानरूप अन्धकार से पार होने के लिये एकमात्र ज्ञेय वस्तु है। इस प्रकार जो सर्वेन्द्रियों के गुणों का प्रकाशक है जो सर्वभृत् (सबके धारण करने वाला) है जो गुणों का भोक्ता है, जो प्रभविष्णु है (सृष्टिकर्ता है) जो भूतभर्ता (जो सर्वभूतों का पालनकर्ता है) जो ग्रसिष्णु (संहारकर्ता) है (गीता १३।१४–१६) जो तम से (प्रकृति से) परे है तथा ज्योतियों का भी ज्योति (प्रकाशक) है, वही ब्रह्म है, इस प्रकार तटस्थ लक्षण द्वारा परोक्ष रूप से (Indirectly) जिस वस्तु का उपदेश किया गया है, उसी में अपरोक्षत्व (साक्षात् अनुभव) सिद्ध करने के लिये 'ब्रह्मज्ञान (ज्ञानस्वरूप) है' ऐसा कहकर स्वरूपभूत लक्षण से ज्ञेय (ज्ञातव्य) ब्रह्म का उपदेश करके अब उसके ज्ञान के नियत साधनों को सूचित करने के लिये कहते हैं **ज्ञानगम्यम्**—सत् और असत् का विवेक, वैराग्य, शम, दम, संन्यास, अमानित्व आदि अन्तरंग साधनों की सम्पत्ति से सम्पन्न होकर ब्रह्मविद् गुरु की संनिधि में नित्य निरन्तर सम्यक् प्रकार से किया हुआ श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन इत्यादि के अनुष्ठान द्वारा अनादि अविद्या से उत्पन्न हुई वासना को सम्पूर्ण रूप से त्याग करके सम्पूर्ण विकल्पों से रहित होने पर सम्यक् ज्ञान श्रुति, आचार्य, ईश्वर और आत्मा के प्रसाद से (कृपा से) उत्पन्न होता है।

केवल उसी ज्ञान से ब्रह्मजन्य (प्राप्य) होता है–केवल सांख्य से, योग से, कर्म से एवं उपासना से वह ब्रह्म अधिगम्य (प्राप्य) नहीं है। जैसे सर्वांग के आरोग्य होने पर अपने भीतर में जो सुख स्वतः प्राप्त होता है उसी प्रकार तत्व ज्ञान से ही (अपने स्वरूप के ज्ञान से ही) विशुद्ध मन के द्वारा ब्रह्म को आत्मरूप से जाना जाता है। इसलिये श्रुति भी कहती है 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्', 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' अर्थात् मन से ही देखने योग्य है और मन से ही प्राप्त करने योग्य है। इसप्रकार वस्तु का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का साधन कहकर उसकी उपलब्धि का स्थान कहते हैं **हृदि सर्वस्य विष्ठितम्**—सबके (ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब तक सम्पूर्ण प्राणियों के) हृदय में अर्थात् बुद्धिगुहारूप अव्याकृत आकाश में धिष्ठित (सब प्राणियों की बुद्धि, उनके व्यापार तथा उनके अवस्थाओं के साक्षीरूप से 'मैं, "मैं' इस प्रकार अहं प्रत्यय के अर्थ रूप से विशिष्ट होकर स्थित है अर्थात् उस बुद्धिगुहारूप अव्याकृत आकाश में ही प्रत्यक् रूप ब्रह्म की उपलब्धि होती है, इसलिये वह वहीं ज्ञातव्य है अर्थात् उसको वहीं जानना चाहिये, यह कहने का अभिप्राय है। यद्यपि ब्रह्म आकाश के समान सर्वगत तथा परिपूर्ण है तथापि निरवयव निराकार एवं अति सूक्ष्म होने के कारण उसका सर्वत्र अनुभव नहीं होता है किन्तु सर्वगत आतपाग्नि का जिस प्रकार शुद्ध स्फटिक में प्रकाश होता है ऐसे ही निर्मलबुद्धि में ब्रह्म का उपलम्भ (अनुभव) होता है। 'गुहाहितं प्राणिभिर्गुह्यमानम्' 'आविः सन्निहितं गुहाचरम्' (अर्थात् गुहा में स्थित ब्रह्म प्राणियों से छिपा हुआ है, वह गुहाचर है अर्थात् हृदय गुहा स्थित होने के कारण सदा ही प्रकट एवं अति समीप है। इस श्रुति वाक्य से हृदय गुहा में स्थित ब्रह्म ही ज्ञातव्य है, ऐसा कहा जाता है। 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' इसमें हृदि शब्द से बुद्धि को सूचित किया गया है एवं वह बुद्धि ही ब्रह्म की उपलब्धि का स्थान है, यह कहने का अभिप्राय है।

नारायणी टीका—सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि इत्यादिको **बाह्य ज्योति**-पदार्थ कहा जाता है क्योंकि उनसे दूसरी बाह्य वस्तुयें प्रकाशित होती हैं किन्तु सूर्यादि ज्योतिर्मय पदार्थ स्वयंप्रकाश तथा नित्य नहीं हैं क्योंकि प्रलयकाल में वे सब पदार्थ प्रकृति के सब कार्यों के साथ अव्यक्त में लय हो जायेंगे, अतः इनके प्रकाश का भी अन्त हो जायगा। बुद्धि, मन इत्यादि को अन्तर्ज्योति कहा जाता है क्योंकि इनसे

भीतर की वृत्तियों का प्रकाश होता है परन्तु सुषुप्ति अवस्था में प्रतिदिन इनका भी लय हो जाता है, अतः ये सब न तो स्वयं-प्रकाश हैं और न ही नित्य हैं परन्तु आत्मा के प्रकाश व अस्तित्व की सिद्धि करने के लिये दूसरे किसी प्रकाश या पदार्थ की अपेक्षा नहीं रहती है कारण जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति में (अर्थात् सर्वावस्था में) मैं जानता हूँ" इसप्रकार का बोध सदा ही रहता है अर्थात् सर्व अवस्था में दूसरी वस्तु तथा वृत्ति को प्रकाश करने की शक्ति अथवा सर्वप्रपंचों का उपशम होने के पश्चात् अपने को प्रकाशित करने की शक्ति का अभाव कभी नहीं दिखाई पड़ता है। अतः आत्मा स्वयं-ज्योति (प्रकाश स्वरूप) तथा नित्य है। आत्म चैतन्य के प्रकाश से ही सूर्य, चन्द्र आदि भौतिक ज्योति (प्रकाशशील) पदार्थ दिखाई देते हैं एवं आत्मचैतन्य जब तक जीव देह में रहता है तब तक ही मन, बुद्धि की क्रिया चलती है अर्थात् सूर्यादि बाह्य ज्योति पदार्थ तथा मन, बुद्धि इन्द्रिय आदि आभ्यन्तरिक (भीतर के) ज्योति-पदार्थ आत्म-ज्योति से ही प्रकाशित होकर दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करने में समर्थ होते हैं। इसलिये श्रुति कहती है 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" अर्थात् आत्मा के प्रकाश से ही प्रकाशित होकर सर्व दृश्य वस्तु प्रकाशित हो रही हैं। सूर्यादि भौतिक ज्योति अंधकार को प्रकाशित नहीं कर सकती है अर्थात् सूर्य और अंधकार एक साथ नहीं रह सकते हैं किन्तु आत्मज्योति सर्व प्रकाशक (सर्व साक्षी) होने के कारण सूर्य तथा अंधकार को समान रूप से ही प्रकाशित करती है। सूर्य के प्रकाश अथवा रात्रि के घोर अंधकार से आत्म ज्योति की कोई हानि या वृद्धि नहीं होती है इससे भी प्रमाणित होता है कि आत्मज्योति (आत्मचैतन्य) स्वतन्त्र, निरपेक्ष एवं स्वयं-प्रकाश है तथा सब वस्तुओं का प्रकाशक भी है, इसलिये उस ज्ञेय ब्रह्मको 'ज्योतिषामपि ज्योतिः' कहा गया है। प्रश्न होगा कि आत्मा (ब्रह्म) सूर्य, चन्द्र आदि भौतिक प्रकाशक से अधिकतर प्रकाश करने वाला कोई जड़ पदार्थ है? इसके उत्तर में कहा गया—नहीं, वह तम से अर्थात् अविद्या रूप अंधकार से तथा अविद्या के कार्य सर्व विश्वप्रपंच से पर है-अर्थात् परे है (भिन्न है) क्योंकि (१) आत्मा चैतन्य स्वरूप है और दृश्य प्रपंच जड़ है (२) आत्मा एकमात्र पारमार्थिक सत्य वस्तु है और जड़ दृश्य प्रपंच अविद्या से (भ्रान्ति से) आत्मा में कल्पित हैं, अतः वे सब

अपारमार्थिक (असत् या मिथ्या) हैं। इसलिये सत् (पारमार्थिक सत्य) शुद्ध चैतन्य स्वरूप ब्रह्म के साथ असत् (अपारमार्थिक मिथ्या) जड़ दृश्यप्रपंच का किसी प्रकार से सम्बन्ध होना असम्भव है। अतः सिनेमा में दृश्य वस्तु समूह जिस प्रकार उनके आधार रूप श्वेत वस्त्र खण्ड को (Screen को) किसी प्रकार से स्पर्श नहीं कर सकते हैं, उसी प्रकार अज्ञान-कल्पित दृश्य प्रपंच नित्य, सत्य, सर्वात्मा ब्रह्म को स्पर्श नहीं कर सकते हैं। अतः वह ब्रह्म उनसे परे है. ऐसा वेदादि शास्त्र तथा ब्रह्मवादियों के द्वारा कहा जाता है। श्लोक में 'उच्यते' शब्द का यही तात्पर्य हैं। अब प्रश्न होगा यदि विश्व प्रपंच के अन्तर्गत मन, बुद्धि, मंत्र, तन्त्र, उपासना इत्यादि ब्रह्म को स्पर्श नहीं कर सकते हैं तो उस ब्रह्म को ज्ञेय क्यों कहा गया क्योंकि उनको जानने का तो कोई उपाय ही नहीं है। इसके उत्तर में कह रहे हैं कि नहीं, वह ज्ञान है, ज्ञेय है तथा ज्ञान-गम्य है। अज्ञान अवस्था में त्रिपुटी रहती है यथा दृश्य, दर्शन, स्तोता, स्तुति, स्तव्य। अतः किसी वस्तु को जानने के लिये ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय ये तीनों वस्तु साधन अवस्था में अवश्य ही रहेंगी। जिसके द्वारा ज्ञाता ज्ञेय ब्रह्म को जानता है (साक्षात् अनुभव करता है) वह ज्ञान कहलाता है इसलिये इस अध्याय में ७-११ श्लोक तक जो अमानित्वादि विंशति साधनको भगवान् ने बतलाया है उन्हें 'ज्ञान' कहा गया है। ज्ञेय ब्रह्म सम्बन्ध में भगवान ने १२–१७ श्लोक तक विस्तृत रूप से वर्णन किया है। अमानित्वादि साधनों के द्वारा जो स्वरूप ज्ञात होता है अर्थात् ज्ञान का फल प्राप्त होने से (ज्ञानरूप साधनों के फल रूप से जो वस्तु प्राप्त होती है) उस ब्रह्म को ज्ञान-गम्य कहा गया है। अब अर्जुन के मन में शंका होगी कि ब्रह्म ज्ञानगम्य है यह तो समझ में आता है परन्तु अमानित्वादि साधन रूप ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञानगम्य ये तीनों ही ब्रह्म है ऐसा क्यों कहते हो ! इसके उत्तर में कहा जायगा कि (१) समस्त त्रिपुटी ज्ञाता, ज्ञेय ज्ञान इत्यादि एक मात्र अखंड अद्वय ब्रह्म सत्ता में ही कल्पित है, यह पहले ही कहा है। अज्ञान अवस्था में ही त्रिपुटी रहती है ज्ञान अवस्था में ये तीनों एक हो जाती है। किन्तु वास्तविक दृष्टि से अधिष्ठान रूप ब्रह्म की सत्ता से इस अध्यस्त त्रिपुटी की कोई पृथक् सत्ता नहीं है। इस लिये ज्ञान, ज्ञेय, तथा ज्ञान का (फलगम्य) ब्रह्म स्वरूप ही है। (२) नदी जब समुद्र के अभिमुख हो चलती है तब क्षण-क्षण में वह समुद के

निकट से निकटतम होती जाती है एवं जब समुद्र में डूब जाती है तब जैसे चलने वाली नदी, चलनरूप क्रिया तथा चलने की लक्ष्य वस्तु जो कि समुद्र है ये यह सब एकाकार हो जाते हैं उसी प्रकार साधन की समाप्ति होने पर ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञानगम्य सब एक ब्रह्म स्वरूप हो जाते हैं। (३) ब्रह्म तब तक ज्ञेय है जब तक जीव की ब्रह्म से भिन्नत्व बुद्धि रहती है अर्थात् जब तक ब्रह्म अपने आत्म रूप से अनुभव का विषय न होकर अपरोक्ष ज्ञान का विषय आत्मरूप से साक्षात् अनुभव का विषय नहीं होकर परोक्ष ज्ञान का विषय रहता है। इसलिये जीव और ब्रह्म में भिन्नत्व बुद्धिरूप अज्ञान को मिटाने के लिये तथा ज्ञेय ब्रह्म-स्वरूप को प्रकट करने के लिये जिन साधनों की आवश्यकता है उनको ज्ञान कहा गया है वस्तुतः ज्ञान और ज्ञेय अर्थात् साधन एवं साध्य ये दोनों ही कल्पित भ्रान्ति को मिटाने के लिए कल्पित उपाय हैं। क्योंकि जीव सदा ही ब्रह्मस्वरूप ही है, इसलिए निर्विकल्प समाधि से आत्मा को साक्षात् अनुभव करने पर ज्ञान तथा ज्ञेय दोनों ही ज्ञानगम्य में (विशेष भाव से ज्ञात हुए ब्रह्म में) समाप्त हो जाते हैं अर्थात् जब साधक ब्रह्म के साथ साक्षात् एकत्व अनुभव करता है तब वह जानता है कि साधक, साधन, साध्य तीनों ही एक स्वप्न का खेल था क्योंकि आदि अन्त और मध्य में सिनेमा के श्वेत वस्त्र खण्ड के समान एक ब्रह्म स्वरूप आत्मा ही विद्यमान था एवं है। इसलिये इन तीनों को (ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञानगम्य को) पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म ही कहा है। अब प्रश्न होगा कि नदी जिस प्रकार शत-शत योजन अतिक्रमण कर समुद्र को प्राप्त होती है, उसी प्रकार जीव को भी बहु साधन का आश्रय कर देशान्तर में ब्रह्म को प्राप्त करना पड़ेगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' अर्थात् सभी प्राणी के हृदयगुहारूपी बुद्धि में विशेष रूप से अर्थात् अपने स्वरूप से कभी च्युत न होकर अन्तर्यामी रूप से स्थित है, अतः देशान्तर की बात तो बहुत दूर है। जो पूर्ण आनन्दस्वरूप ब्रह्म को जानकर जीव संसाररूपी सर्वदुःख से मुक्त होकर कृतकृत्य हो सकता है वह ब्रह्मा से लेकर तृण (तिनका) पर्यन्त सभी प्राणियों के निकट से निकटतम है क्योंकि वह तो सबसे ही शुद्ध 'मैं' है। वह आतमरूप ब्रह्म सर्वव्यापी होता हुआ भी अज्ञान के आवरण के भंग होने पर ही स्वतः निर्मल बुद्धि में प्रगट होता है, जिसप्रकार मुख का प्रतिबिम्ब

दीवाल में विद्यमान रहने पर भी स्वच्छ दर्पण में ही प्रतिफलित होता है। ब्रह्म को प्राप्त करने के लिये कोई साधन नहीं है क्योंकि वह नित्य प्राप्त है। 'मैं नहीं हूँ' अथवा 'मैं नहीं जानता हूँ' इसप्रकार अनुभव होना किसी को भी सम्भव नहीं है। अज्ञान के कारण इस प्रकार नित्य सत् तथा चित् (ज्ञाता) आत्मा को दृश्य शरीर आदि से अभिन्न मानने से काम क्रोधादि द्वारा बुद्धि कलुषित होने पर वह अपनी ब्रह्मस्वरूपता भूल कर जीव बन जाता है। अमानित्वादि ज्ञान के साधन केवल उस अज्ञान तथा अज्ञान से उत्पन्न हुई बुद्धि की कलुषता की निवृत्ति करने के लिये ही आवश्यक हैं। बुद्धि शुद्ध (सात्विक वृत्ति सम्पन्न) होने पर आत्मा का स्वरूप अपने हृदय में स्वतः ही प्रकट होता है—यही कहने का तात्पर्य है।

पूर्ववर्ती कई श्लोकों में जो कुछ कहा गया है उस समस्त विषय का उपसंहार करने के लिये यह श्लोक आरम्भ किया जाता है—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

अन्वय—इति क्षेत्रम् तथा ज्ञानम्, ज्ञेयम् च समासतः उक्तम्। मद्भक्तः एतत् विज्ञाय मद्भावाय उपपद्यते।

अनुवाद—इस प्रकार यह क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय का संक्षेप से वर्णन किया गया। मेरा भक्त इसे जानकर मेरे भाव को (परमात्मस्वरूप को अर्थात् मोक्ष को) पाने के योग्य हो जाता है।

भाष्यदीपिका—इति क्षेत्रम् तथा ज्ञानम् ज्ञेयम् च समासतः उक्तम्—इस प्रकार (पूर्वोक्त प्रकार से) महाभूतों से लेकर धृति पर्यन्त (गीता १३।५-६) क्षेत्र के ज्ञान का स्वरूप 'अमानित्वादि' से लेकर 'तत्वज्ञानार्थदर्शनम्' पर्यन्त ज्ञान का स्वरूप गीता (गीता १३।७-११) और 'ज्ञेयम् यत् तत्' से लेकर 'तमसः परम् उच्यते' यहाँ तक ज्ञेय का स्वरूप (गीता १३।१२-१६) संक्षेप से कह दिया अर्थात् इन तीनों का मैंने मन्द बुद्धि पुरुष पर कृपा करने के लिये सब वेदों का और गीता का अर्थ उपसंहार (इकट्ठा करके) संक्षेप में वर्णन किया। [इतना ही सारे

वेदों का का तात्पर्य है और वही गीता का भी अभिप्राय है (मधुसूदन)] इस यथार्थ ज्ञान का अधिकारी कौन है ? इस पर कहते हैं **मद्भक्तः**—मुझ सर्वज्ञ, परम गुरु वासुदेव परमेश्वर में अपने सम्पूर्ण भावों को जिसने समर्पित कर दिया है अर्थात् जो जिस किसी वस्तु को देखता, सुनता और स्पर्श करता है उन सबमें भगवान् वासुदेव ही है इसप्रकार ग्रहाविष्ट पुरुष के समान निश्चित बुद्धि होकर एक मात्र मेरी शरण में ही आ गया है। एवं जिसके लक्षण द्वादश अध्याय में बताए हुए हैं] वही मेरा यथार्थ भक्त है एवं वही मोक्ष का अधिकारी है (मधुसूदन)]। इसप्रकार भक्त को क्या फल प्राप्त होता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि **एतत् विज्ञाय मद्भावाय उपपद्यते**—उपर्युक्त क्षेत्र, ज्ञान तथा ज्ञेय के यथार्थ स्वरूप को विशेष भाव से (विवेकपूर्वक) जानकर मुमुक्षु (सम्पूर्ण अनर्थों से शून्य मेरे आनन्द स्वरूप परमात्मभाव को (जिसको मोक्ष कहा जाता है उसको) प्राप्त करने में समर्थ योग्य होता है अर्थात् मोक्ष लाभ कर लेता है। [श्रुति से भी यह सिद्ध होता है यथा—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

अर्थात् जिसकी भगवान् में अत्यन्त भक्ति है और जैसी भगवान् में है वैसी ही गुरु में है, उस महात्मा की बुद्धि में ही वेदों से कही हुई बातें प्रकाशित हो जाती हैं। अतः जिसे परम पुरुषार्थ (मोक्ष) पाने की इच्छा हो उसे तुच्छ विषय भोगों को छोड़कर आत्मज्ञान के साधनों का ही अनुवर्तन करना चाहिए, यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है (मधुसूदन)।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—[कहे हुए क्षेत्र आदि का, अधिकारी का तथा जो फल प्राप्त होने वाला है इन तीनों का एक साथ उपसंहार करते हैं]

इति क्षेत्रम्······समासतः—इस प्रकार महाभूतों से लेकर धृति तक क्षेत्र का, 'अमानित्व' आदि से लेकर 'तत्वज्ञानार्थदर्शनम्' तक ज्ञान का तथा 'अनादिमत् परं-ब्रह्म' से लेकर 'विष्ठितम्' तक ज्ञेय का वर्णन वशिष्ठ आदि ऋषियों द्वारा विस्तारपूर्वक

कहा गया है। यह सब मैंने तुमको संक्षेप से कह दिया। **मद्भक्तः उपपद्यते**— पूर्ववर्ती १२ वें अध्याय में मेरे भक्त के जो लक्षण कहे गए हैं उन सब लक्षणों से युक्त मेरा भक्त इसको (अर्थात् क्षेत्र का स्वरूप, ज्ञान प्राप्ति के उपाय तथा ज्ञेय ब्रह्म को। सम्पूर्ण रूप से जानकर मेरे भाव को (ब्रह्मत्व को) प्राप्त होने के योग्य होता है।

(२) **शंकरानन्द**—उपक्रान्त का (जो कुछ पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है उसका) उपसंहार करते हैं। **इति**—इसप्रकार **समासतः**—संक्षेप से ही **क्षेत्रम्**—क्षेत्र को अर्थात् क्षेत्र के विकार, उसके धर्मों, उसके कर्मों तथा उसकी अवस्थाओं के साथ क्षेत्रज्ञ आत्मा के सम्बन्ध के निषेध द्वारा केवल क्षेत्रज्ञ का विशुद्धत्व सिद्ध करने के प्रयोजन से महाभूतों से लेकर धृति तक जो सब वस्तु (मिथ्या होने के कारण) हेय है अर्थात् परित्यज्य है वही क्षेत्र का स्वरूप है उसको **ज्ञानम्**—ज्ञान को अर्थात् श्रवण, मनन आदि द्वारा आत्म-ज्ञान की सिद्धि में जो एकमात्र साधन अमानित्व आदि हैं उसको तथा **ज्ञेयम् च**—'अनादिमत् परंब्रह्म' इत्यादि से लेकर 'ज्ञानम्' तक तटस्थ और स्वरूप लक्षण से जो ज्ञेय ब्रह्म का स्वरूप जाना जाता है उसको **उक्तम्**—मैंने कहा अर्थात् जिज्ञासु मुमुक्षु के प्रति अपने स्वरूप को समझाने के लिये उसका सम्यक् प्रकार से प्रतिपादन किया। इसप्रकार कहकर अब उक्त विशेषणों से विशिष्ट ही मोक्षविषय में अधिकारी है, ऐसे अधिकारी के स्वरूप को कहते हुए पूर्व श्लोकों में उक्त लक्षण वाले ब्रह्म को अपने आत्मस्वरूप से जानने वाले विद्वानों को उस ज्ञान का जो फल प्राप्त होता है उसे कहते हैं **मद्भक्तः**—'मत्कर्मकृन्मत्परमः' तथा 'ये तु सर्वाणि कर्माणि' (गीता ११।५५, १२।६) इत्यादि श्लोकों से जो जो लक्षण प्रतिपादित हुए हैं उन लक्षणों से विशिष्ट मेरा भक्त मेरे भजन से ही शुद्ध अन्तःकरण सम्पन्न होकर अर्थात् सत्, असत्, विवेक, संन्यास, शम, दम आदि तथा अमानित्वादि साधनों से सम्पन्न होकर ब्रह्मविद् गुरु के अनुग्रह से क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ के स्वरूप का पूर्ण रूप से विवेक कर (पृथक् कर) एवं उसके धर्म आदि का त्याग कर विशुद्ध, केवल, अद्वैत, चिन्मात्र क्षेत्रज्ञस्वरूप **एतत्**—इस निर्विशेष परमब्रह्म को अर्थात् सर्व उपाधि रहित शुद्धचैतन्यस्वरूप परमब्रह्म को 'वही मैं हूँ' इसप्रकार अपने आत्म रूप से **विज्ञाय**—जानकर अर्थात् उसके तादात्म्य की (एकत्वभाव की) प्राप्ति से

उसी में अहं बुद्धि की स्थापना कर, ब्रह्मविद् यदि **मद्भावाय**—मेरे (ब्रह्म के) भाव को (निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप से स्थित रूप कैवल्य को अर्थात् मोक्ष को) प्राप्त करने के लिये **उपपद्यते**—योग्य (समर्थ) होता है अर्थात् सर्व उपाधि से मुक्त होकर पूर्ण स्वरूप से स्थित होता है।

(३) **नारायणी टीका**—भगवान् ने पूर्ववर्ती ५–१७ श्लोक तक क्षेत्र, ज्ञान तथा ज्ञेय का स्वरूप संक्षेप से कहा है। क्षेत्र अर्थात् शरीरादि दृश्य प्रपञ्च अविद्या (माया) से कल्पित होकर ब्रह्म में अध्यस्त होते हैं। क्षेत्रज्ञ आत्मा शुद्धचैतन्यस्वरूप होकर भी अनिर्वचनीय माया शक्ति से क्षेत्र धर्म में मैं और मेरापन कर अपने को जीव मानकर संसार चक्र में भ्रमण करता है एवं जब क्षेत्र तथा क्षेत्र धर्म से पृथक् कर अपने यथार्थ स्वरूप को जान लेता है तब इस अज्ञानजनित संसार प्रवाह से मुक्त होता है। क्षेत्र के स्वरूप को विशेष भाव से जानकर उसका मिथ्यात्व निश्चय करने पर ही उससे क्षेत्रज्ञ आत्मा जो सम्पूर्णरूप से पृथक् है इसका साक्षात् अनुभव होना सम्भव है। इसलिये भगवान् ने क्षेत्र का स्वरूप पहले ही (गीता १३।५–६) कहा है। प्रत्येक मनुष्य को अपने स्वरूप को जानना ही कर्तव्य है। उस स्वरूप को ही 'ज्ञेय ब्रह्म' रूप से वर्णन किया (गीता १३।१२–१७) इस ज्ञेय ब्रह्म के (अर्थात् जिसको साक्षात् अनुभव करने पर क्षेत्र से जीव मुक्त हो सकता है उसके) सोलह लक्षण बतलाये गये हैं—

(१) वह आदिमत् नहीं है अज है।

(२) वह सत् (कार्य) नहीं है तथा असत् (कारण या अव्यक्त प्रकृति) भी नहीं है अर्थात् प्रकृति से अतीत है।

(३) वह सर्वव्यापी तथा सर्वत्र हाथ, पैर, सिर, मुख और कर्ण विशिष्ट है अर्थात् सबकी इन्द्रियाँ उनके चेतन से ही चेतन सा होकर कार्य कर रही हैं।

(४) वह सर्व इन्द्रियों से वर्जित तथापि सर्व इन्द्रियों के गुणों का प्रकाशक है।

(५) वह सारे विश्व प्रपञ्च का आधार होते हुए भी असक्त है अर्थात् किसी वस्तु के साथ उसका सम्बन्ध नहीं है।

(६) वह निर्गुण है तथापि सब गुणों को पालन करता है।

(७) सर्व जीवों के बाहर अन्तर में एक मात्र वही विद्यमान है।

(८) अतः स्थावरजंगम रूप में जो कुछ प्रतीत होता है वह वही है।

(९) वह सूक्ष्म है अतः इन्द्रियों का अविषय होने के कारण मूढ़ व्यक्ति उसको नहीं जान सकता है।

(१०) वह दूर से दूर और निकट से निकट स्थित है।

(११) वह विभक्त (नाना)–सा प्रतीत होता हुआ भी वस्तुतः अविभक्त (अर्थात् एक अद्वितीय) ही है।

(१२) विश्व का वही सृष्टिकर्ता, पालनकर्ता तथा संहारकर्ता है।

(१३) वह ज्योति का (सूर्यादि का) भी ज्योति (प्रकाशक) है।

(१४) वह तम से (अज्ञान तथा अज्ञान के कारण विश्व प्रपञ्च से) परे (अतीत) है।

(१५) वही अमानित्व आदि का साधन, वही ज्ञेय (उक्त लक्षणविशिष्ट परमब्रह्म) तथा वही ज्ञानगम्य (साक्षात् अनुभव का फल मोक्ष) है।

(१६) वह अन्तर्यामी रूप से सबकी हृदय गुहा में (बुद्धि में) स्थित है क्योंकि वह सबकी प्रत्यक् आत्मा है। इसप्रकार ज्ञेय ब्रह्म को जानने के लिये चित्त की शुद्धि (अर्थात् क्षेत्र तथा क्षेत्र के धर्मों का मिथ्यात्व निर्णय कर उनमें सम्पूर्ण रूप से आसक्तिहीन) होना आवश्यक है क्योंकि निर्मल बुद्धि में ही आत्मा के रूप में विद्यमान वह परमब्रह्म प्रकट होता है। इस चित्तशुद्धि के जो अमानित्वादि विंशति उपाय भगवान् ने बतलाये उसके बिना ज्ञेय ब्रह्म प्राप्त नहीं हो सकता है। इसलिये उन साधनों को भी विशेष रूप से जानना आवश्यक है–इसलिये भगवान् ने कहा–'एतद् विज्ञाय'। कहने का तात्पर्य यह है कि क्षेत्र का मिथ्यात्व निर्णय कर अमानित्वादि साधनों से (ज्ञान से) चित्त की शुद्धि का सम्पादन करने के पश्चात् ही ज्ञेय ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है परन्तु जब वही ब्रह्म क्षेत्र, ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञानगम्य (मोक्षरूप फल) का एक मात्र आधार है तब उनकी कृपा बिना इन सबका यथार्थ स्वरूप जानना असम्भव है। इसलिये भगवान् ने कहा कि जो मेरा भक्त है अर्थात् बारहवें अध्याय में भक्त के जो-जो लक्षण मैंने कहा है उन लक्षणों से विशिष्ट मेरा भक्त ही इन सबके (क्षेत्र, ज्ञान, ज्ञेय के) तत्त्व को विशेष रूप से जानकर मेरे भाव को (ब्रह्म

स्वरूपता को) प्राप्त करने में योग्य (समर्थ) हो जाता है। यथार्थ भक्त तो वही है जो चलते-फिरते, खाते-सोते एक मात्र भगवान् की सत्ता की ही उपलब्धि करता है एवं अपनी सत्ता को भगवान् की सत्ता में मिटा देता है। नदी समुद्र के यथार्थ-स्वरूप को तभी जान सकती है जब वह अपनी विशेष सत्ता का लय कर स्वयं समुद्र ही हो जाती है। घट में आकाश तभी पूर्ण रूप से भर जाता है जब घट पूर्व रूप से शून्य हो जाता है। इसलिये भक्त भगवान् को तभी यथार्थ स्वरूप से जान सकता है एवं परमानन्दरूप मोक्ष पद को तभी प्राप्त हो सकता है जब वह अपनी सत्ता को ब्रह्म में मिटा देता है। श्रुति भी वही बात स्पष्ट करती है, यथा, 'यो ह वै परं ब्रह्म वेद, ब्रह्मैव भवति, तरति शोकं तरति पाप्मानम् गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतमश्नुते (मा० उ०) अर्थात् जो परम ब्रह्म को जानता है अर्थात् (साक्षात् अनुभव करता है) वह ब्रह्म ही हो जाता है एवं शोक, पाप इत्यादि से मुक्त होकर अमृतत्व (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है।

[सातवें अध्याय में ईश्वर की क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ रूपी अपरा और परा दो प्रकृतियाँ बतलायी गयी हैं। यह भी कहा गया है कि ये दोनों प्रकृतियाँ समस्त प्राणियों की योनि (कारण) हैं और वे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ रूप दोनों प्रकृतियाँ सब भूतों की योनि (कारण) किस प्रकार हैं यह बतलाया जाता है—]

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥ १९॥

अन्वय—प्रकृतिम् पुरुषम् च एव उभौ अपि अनादी विद्धि, विकारान् गुणान् च प्रकृतिसंभवान् एव विद्धि।

अनुवाद—प्रकृति और पुरुष इन दोनों को ही तुम अनादि जानो तथा विकारों तथा गुणों को प्रकृति से उत्पन्न हुई जानो।

भाष्यदीपिका—प्रकृतिम् पुरुषम् च एव उभौ अपि—प्रकृति (अपरा प्रकृति अर्थात् क्षेत्र) एवं पुरुष (जीवलक्षणा अपरा प्रकृति या क्षेत्रज्ञ) इन दोनों

को ही परमेश्वर की गुणात्मिका माया शक्ति को ही प्रकृति कहा गया है **अनादी विद्धि**—तुम अनादि जानो (जीवका आदि (कारण) नहीं है उनका नाम अनादि है)। समस्त जगत् का कारण होने से प्रकृति अनादि है क्योंकि प्रकृति को भी यदि आदि अर्थात् अन्य कारण की अपेक्षा रहे तो अनवस्था प्रसंग होगा अर्थात् यदि माना जाय कि प्रकृति का दूसरा कारण (आदि) है तो उसका भी कोई कारण है तथा उस कारण का भी कोई कारण है इस प्रकार अनन्त कारणों की कल्पना करनी पड़ेगी अर्थात् कारण का कोई विराम (शेष स्थिति) नहीं रहेगी इसको न्यायशास्त्र में अनवस्था दोष कहा हैं तथा पुरुष (जीव रूप परा प्रकृति या व्यष्टि क्षेत्रज्ञ) भी अनादि है क्योंकि पुरुष के धर्माधर्म के कारण ही सम्पूर्ण जगत् की प्रवृत्ति के कारण हैं एवं सुख दुःख आदि का जो तारतम्य दिखाई पड़ता है उसका कारण भी धर्म तथा अधर्म का संस्कार ही है एवं उस धर्माधर्म संस्कार के कारण ही जीव को हर्ष, शोक व भय की प्राप्ति होती है। यदि इस जन्म के सुख दुःख के कारण रूप से पूर्व जन्मकृत धर्म-अधर्म संस्कार को नहीं माना जाय तो कृतहानि (अर्थात् पूर्व जन्मकृत कर्मों का नाश) एवं अकृताभ्यागम (अर्थात् जो कर्म पहले नहीं किया गया उस कर्म के फल का इस जन्म में भोग) इसप्रकार दो दोषों का प्रसंग उपस्थित होगा। अतः यह सिद्ध होता है कि पुरुषको (जीवरूप प्रकृति को) आश्रय कर धर्माधर्म रूप संस्कार ही संसार का कारण है। अतः वह संस्कार भी अनादि है। इसलिये जिसका आश्रय करके अनादि धर्माधर्मरूप कार्य हो रहा है, वह पुरुष [कर्त्ता, भोक्ता रूप से प्रतीयमान पुरुष (परा प्रकृति)] को भी अनादि मानना पड़ेगा। अतः प्रकृति (क्षेत्र रूप अपरा प्रकृति) तथा पुरुष (क्षेत्रज्ञ जीव रूप परा प्रकृति) का अनादित्व सिद्ध होता है।] ईश्वर का ईश्वरत्व नित्य होने के कारण उसकी दोनों प्रकृतियों का नित्य होना उचित ही है क्योंकि इन दोनों प्रकृतियों से युक्त होना ही ईश्वर की ईश्वरता है। जिन दोनों प्रकृतियों द्वारा ईश्वर जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण है वे दोनों अनादिसिद्ध होने से ही अनादि संसार का कारण हो सकती हैं। 'न आदि (कारण) है, कोई-कोई टीकाकार वह अनादि हैं,' इसप्रकार तत्पुरुष समास द्वारा अनादि शब्द की व्याख्या करते हैं और कहते हैं कि केवल ईश्वर ही

जगत् का कारण है, यह सिद्ध होता है। उनके मत से यदि पुरुष और प्रकृति को नित्य माना जाय तो संसार उन्हीं का रचा हुआ माना जायेगा अर्थात् जगत् सृष्टि व्यापार में ईश्वर का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होगा। इसप्रकार की व्याख्या युक्त नहीं है क्योंकि उनके मतानुसार प्रकृति एवं पुरुष के अनादि (न आदि अर्थात् कारण नहीं) होने पर वह (ईश्वर) कार्य ही होगा एवं सृष्टि के पूर्व में किसी प्रकार की ईशितव्य (शासन करने योग्य) वस्तु न रहने के कारण उस समय ईश्वर के ईश्वरत्व के अभाव का प्रसंग (अर्थात् ईश्वर का ईश्वरत्व नित्य नहीं है इस प्रकार का प्रसंग), संसारको विना निमित्त के उत्पन्न हुआ मानने से उसके अन्त के अभावका प्रसंग, शास्त्र की व्यर्थता का प्रसंग और बन्ध और मोक्ष के अभाव का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। [कहने का अभिप्राय यह है कि ईश्वर प्रकृति और पुरुष की अपेक्षा न करके ही स्वतन्त्र भाव से जगत् की सृष्टि करे तो धर्माधर्म रूप कर्म की अपेक्षा न करके ही जगत् की सृष्टि होती है, यह मानना पड़ेगा। इसप्रकार मानने से (क) बन्ध मोक्ष का कोई कारण निश्चित नहीं हो सकता। (ख) जीव के मोक्ष की कोई सम्भावना नहीं रहती है। (ग) किसी निमित्त की अपेक्षा करके यदि सृष्टि व्यापार अनन्त काल तक चले तो मुक्त पुरुष को भी संसार प्राप्ति अवश्यम्भावी है। (घ) इन सब कारणों से बन्ध-मोक्षप्रतिपादित शास्त्र की व्यर्थता का प्रसंग प्राप्त होता है। अतः उन सब टीकाकारों के मत अनेक प्रकार से दोषयुक्त होने के कारण अनादि शब्द का नञ् तत्पुरुष समास न कर बहुव्रीहि समास करके जो व्याख्या की गई है वही युक्तियुक्त है अर्थात् ईश्वर की पुरुष (पराप्रकृति) और प्रकृति (अपरा प्रकृति) इन दोनों प्रकृतियों को अनादि (नित्य) मान लेने से ईश्वर का नित्य ईश्वरत्व, बन्ध-मोक्ष शास्त्र की सार्थकता इत्यादि की व्यवस्था ठीक हो जाती है। प्रश्न होगा कि कैसे ठीक हो जाती है ? इस पर कहते हैं **विकारान् गुणान् च एव**—विकारों को और गुणों को अर्थात् बुद्धि से लेकर शरीर आदि इन्द्रियों तक के विकारों को (गीता १३।५६) तथा सुख, दुःख और मोह आदि वृत्ति के रूप में परिणाम प्राप्त हुए तीनों गुणों को [पंचभूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि जल, पृथ्वी और ग्यारह इन्द्रियाँ (पंच कर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन अर्थात् अन्तः-करण) इन सोलह विकारों को तथा गुणों को अर्थात् सत्व, रजः तमः तथा उनके

परिणाम सुख दुःख एवं मोहको (मधुसूदन)] **प्रकृतिसंभवान् विद्धि**—प्रकृति से उत्पन्न हुए जानो। अभिप्राय यह है कि विकारों की कारणरूपा जो ईश्वर की त्रिगुणमयी माया शक्ति है, उसका नाम प्रकृति है। उन विकारों और गुणों का सम्भव प्रकृति से ही हुआ है अर्थात् वे प्रकृति से ही उत्पन्न हुए हैं (प्रकृति के ही परिणाम हैं), ऐसा जानो।

टिप्पणी (१) श्रीधर—पूर्ववर्ती तीसरे श्लोक में वह क्षेत्र जो है और जैसा है' ऐसा कहा गया। इन दोनों का अब तक भगवान् ने विचार किया परन्तु उसमें जो कहा गया कि 'जिन विकारों से युक्त है तथा जिससे जो हुआ है एवं वह भी जो है और वह जिस तरह के प्रभाव वाला है' इस अंश के निरूपण की प्रतिज्ञा पहले करने पर भी अभी तक उसको स्पष्ट नहीं किया गया है। इसलिये अब प्रकृति पुरुषको संसार का हेतु बताकर पाँच श्लोकों द्वारा उक्त विषयों का विस्तार से वर्णन किया जाता है **प्रकृतिम् पुरुषम् च इत्यादि**—यदि प्रकृति और पुरुष इन दोनों को आदिमान् (अर्थात् उनका भी कोई कारण है ऐसा माना जाय तो उन दोनों की दूसरी प्रकृति (कारण) होनी चाहिये (फिर इस प्रकृति की भी कोई प्रकृति होगी) इस प्रकार अनवस्था प्राप्ति का दोष उत्पन्न होगा। इसलिये भगवान् ने कहा 'अर्जुन तुम दोनों को (प्रकृति तथा पुरुषको) अनादि जानो'। अनादि ईश्वर की शक्ति होने के कारण प्रकृति (माया) अनादि है और पुरुष (क्षेत्रज्ञ) भी उस ईश्वर का अंश होने के कारण अनादि है। इस श्लोक की व्याख्या में परमेश्वर का और उनकी शक्तियों का अनादित्व और नित्यत्व भाष्यकार श्रीमान् शंकराचार्य भगवान् ने बहुत विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किया है, इसलिये हमारे द्वारा उसका विस्तार नहीं किया जाता है। **विकारान् च गुणान् च एव विद्धि प्रकृतिसंभवान्**—देह इन्द्रियादि विकारों को और गुणों को अर्थात् गुणों के परिणाम स्वरूप सुख, दुःख मोह आदि को तुम प्रकृति से सम्भव (उत्पन्न) हुए जानो।

(२) शंकरानन्द—यद्यपि सम्पूर्ण वेदान्त और गीता का अर्थ यहाँ समाप्त हुआ तथापि सातवें अध्याय में 'एतद् योनीनि भूतानि' (गीता-७।६) इस श्लोक से जो पर और अपर प्रकृतियों में संसार का कारणत्व (जन्म आदि और उनका कारणत्व)

सूचित किया था उसीको अब 'कार्यकारणकर्तृत्वे' (गीता १३।२०) 'यावत्सञ्जायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्' (गीता–१३।२६) इनसे विशेष स्पष्ट करने के लिये तथा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवेक करने पर ही (क) जो प्रकृति और पुरुष का तत्त्व अब तक विदित नहीं है वे (प्रकृति और पुरुष) अनादि है, (ख) सभी विकार तथा गुण समूह प्रकृति के कार्य हैं, (ग) क्षेत्रज्ञ में क्षेत्र रूप जो संसार प्रतीत होता है उसका एक मात्र कारण गुणों का अध्यास है (घ) संसार प्रकृति का धर्म है (ङ) आत्मा निर्विकार है, असंग है, अकर्ता है, अभोक्ता तथा असंसारी है इन सब विषयों का विशेष स्पष्टीकरण परवर्ती (आगे के) श्लोकों में किया जा रहा है। **प्रकृतिम् पुरुषम् च एव**—'भिन्ना प्रकृतिरष्टधा अपरेयम्' (गीता ७।४-५) इससे प्रतिपादित सब विकारों का कारण ईश्वर की जो त्रिगुणात्मिका माया शक्ति है उसे ही प्रकृति कहा गया है। और अविद्यारूपी उपाधि से युक्त क्षेत्रज्ञ को ['प्रकृतिम् विद्धि में पराम्' (गीता–७।५) इससे कथित लक्षण से युक्त अर्थात् जीव भूतचैतन्य को] पुरुष कहा गया है। जैसे राज्य के सम्बन्ध से मनुष्य को राजा एवं प्रभु कहा जाता है, उसी प्रकार अपरा प्रकृति के सम्बन्ध से क्षेत्रज्ञ को परा प्रकृति या जीव कहा जाता है प्रत्यक् रूप से चेतन (प्रकाशक) होने के कारण मूल प्रकृति से (अपरा प्रकृति से परा प्रकृति उत्कृष्ट है। अतः 'पुरुषम्' शब्द का अर्थ है—'परा प्रकृति' इस संज्ञा को जो पुरुष प्राप्त हुआ है वह **उभौ अपि अनादी विद्धि**—ये दोनों प्रकृति और पुरुष अनादि हैं [जिनका आदि (कारण) नहीं है या जिनका आदि मत्त्व (पूर्व काल से परिच्छेद अर्थात् पूर्व में यह नहीं था इस प्रकार का अभावबोध) नहीं है वे अनादि हैं अर्थात् जो सबके आदि-भूत परन्तु स्वयं आदि रहित हैं वे अनादि कहलाते हैं।] ईश्वर के समान उन दोनों के (प्रकृति तथा पुरुष के) नित्यत्व का निश्चय करने के लिये 'एव' शब्द का प्रयोग किया गया है। ईशत्व नित्यत्व ईशितव्य की अपेक्षा रखता है अर्थात् ईश्वर और ईशितव्य इन दोनों के नित्य होने पर ही ईश्वर का ईश्वरत्व नित्य होगा अन्यथा नहीं।

प्रश्न—दूसरे नक्षत्र के योग से जैसे सूर्य में नक्षत्रित्व माना जाता है ऐसे ही प्रकृति के अनित्य होने पर भी क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाली दूसरी प्रकृति का ईश्वर के साथ योग होने पर भी ईश्वर में नित्यत्व का सम्भव हो जाता है, अतः प्रकृति पुरुष के नित्यत्व को स्वीकार करने का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—इस प्रकार कहना युक्त नहीं है क्योंकि 'अजामेकाम्' (श्वेत० उ०) इस श्रुतिवाक्य से मूल प्रकृति अज (उत्पत्तिरहित) तथा एक है, ऐसा प्रतिपादित है। अतः दूसरी प्रकृति का अस्तित्व असम्भव है। 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः' अर्थात प्रधान तथा क्षेत्रज्ञ के प्रति गुणों का ईश्वर है, इससे परमात्मा दोनों प्रकृतियो का ईश्वर है, ऐसा सुनने में आता है। इसलिये ईश्वरत्व के निमित्तभूत दोनों (अपरा प्रकृति तथा परा प्रकृति अर्थात् पुरुष) ईश्वर के समान नित्य ही हैं। उन दोनों के अनित्य होने पर तो (क) ईश्वर के कहीं कहीं ईशत्व का अभाव होने के कारण ईश्वरत्व भी भंग हो जायगा तथा (ख) सृष्टि के आदि में किसी के पुण्य-पाप आदि के संस्कार का रहना असम्भव है। अतः पुण्य-पापादि की अपेक्षा न कर यदि जगत्सृष्टि होती है तो निमित्त के बिना ही जीवों की नानायोनि की प्राप्ति का प्रसंग आयगा एवं इसी प्रकार सुख दुःख आदि की कल्पना भी निमित्त के बिना ही होगी। ऐसा होने से जगत् के स्रष्टा ईश्वर में वैषम्य और नैर्घृण्य (निष्ठुरता) का प्रसंग आयगा। (ग) फिर प्रकृति से जो बद्ध है वह बद्ध ही है एवं जो उससे मुक्त है वह मुक्त है, इस प्रकार बन्ध-मोक्ष की नियत व्यवस्था नहीं रहेगी। (घ) यदि जीव की उत्पत्ति का कोई कारण (निमित्त) न रहे तो बद्ध की भी मुक्ति एवं मुक्त के भी जन्मादि का प्रसंग आयगा। (ङ) इस प्रकार होने पर बन्ध-मोक्ष का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र निरर्थक हो जायेंगे। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि पुरुष और प्रकृति को नित्य माना जाय तो उक्त प्रकार से अनर्थ-परम्परा प्राप्त हो जायगी। यदि कहा जाय कि जीव की उत्पत्ति आधुनिक है, अतः उक्त अनर्थ की प्राप्ति नहीं होती है तो इसके उत्तर में कहेंगे कि इस प्रकार के कहने से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरोध होगा। प्रत्यक्ष रूप से यह देखने में आता है कि जीवों में सुख, दुःख आदि की विचित्रता है एवं यह विचित्रता कर्म से ही होती है, पुरुष की स्वतन्त्रता से (अपनी इच्छा से) नहीं होती है। यदि पुरुष की इस विषय पर कोई स्वतन्त्रता स्वीकार की जाती है तो सब एक से हो जायेंगे अतः सुख दुःख आदि की विचित्रता की अन्यथा उपपत्ति (अन्य कोई युक्ति) न होने से धर्म और अधर्म से ही संसार-प्रवाह चलता है, ऐसा अनुमान किया जायगा। इसलिये अनुमान से (युक्ति से) तथा 'यत् कर्म कुरुते तद् अभिसम्पद्यते' अर्थात् जो जैसा कर्म करता है

उसी के अनुसार फल प्राप्त होता है इत्यादि श्रुति वाक्य से सुख आदि, कर्मों से ही होते हैं ऐसा आगम प्रमाण से जाना जाता है। सुख दुःख का हेतु जो कर्म है वह पिछले जन्म का कर्म होगा, आधुनिक कर्म नहीं है क्योंकि छोटे शिशु आदि में जो सुख दुःख दिखाई देता है उसके हेतुभूत इस जन्म का कोई कर्म देखने में नहीं आता। ऐसा होने पर भी कर्म का कर्त्ता जीव नित्य ही है, यह श्रुति प्रमाण से सिद्ध होता है क्योंकि श्रुति कहती है–'न जीवो म्रियते' (जीव नहीं मरता है)। 'अजामेकाम्' तथा 'न जीवो म्रियते' इत्यादि श्रुतियों से जीवरूप पुरुष (परा प्रकृति) तथा अपरा प्रकृति इन दोनों को नित्य मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

शंका—ईश्वर के समान इन दोनों प्रकृतियों को नित्य मानने पर प्रकृति से युक्त आत्मा का कभी मोक्ष नहीं होगा और ब्रह्म का अद्वितीयत्व भी सिद्ध नहीं होगा। अतः ब्रह्म का अद्वितीयत्व और जीव के मोक्ष के साधन का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र भी अप्रमाण हो जायगा, ऐसा यदि कहा जाय तो ?

उत्तर—नहीं, ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि वह सब माया का कार्य है। यथार्थ ज्ञान प्राप्त होने पर स्वप्न के पदार्थ के समान यह सब मिथ्या अनुभूत होता है। जाग्रत दशा में निद्रा और निद्रा के कार्य में सत्यत्व बुद्धि नहीं रहती है उसी के समान 'न सत्तन्नासदुच्यते' (न वह सत् और न वह असत् कहा जाता है) इस प्रकार के वचन के अनुसार जिस अवस्था में आत्मा का यथार्थ विज्ञान होता है उसी दशा में माया एवं उसके कार्य, इन दोनों का ही असत्यत्व निश्चित होता है। 'जीवेशावाभासेन करोति माया चाऽविद्या च स्वयमेव भवति' (अर्थात् ईश्वर और जीव को माया, आभास से करती है तथा स्वयं माया और अविद्या नाम से प्रसिद्ध होती है।) 'मायामात्रमिदं द्वैतम्' (अर्थात् यह द्वैत मायामात्र है) 'विकल्पो नहि वस्तु' (अर्थात् विकल्प वस्तु नहीं है), इस प्रकार श्रुति वाक्यों से माया और उसके कार्य असत् हैं ऐसा जाना जाता है। अतः ब्रह्म का अद्वितीयत्व एवं उसको जानने वाले का मोक्ष और उसके प्रतिपादक शास्त्र का प्रामाण्य सिद्ध होता है 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितरं पश्यति' अर्थात् जहाँ द्वैत सा होता है वहाँ दूसरा दूसरे को देखता है, इस न्याय से अज्ञान दशा में सब अर्थवान् (अर्थात् सत्य सा प्रतीत) ही होता है किन्तु विवेक

दशा में विचार करने पर सब मिथ्या ही है ऐसा समझाने के लिये भगवान् ने प्रकृति और पुरुष के विवेक का प्रारम्भ करके कहा है—**प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि**—प्रकृति और पुरुष को तुम अनादि (नित्य) जानो। **किंच विकाराः—** देह, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार आदि और शब्दादि तन्मात्रा—ये सब विकार हैं। इन सब विकारों को **गुणान् च एव** – तथा गुणों को (सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, लोभ, मोह काम, संकल्प आदि; शम, दम आदि; भ्रम प्रमाद आदि; तथा पुण्य-पाप रूपी इन्द्रियों के व्यापार–इन सबको भी प्रकृति सम्भव है अर्थात् त्रिगुणात्मिका अव्यक्त शब्द वाच्य माया रूप प्रकृति से, बीज से जिस प्रकार अंकुर, स्कन्ध, शाखा, पत्र, पुष्प, फल आदि की उत्पत्ति होती है ऐसे ही उन सब गुणों की उत्पत्ति हुई है, ऐसा जानो। वे आत्मा से उत्पन्न नहीं हुए हैं–क्योंकि आत्मा निरवयव, असंग तथा विकाररहित होने से आत्मा से किसी की उत्पत्ति नहीं हो सकती किन्तु भोक्ता के अदृष्ट वश प्रकृति स्वयं ही गुणों की विषमता को प्राप्त होकर महत् आदि विकार के रूप से तथा गुणों के रूप से परिणाम को प्राप्त होती है, ऐसा जानो। इससे यह सूचित किया गया है कि यदि यह सिद्ध होता है कि विकार और गुणसमूह प्रकृति के कार्य हैं तो पुरुष में (आत्मा में) अकर्तृत्व, अविकारित्व और निर्गुणत्व भी सिद्ध होता है।

(३) **नारायणी टीका**—सप्तम अध्याय में वर्णित ईश्वर की दो प्रकृतियाँ हैं। एक अपरा प्रकृति [(पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व आकाश, ये पञ्चभूत) तथा मन, बुद्धि एवं अहंकार, इस प्रकार] जो अष्टधा (आठ प्रकार से) विभक्त है एवं दूसरी जीवरूपा पराप्रकृति–जो विश्व को धारण किये हुए है। ये दोनों प्रकृतियाँ ही सर्वभूतों की योनि (दोनों प्रकृतियों के संयोग) से ही सारा विश्व सृष्ट हुआ है अर्थात सारा जगत्‌रूप नाटक चल रहा है (गीता ७।५–६)। सप्तम अध्याय में जिसको अपरा प्रकृति कहा है उसको ही तेरहवें अध्याय में 'क्षेत्र' एवं पन्द्रहवें अध्याय में 'क्षर' कहा है। सप्तम अध्याय में जिसको परा प्रकृति या जीव कहा है, तेरहवें अध्याय में उसी को 'क्षेत्रज्ञ या पुरुष' तथा पन्द्रहवें अध्याय में 'कूटस्थ या अक्षर' कहा गया है। परमात्मा, पुरुषोत्तम, ब्रह्म, शुद्ध चैतन्य सत्ता, ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। परमात्मा अनादि होने के कारण, ये दोनों प्रकृतियाँ (अपराप्रकृति तथा पुरुष अर्थात जीवरूपा

परा प्रकृति) भी अनादि हैं। जिसका आदि कारण नहीं है, अर्थात् जो स्वतः ही प्रतीत होता है वह अनादि है। जिसको यहाँ प्रकृति शब्द से कहा गया है वह अपराप्रकृति सत्त्व, रज आदि तीन गुणों का परिणाम है। नामरूप क्रियात्मक विश्वप्रपंच को ही यहाँ अपराप्रकृति या क्षेत्र शब्द से कहा गया है। अतः सभी गुण तथा विकार (विकार-शील पदार्थ) उस अपरा प्रकृति से ही उत्पन्न हुये हैं। कोई-कोई टीकाकारों ने सांख्य मत में जिनको सोलह विकार (आकाशादि पंचमहाभूत, पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ एवं मनरूप अन्तरिन्द्रिय) कहे हैं, उनको यहाँ 'विकार' शब्द से ग्रहण किया है। किन्तु विकार शब्द से सांख्यमत में जिनको (१) प्रकृति (२) विकृति तथा (३) प्रकृति–विकृति कहा गया है, उन सबको ही अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म सर्व विश्वप्रपञ्च प्रकृति का तथा उसके कार्य, गुणों के ही परिणाम होने के कारण, उन सबको ही 'विकार' शब्द से ग्रहण करना युक्तियुक्त है। प्रकृति समस्त जगत् का कारण है। यदि उसका भी कोई कारण रहता तो अनवस्था दोष उपस्थित होता अर्थात् कारण के कारण, फिर उसके भी कारण, इस प्रकार कारण परम्परा मानने से, आदि कारण का निश्चय सम्भव नहीं हो सकता। इसलिये प्रकृति अनादि है (कारण-रहित है)। दूसरी बात यह है कि एक अखण्डाद्वय परमात्मा में जो स्वतःसिद्ध, अनिर्वचनीय, कल्पना शक्ति है, उसे ही प्रकृति व माया कहते हैं। 'विकल्पो नहि वस्तु' (कल्पना कोई वस्तु नहीं है) इस न्याय से भी प्रकृति अनादि है। जिस प्रकार रज्जू में कल्पना से जो सर्पभ्रान्ति होती है, वह जब तक सर्प प्रतीत होता है तबतक कल्पना के सिवाय उसका और कोई कारण नहीं है। अर्थात् उस सर्प की न कोई माता है और न कोई पिता है। इसी प्रकार विकार-शील सर्व जगत् का मूल कारण कल्पना या प्रकृति ही है एवं वह कोई वस्तु न होने से उसका कोई दूसरा कारण नहीं हो सकता है। जीवरूपा पराप्रकृति जिसको यहाँ पुरुष शब्द से कहा गया है, वह चित्स्वरूप ब्रह्म का आभासमात्र है अर्थात् अपराप्रकृति से जो विकार की सृष्टि हुई है, उसमें जब 'मैं और मेरा' इस प्रकार तादात्म्य-अभिमान होता है, तब ब्रह्म ही जीवरूप से प्रतीत होता है (यद्यपि शुद्ध ब्रह्म चैतन्य स्वरूप, नित्य, तथा अविकारी होने के कारण वह अपने स्वरूप से कभी च्युत नहीं होता है)। जीव वस्तुतः ब्रह्मस्वरूप ही है। परिच्छिन्न देहादि में आत्माभिमान कर वह जीव बन

जाता है। उस अवस्था में उसको ब्रह्म का अंश कहा जाता है। जीवत्व केवल अज्ञान से ही उत्पन्न होने के कारण ज्ञान से जीवत्व से मुक्त होकर अपनी ब्रह्मस्वरूपता जान कर ब्रह्म होना जीव के लिये सम्भव है। यदि जीव परमार्थतः ब्रह्मस्वरूप न होता तो कभी संसार से उसकी मुक्ति की सम्भावना नहीं होती। अतः ब्रह्म स्वयंप्रकाश तथा अनादि होने के कारण जीव भी अनादि है। कहने का तात्पर्य यह है कि अपराप्रकृति से उत्पन्न हुए समस्त विश्वप्रपंच गुणों के ही विकार हैं। अपरा प्रकृति केवल कल्पना स्वरूप अर्थात् माया होने के कारण उसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। जिस वस्तु की सत्ता नहीं है उसका आदि अर्थात् कारण भी नहीं हो सकता क्योंकि कार्य मिथ्या होने से कारण भी मिथ्या ही है। इसलिये प्रकृति अनादि है। परन्तु परा प्रकृति (जीव चेतन्य) ब्रह्म चेतन्य से अभिन्न होने के कारण अनादि है, क्योंकि ब्रह्म अनादि है। ब्रह्म देह इन्द्रियों के धर्म में अभिमान कर चिदाभास से जीवत्व स्वीकार कर लेता है एवं अपनी कल्पना से ही उत्पन्न हुए शब्दादिविषय में आसक्त होकर बद्ध होता है। फिर अपने स्वरूप के ज्ञान से विश्वप्रपंच को मिथ्या निश्चय कर अखंड, अद्वय, सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थित होकर मुक्त होता है। इस श्लोक में जो कुछ कहा गया है उसका रहस्य अध्यात्म रामायण में युद्धकाण्ड (लंका काण्ड) के षष्ठ (छठा) अध्याय में इस प्रकार वर्णित है—

विसृज्य सर्वतः सङ्गमितरान्विषयान्बहिः।
बहिः प्रवृत्ताक्षगणां शनैः प्रत्यक् प्रवाहय ॥ ४८ ॥

प्रकृतेर्भिन्नमात्मानं विचारय सदानघ।
चराचरं जगत्कृत्स्नं देहबुद्धेन्द्रियादिकम् ॥ ४९ ॥

आब्रह्म स्तम्बपर्यन्तं दृश्यते श्रूयते च यत्।
सैषा प्रकृतिरित्युक्ता सैव मायेति कीर्तिता ॥ ५० ॥

सर्गस्थितिविनाशानां जगद्वृक्षस्य कारणम्।
लोहितश्वेतकृष्णादिप्रजाः सृजति सर्वदा ॥ ५१ ॥

कामक्रोधादिपुत्राद्यान्हिंसातृष्णादिकन्यकाः।
मोहयन्त्यनिशं देवमात्मानं स्वैर्गुणैर्विभुम् ॥ ५२ ॥

कर्त्तृत्वभोक्तृत्वमुखात् स्वगुणानात्मनीश्वरे।
आरोप्य स्ववशं कृत्वा तेन क्रीडति सर्वदा ॥ ५३ ॥

शुद्धोऽप्यात्मा यया युक्तः पश्यतीव सदा बहिः।
विस्मृत्य च स्वमात्मानं मायागुणविमोहितः ॥ ५४ ॥

यदा सद्गुरुणा युक्तो बोध्यते बोधरूपिणा।
निवृत्तदृष्टिरात्मानं पश्यत्येव सदा स्फुटम ॥ ५५ ॥

जीवन्मुक्तः सदा देही मुच्यते प्राकृतैर्गुणैः।

अर्थात् और सब ओर से निःसङ्ग हो बाह्य विषयों को त्यागकर अपनी बाह्य वृत्तिवाली इन्द्रियों को धीरे-धीरे अन्तर्मुख कीजिये ॥ ४८ ॥ हे अनघ ! अपनी आत्मा को सदा प्रकृति से भिन्न विचारिये। देह बुद्धि और इन्द्रियादि से युक्त सम्पूर्ण चराचर जगत् अर्थात् ब्रह्म से लेकर स्तम्ब (कीट विशेष) पर्यन्त जो कुछ दिखाई या सुनाई देता है वह सब प्रकृति है और वह माया भी कहलाती है ॥ ४९-५० ॥ वही सर्वदा संसाररूपी वृक्ष की उत्पत्ति स्थिति और विनाश की कारणरूप श्वेत (सात्त्विक), लोहित (राजस) और कृष्णवर्ण (तामस) प्रजा उत्पन्न करती है ॥ ५१ ॥ तथा वही अपने गुणों से अहर्निश सर्वव्यापक आत्मदेव को मोहित कर काम, क्रोधादि पुत्रों और हिंसा तृष्णादि-कन्याओं को उत्पन्न करती है ॥ ५२ ॥ वह कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि अपने गुणों को अपने प्रभु आत्मा में आरोपित कर उसे अपने वशीभूत कर उससे सदा खेलती रहती है ॥ ५३ जिससे युक्त होकर आत्मा मायिक गुणों से मोहित होकर अपने स्वरूप को भूल जाता है और नित्य शुद्ध होता हुआ भी सदा बाह्य विषयों को देखने लगता है ॥ ५४ ॥ जिस समय सद्गुरु का साक्षात्कार होता है और वे उसे निर्मल ज्ञानदृष्टि से जाग्रत करते हैं उस समय वह बाह्य विषयों से अपनी दृष्टि हटाकर अपने आप को ही स्पष्ट देखता है ॥ ५५ ॥ और फिर यह देहधारी जीव जीवन्मुक्त होकर प्राकृत गुणों से छूट जाता है।

[प्रकृति से उत्पन्न हुए वे विकार और गुण कौन से हैं–]

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

'कार्यकरणकर्तृत्वे' इति वा पाठे

अन्वय—प्रकृतिः कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः उच्यते, पुरुषः सुखदुःखानाम् भोक्तृत्वे हेतुः उच्यते ।

अनुवाद—कार्य (देह) तथा कारणों (इन्द्रियों) के कर्तृत्व में प्रकृति हेतु कही जाती है तथा सुख दुःखों के भोक्तृत्व में पुरुष हेतु कहा जाता है ।

भाष्य दीपिका—कार्यकारणकर्तृत्वे—भगवान् शंकराचार्य ने कार्यकरण-कर्तृत्वे इस प्रकार पाठ ग्रहण किया है ।] कार्य शरीर को कहते हैं और शरीर में स्थित तेरह कारण हैं यथा मन, बुद्धि, अहंकार, पंच कर्मन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय । इनके कर्तृत्व में (कर्तापन में) प्रकृति हेतु है । देह से अतिरिक्त देह के आरम्भक अर्थात् देह को उत्पन्न करने वाले पाँचभूत (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) इन्द्रियों के पाँच विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) ये दस विकार प्रकृति से उत्पन्न होते हैं, यह पहले कहा है । अतः कार्य शब्द से देह के साथ इन दस विकारों को ग्रहण किया जाता है तथा सुख दुःख मोह आदि के रूप में प्रकृति से उत्पन्न हुए गुण समूह का जो परिणाम होता है वह बुद्धि आदि कारणों का आश्रय करके ही होता है । अतः करण शब्द से सत्व, रज तम तथा उनके परिणामों को भी ग्रहण किया जाता है । उन कार्य और करणों का जो कर्तापन (उनको उत्पन्न करने का भाव) है उसको 'कार्य-करणकर्तृत्व' कहते हैं । उन कार्य-करणों के कर्तृत्व में आरम्भ करने वाली होने से (उपादान कारण होने से) **प्रकृतिः हेतुः उच्यते—**प्रकृति हेतु (कारण) कही जाती है । इस प्रकार कार्य, करणों को उत्पन्न करने वाली होने से प्रकृति संसार का भी हेतु (कारण) है । 'कार्यकारणकर्तृत्वे' इस प्रकार पाठ मानने से भी ऐसी व्याख्या होगी । जिसका परिणाम है वह उसका कार्य (विकार) है और कारण शब्द का अर्थ है विकारी । उन विकारीरूप कार्य और विकार रूप कार्य इन दोनों के कर्तृत्व में (उत्पन्न करने में) प्रकृति हेतु (उपादान कारण) है अथवा [सांख्य

मत के अनुसार] सोलह विकार [पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन (अन्तः करण) एवं पृथ्वी, जल आदि पंच स्थूल भूत] को कार्य कहा जाता है। और सात विकृति [पंच सूक्ष्म भूत अर्थात् पंच तन्मात्रा (शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा तथा गन्धतन्मात्रा), अहंकार एवं बुद्धि ये कारण हैं। अतः ये २३ तत्व कार्य-कारण के नाम से कहे जाते हैं। इन कार्य कारण के कर्त्तापन (अर्थात् उत्पत्ति करने वाले) में प्रकृति हेतु कही जाती है। [मूल प्रकृति ही इन सबका आरम्भक कारण (उपादान कारण) अर्थात् आश्रय है-(आनन्दगिरि)] पुरुष संसार का किस प्रकार कारण होता है अब वह कहते हैं—**पुरुषः**—पुरुष, जीव, क्षेत्रज्ञ, पराकृति, भोक्ता ये सब पर्याय वाचक शब्द हैं **सुखदुःखानाम् भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते**—सुख, दुःख मोह, आदि भोगों के विषयों के भोक्तापन में (अर्थात् उनका उपभोग करने में) पुरुष हेतु है महर्षि (तत्वज्ञानी) ऐसा ही कहते हैं। [कहने का अभिप्राय यह है कि चित्प्रतिबिम्बित (चिदाभासयुक्त) बुद्धि वृत्ति में जो सुख, दुःख, मोहरूप विषयों का संस्पर्श (संग) होता है वही पुरुष का सुख दुःख आदि की उपलब्धि या भोग है ऐसा तत्त्वदर्शी लोग कहते हैं। इस प्रकार प्रकृति (अपरा प्रकृति) एवं पुरुष (जीवरूपा परा प्रकृति) मिलकर संसार का हेतु हैं।

पूर्वपक्ष—किन्तु इस कार्य कारण के कर्तापन से और सुख दुःख के भोक्तापन से पुरुष और प्रकृति इन दोनों को संसार का कारण कैसे बतलाया जाता है ?

उत्तरपक्ष—कार्य कारण रूप हेतु और सुख दुःखादि रूप फल के आकार में प्रकृति का परिणाम न होने पर तथा चेतन पुरुष का उन सबमें भोक्तापन न होने से संसार कैसे सिद्ध होगा (अर्थात् संसार नहीं हो सकता)। जब कार्य-कारण रूप हेतु और सुख दुःख आदि के फल के रूप में परिणत हुई भोग्यरूपा जड़ प्रकृति के साथ उससे विपरीत धर्म वाले से अविद्या रूप संयोग होगा तभी संसार प्रतीत होगा। अतः प्रकृति के कार्य कारण रूप परिणामों में कर्त्तापन तथा पुरुष के सुख दुःख आदि विषय में भोक्तापन रहने पर ही पुरुष और प्रकृति संसार का कारण होती है इसे जो प्रतिपादन किया वह उचित ही है।

पूर्वपक्ष—तो यह संसार नामक वस्तु क्या है ?

उत्तरपक्ष—सुख दुःखों का भोग ही संसार है। और पुरुष में जो सुख दुःखों का भोक्तृत्व है वही उसका संसारित्व है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—प्रकृति से ही विकारों की उत्पत्ति होती है यह दिखाते हुए पुरुष के संसार का हेतुत्व (कारणत्व) दिखाते है। **कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते**—कार्य (शरीर) कारण (सुख दुःख आदि के साधन इन्द्रियाँ) उनके कर्तापनि में अर्थात् उनके आकार में परिणत होने में प्रकृति को कपिलादि महर्षियों ने कारण बतलाया। **पुरुषः सुखदुःखनां भोक्तृत्वे हेतुः उच्यते**—तथा पुरुष अर्थात् जीव उस प्रकृति के परिणामभूत सुख दुःखों के भोक्तापन में हेतु कहा जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि प्रकृति अचेतन (जड़) होने के कारण उसमें स्वतः कर्तापन सम्भव नहीं है तथा चेतन पुरुष अविकारी होने के कारण उसमें भोक्तापन असम्भव है, तो भी अचेतन प्रकृति का भी चेतन के अदृष्ट के वश (पूर्वकृत धर्माधर्म कर्मों के फल के कारण) क्रिया में कर्तापन सम्भव है, जैसे अग्नि का ऊपर की ओर प्रज्वलित होना, वायु का तिरछा चलना और बच्चे के अदृष्ट फल के कारण स्तनों से दूध का निकलना इत्यादि। अतः पुरुष के सन्निधान से (सान्निध्य से) प्रकृति का कर्तृत्व (कर्त्तापन) कहा जाता है। सुख दुःख का अनुभव-रूप भोक्तापन चेतन का ही धर्म है अतः प्रकृति के सन्निधान से पुरुष का भोक्तापन कहा जाता है।

(२) **शंकरानंद** – विकार और गुण प्रकृति के कार्य हैं इस विषय को स्पष्ट करते हुए हेतु और फल की उत्पादक (उत्पन्न करनेवाली) प्रकृति है एवं उसके फल का भोक्ता पुरुष है अतः प्रकृति तथा पुरुष दोनों ही संसार के कारण हैं, ऐसा सूचित करने के लिये कहते हैं **कार्यकरणकर्तृत्वे**—कार्य शब्द का अर्थ है शरीर परन्तु कार्य कारण का अनुमान करता है इसलिये इस कार्य पद से महत् आदि ७ विकृतियाँ तथा शब्दादि पंच विषय एवं उनके कारणों को ग्रहण किया जाता है। करण शब्द से दस इन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त, इन चौदह का तथा वचन आदि, दर्शन आदि एवं काम, संकल्प, अहंकार और सुख दुःख मोहात्म बुद्धिवृत्ति, जो प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं उन सबको ग्रहण किया जाता है। उन कार्य तथा करण के

(अर्थात् कार्य करण पदों से गृहीत उन सबके) कर्तृत्व में (उत्पन्न करने में) हेतु (उपादान कारण) प्रकृति ही हैं, ऐसा तत्त्वज्ञ पुरुषों द्वारा कहा जाता है। अग्नि के सान्निध्य से लोह पिण्ड जिस प्रकार दाहकत्व धर्म प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा के सान्निध्य से प्राणियों के अदृष्ट के अनुसार प्रकृति ही कार्य करण रूप से, विषय रूप से तथा सुख आदि प्रत्यय के रूप से (अर्थात् हेतु और फल के रूप से) परिणाम को प्राप्त होती है, ऐसा मुनि लोग कहते हैं। 'कार्यकारणकर्तृत्वे' इस पाठ में तो दस इन्द्रियाँ, मन और पाँच शब्दादि विषय इन सोलह विकारों को 'कार्य' पद से ग्रहण किया जाता है और 'कारण' पद से सात विकृतियों को [पंच सूक्ष्म (भूत पंच तन्मात्रा) अहंकार और बुद्धि इन सबका] ग्रहण किया जाता है। उन कार्य कारणों के कर्तृत्व में (आरम्भकत्व में अर्थात् उत्पत्ति करने में) मूलभूता प्रकृति को ही हेतु कहा जाता है। अथवा कार्य करणों के (देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के) कर्तृत्व में (अर्थात् उनके नियोजक या प्रेरक रूप में) जो कर्म से विषय भोग की वासना उत्पन्न होती है वह कर्म रूप प्रकृति ही कारण है, निरवयव होने से आत्मा कारण नहीं है क्योंकि गीता में ही 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' अर्थात् स्वभाव (प्रकृति) ही कर्म में प्रवृत्त होता है (गीता ५।१४), ऐसा प्रतिपादन किया गया है। अतः प्रकृति संसार का कारण है ऐसा कहकर अविकारी आत्मा भी संसार का कारण है यह अब कहते हैं।

पुरुषः—जो पूर में शरीर में शयन करता है अर्थात् जो पूर के साथ एकरूप रहता है (शरीर के साथ तादात्म्य भाव से युक्त है) अथवा जो अपने अज्ञान के कारण पूर में (शरीर में) रहता है वह पुरुष है अर्थात् बुद्धि कोष में सर्वसाक्षी रूप से विद्यमान प्रत्यक् आत्मा को पुरुष कहा जाता है। **सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुः उच्यते**—सुख दुःखों के (भोग्य सुख दुःख आदि रूप वृत्तियों के) भोक्तृत्व में (अनुभव में) हेतु है अर्थात् अपने आभास से (चिदाभास से) अनुविद्ध (उपहित) अन्तःकरण द्वारा सुख दुःख आदि प्रत्ययों की अनुभूति का कारण पुरुष है, ऐसा तत्वज्ञ द्वारा कहा जाता है। देह-इन्द्रिय के आकार से, विषय आकार से और सुख दुःख आदि प्रत्यय के आकार से प्रकृति का परिणाम होने पर अपनी अविद्या से किये गये अनात्म के अध्यास से (अर्थात् अनात्म देह, इन्द्रियादि में एकत्व बुद्धि से) आत्मा भी स्वाभास द्वारा उसका

उपलब्ध होता है एवं उसके पश्चात् "मैं और मेरा" इस प्रकार का संसार उत्पन्न होता है। प्रकृति का परिणाम न होने पर और क्षेत्रज्ञ उन परिणामों का उपलब्धा न होने पर उक्त प्रकार का संसार सम्भव नहीं होता है। यह जाग्रत आदि में और सुषुप्ति में प्रत्यक्ष है अतः जब तक देह, इन्द्रिय, विषय और सुख दुःख आदि के प्रत्ययों से (वृत्तियों से) सम्बन्ध है, तब तक संसार का उपरम (निवृत्ति) सिद्ध नहीं हो सकता।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में कहा है कि विकारशील (परिणाम शील) जो कोई वस्तु जगत् में दिखाई पड़ती है वह सभी, अपरा प्रकृति से उत्पन्न हुई है। किन्तु उस अपरा प्रकृति का कोई आदि (कारण) नहीं है। अब प्रश्न होगा कि प्रकृति तो जड़ है, कोई जड़ वस्तु उससे विलक्षण किसी चेतन स्वरूप निमित्त कारण के विना (चेतन प्रेरक के बिना) कर्म करने में समर्थ नहीं होती है। चैतन्य स्वरूप ब्रह्म निर्गुण और निष्क्रिय है एवं प्रकृति जड़ है—इस अवस्था में जगत् का परिणाम या विकार किस प्रकार से सिद्ध हो सकता है। इसके उत्तर में कहते हैं कि कार्य तथा कारण इनके कर्तृत्व में प्रकृति ही हेतु (कारण) है। जाग्रत सब व्यापार में कार्य-कारण रूप परम्परा दिखाई पड़ती है। जैसे शब्दादि विषय कार्य हैं, उनका कारण सूक्ष्म आकाशादि पञ्च महाभूत हैं, फिर आकादि पञ्च महाभूत कार्य हैं और उसका कारण अहंकार है, इस प्रकार अहंकार का कारण बुद्धि, बुद्धि का कारण महत्तत्व महत्तत्व का कारण प्रकृति एवं प्रकृति भगवान् की कल्पना शक्ति व माया होने के कारण उसका दूसरा और कोई कारण नहीं हैं क्योंकि अव्यक्त प्रकृति कार्य-कारण रहित ब्रह्म से अभिन्न है। इसलिये सभी कार्य एवं कारण के कर्तृत्व में (तत् तत् आकार में परिणाम प्राप्त होने की क्रियाशक्ति में) अपरा प्रकृति ही कारण है अर्थात् कार्य-कारण की कर्तृत्व विकार क्रिया प्रकृति से ही प्रेरित (परिचालित) होते हैं। प्रकृति जड़ होने पर भी चैतन्य स्वरूप आत्मा के सन्निधान से विकार क्रिया-सम्पन्न होती है। जैसे अग्नि के सान्निध्य से लौह तप्त होकर अग्नि धर्म (दाहिका शक्ति) को प्राप्त होता है उसी प्रकार प्रकृति तथा उसके कार्य (देह इन्द्रिय आदि) भी चेतन धर्म प्राप्त होकर अपने-अपने संस्कार के अनुसार विकार प्राप्त होकर अपने-अपने धर्म (कार्य) सम्पन्न करते हैं।

चैतन्य स्वरूप आत्मा उदासीन तथा निष्क्रिय है तथा उसके सन्निधान से ही सब कार्य होने के कारण प्रकृति को ही शास्त्र में ऋषियों ने सब जगत् व्यापारों का कारण कहा है यही 'उच्यते' शब्द का तात्पर्य है। शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा में जिस प्रकार कर्तृत्व नहीं है, उसी प्रकार भोक्तृत्व भी नही है। अनिर्वचनीय अविद्या या माया शक्ति के प्रभाव से जब उस शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा के अपरा प्रकृति के कार्य में (देह इन्द्रियाँ इत्यादि में) आत्माभिमान होता है तब वहा नित्य मुक्त आत्मा संसारी पुरुष रूप से (जिसको पराप्रकृति, जीव चैतन्य या चिदाभास मुक्त अन्तःकरण शब्द से शास्त्र में कहा गया है उसी रूप से) प्रतीत होता है। पुरुष (परा प्रकृति) तथा प्रकृति (अपरा प्रकृति) दोनों ही माया से (अज्ञान से) भासते हैं, यद्यपि उनको पारमार्थिक कोई सत्ता नहीं है। जब तक इस अज्ञान मायाकार्य चलता है तब तक अपरा प्रकृति से रचित हुये नामरूप तथा क्रियात्मक विषय में पुरुष की (पराप्रकृति रूप जीव चैतन्य की) आसक्ति रहती है एवं उस कारण से विषय भोग भी उसको होता रहता है अपरा प्रकृति का सब कार्य तीन गुणों (सत्त्व, रजः, तमः) के विकार से उत्पन्न होते है। अतः सभी भोग सुखदायक या दुःखदायक अथवा मोह उत्पादन करने वाले हैं। अतः भगवान् ने कहा कि जब तक जीव देहादि में अभिमान करता है अर्थात् पुरुष शब्द वाच्य होता है तब तक सुख, दुःख तथा मोह के भोग का कारण होता है। क्योंकि भोग अनुभव का विषय है एवं अनुभव चेतन को ही होता है जड़ को नहीं। प्रकृति कर्तृत्व में हेतु है एवं पुरुष भोक्तृत्व में हेतु है, ऐसा कहकर भगवान् ने यह स्पष्ट किया है कि कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व अपरा प्रकृति एवं परा प्रकृति का ही कार्य (माया का ही कार्य) है शुद्ध आत्मा का नहीं है।

[पूर्व श्लोक में कहा है कि सुख-दुःख का भोक्तृत्व ही पुरुष का संसारित्व है, सो वह किस कारण से होता है, यह कहते हैं।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

अन्वय—हि पुरुषः प्रकृतिस्थः सन् प्रकृतिजान् गुणान्, भुङ्क्ते, अतः गुणसङ्गः अस्य सदसद्योनिजन्मसु कारणम्।

अनुवाद—पुरुष प्रकृति में स्थित होकर ही प्रकृतिजनित गुणों का भोग करता है यह गुणों का संघ ही पुरुष अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है।

भाष्यदीपिका—हि—क्योंकि पुरुष (जीवात्मा) प्रकृति में स्थित है। कार्य और कारण (अथवा कारण) रूप में परिणीत हुई अविद्या रूपी प्रकृति में स्थित है। अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न हुआ कार्य देह तथा करण इन्द्रियों को अपनी आत्मा का स्वरूप मानता है। अतः **प्रकृतिजान्गुणान् भुङ्क्ते**—वह पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए सुख, दुःख तथा मोह रूप से अभिव्यक्त (प्रकट हुए) गुणों को "मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ, मूढ़ हूँ, पंडित हूँ" इस प्रकार मानता हुआ भोग करता है। अतः **गुणसङ्गः अस्य सद्सद्योनिजन्मसु कारणम्**—अविद्या रहने पर ही सुख दुःख एवं मोह रूप गुण को भोगते हुए उसमें जो आत्मभाव रूप संग अर्थात् 'यह मैं हूँ यह मेरा है,' इस प्रकार आसक्ति होती है वही जन्म रूप संसार का प्रधान कारण है। इसलिये श्रुति कहती है—"स यथाकामो भवति तत् क्रतुर्भवति" (बृह० उ० ४।४।५) अर्थात् वह जैसी कामना वाला होता है वैसा ही कर्म करता है, जैसा कर्म करता है वैसा ही कर्म को भोगने के लिये जन्म लेना पड़ता है। इसलिये भगवान् यह कहते हैं कि गुणों का संग (गुण से उत्पन्न हुए विषय की कामना या उनमें आसक्ति) ही इस भोक्ता पुरुष के अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है। सत् (अच्छी) और असत् (बुरी) योनियों को सत्-असत् योनि कहते हैं। उनमें जन्म का होना "सत्-असत् योनि जन्म है। इस प्रकार सत्-असत् योनि में जो अज्ञानी जीव का जन्म होता है, इसका कारण गुणों का संग ही है, यही कहने का अभिप्राय है। अथवा 'अस्य' शब्द का अर्थ संसारस्य (संसार का) भी हो सकता है। अर्थात 'संसार' पद का अध्याहार करके यह अर्थ कर लेना चाहिये कि अच्छी और बुरी योनियों में जन्म लेकर जो संसार की प्राप्ति होती है उसका कारण गुणसंग [अर्थात् त्रिगुण से उत्पन्न हुए देहादि में तादात्म्य-अभिमान (अपना स्वरूप मानना) एवं त्रिगुण से उत्पन्न हुए बाह्य विषयों में आसक्ति (मेरापन)] ही है। देवादि योनियों को सत्‌योनि कहा जाता है और पशु आदि योनि असत् योनियाँ है। और सत्-असत् (धर्म, अधर्म) मिलकर जो मनुष्य योनि है, वह

सत्-असत् योनि है। सात्विक गुणों का प्राधान्य रहने पर देवयोनि प्राप्त होती है, तमोगुण का प्राधान्य होने पर पशुयोनि प्राप्त होती है, एवं रजोगुण का प्राधान्य होने पर मनुष्य योनि प्राप्त होती है। इस प्रकार अर्थ करने पर किसी प्रकार का विरोध नहीं होता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रकृतिस्थ (प्रकृति में स्थित) होना रूप अविद्या और 'गुणसंग' अर्थात् गुण का संग (गुण से उत्पन्न हुई वस्तु में आसक्ति) ये दोनों ही संसार के कारण हैं और इनको छोड़ने के लिये ही शास्त्र में उपदेश दिया गया है। गीता शास्त्र में इनकी निवृत्ति के प्रसिद्ध साधन हैं-(१) संन्यास के साथ ज्ञान, तथा (२) वैराग्य। वह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विषयक ज्ञान इस अध्याय में पहले ही बतलाया गया है। साथ ही ('नसत्तन्नासदुच्यते' इत्यादि कथन से) यह भी कहा गया है कि-'यज्ज्ञात्वा-मृतमश्नुते' अर्थात् क्षेत्र से पृथक् कर जो सर्वभूत में क्षेत्रज्ञ आत्मा (ब्रह्म) है, वही मुमुक्षु को 'ज्ञेय' है क्योंकि उसको जानकर मुमुक्षु अमृतत्व (मोक्ष) को प्राप्त होता है [गीता १३।१२]। साथ साथ ज्ञेय ब्रह्म का स्वरूप जानने के लिये भगवान् ने दो प्रकार की प्रक्रिया प्रदर्शित किया है। यथा-(१) अन्यापोह-अर्थात् जो ब्रह्म नहीं है उसका निषेध किया गया है, जैसे जड़ क्षेत्र का निषेध कर ब्रह्म की विलक्षणता दिखाने के लिये शेष में कहा है कि-'न सत्तन्नासदुच्यते'-वह ब्रह्म न तो सत् (कार्य) है, और न असत् (कारण रूप अव्यक्त प्रकृति) है। यहाँ 'अपोह' शब्द का अर्थ अप्रलाप या निषेध है। (२) 'अतद्धर्म-अध्यारोप' अर्थात् ब्रह्म में जो धर्म वस्तुतः नहीं है, उसे उसमें (ब्रह्म में) आरोप कर उसका (ब्रह्म का) तटस्थ लक्षण बतलाया गया है, यथा-'सर्वतः पाणिपादम्' (गीता १३।१३) इस कथन से ब्रह्म में पाणिपाद इत्यादि विशिष्ट होना रूप धर्म उसमें आरोपित कर पहले तटस्थ लक्षण बतलाकर आगे शुद्ध ब्रह्म का स्वरूप बतलाया गया है।

टिप्पणी—(१) **श्रीधर**—तथापि जो अविकारी एवं अजन्मा है वह भोक्ता कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं-क्योंकि **'पुरुषः प्रकृतिस्थः हि प्रकृतिजान्गुणान् भुङ्क्ते'**—पुरुष (पराप्रकृति अर्थात् जीवात्मा) प्रकृति में स्थित होकर, प्रकृति का काम रूप शरीर ही आत्मा है, ऐसा अभिमान कर स्थित हुआ है।

अतः प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों को (सुख, दुःख, मोहादि विषय को) भोगता है। अतः इस पुरुष के देवादि सत् (श्रेष्ठ) योनियों में और पशु पक्षी आदि असत् (निकृष्ट) योनियों में तथा मनुष्य रूप मध्यम योनियों में जो, जो जन्म होते हैं; उनमें गुणों का संग ही (अर्थात शुभ एवं अशुभ कर्म करने वाली इन्द्रियों से प्रकृति से उत्पन्न हुए विषयों के साथ संग ही) कारण है।

(२) **शंकरानन्द**—यदि प्रकृति और पुरुष दोनों नित्य है तो आत्मा का और उनका सम्बन्ध भी नित्य ही है तो संसार को भी नित्य ही मानना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में किस प्रकार से आत्मा का संसार से मोक्ष हो सकता है ? ऐसी शंका के उत्तर में कहा जायगा कि बुद्धि आदि के साथ आत्मा का सम्बन्ध नित्य नहीं है क्योंकि आत्मा निरवयव होने के कारण उसके साथ सावयव देहादि का संयोग या समवाय सम्बन्ध हो नहीं सकता। जो सम्बन्ध प्रतीत होता है वह आध्यासिक सम्बन्ध है। वह केवल अपने आप अज्ञान के कारण ही होता है एवं विवेक विज्ञान उत्पन्न होने पर वह निवृत्त हो जाता है, ऐसा बोधन करने के लिये आत्मा में प्रकृति के सम्बन्ध से किस प्रकार संसार होता है, उसका तथा उसके कारण का अब स्पष्टीकरण करते हैं—

पुरुषः—पहले कहा हुआ लक्षण विशिष्ट आत्मा अर्थात् स्वयं कूटस्थ, असंग और चिद्रूप होने पर भी **प्रकृतिस्थः सन्**—प्रकृति में स्थित होकर अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न हुए कार्य, करण संघात में (देह, इन्द्रियादि विशिष्ट पिण्ड में) अविवेक से 'वही मैं हूँ' इस प्रकार अभिमान कर देह इन्द्रियों के तादात्म्य को (तत्स्वरूप को) प्राप्त होकर अर्थात अपने नित्यशुद्ध चैतन्य स्वरूप को भूल कर देह, इन्द्रियादि के धर्म–कर्म आदि को अपना धर्म. कर्म मानकर **प्रकृतिजान्गुणान् भुङ्क्ते**—प्रकृति से (बुद्धि से लेकर स्थूल शरीर ही जिसका अन्त है, इस प्रकार की प्रकृति से उत्पन्न हुए) गुणों का [देह के गुण बाल्य, स्थौल्य (स्थूलता) आदि; तथा इन्द्रिय के गुण काणत्व, खंजत्व आदि; प्राण के गुण भूख आदि; मन के गुण समीचीनत्व आदि; बुद्धि के गुण कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि–इन स्थूल सूक्ष्म और कारण देह के गुणों का (धर्म का और सुख दुःख आदि प्रत्यय का)] 'यह मैं हूँ तथा यह मेरा है' इस प्रकार अपनेपन की बुद्धि से उपभोग करता है अर्थात् 'मैं मनुष्य हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, गृहस्थ हूँ, मूढ़ हूँ, पंडित हूँ,

शिष्ट हूँ, धृष्ट हूँ, कर्ता हूँ, सुखी, दुःखी हूँ तथा यह मेरा है' इस प्रकार स्वयं प्रकृति स्वरूप होकर उसके धर्म, जन्म, जाति, वर्ण, आश्रम आदि का और पुण्य-पाप आदि का अपने धर्म रूप से अनुभव करता है। यही 'भुङ्क्ते' पद का तात्पर्य है। श्रुति भी ऐसा ही कहती है–'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' अर्थात् शरीर इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा भोक्ता है, ऐसा विद्वान लोग कहते हैं। अतः पूर्व में जो कुछ कहा गया है वह श्रुतिप्रसिद्ध है, इसे सूचित करने के लिये ही श्लोक में 'हि' शब्द प्रयुक्त हुआ है। क्षेत्रज्ञ आत्मा का यही संसार है जो कि पूर्ण शुद्ध चैतन्यस्वरूप ब्रह्म होकर भी अन्य के (प्रकृति के) धर्म को [चाहे वह कार्य रूप से सत् प्रतीयमान हो अथवा चाहे वह अव्यक्त रूप से असत् (अप्रकाशित) हो] अपना धर्म मानता है। प्रश्न होगा कि अक्रिय असंग आत्मा के प्रकृति के तादात्म्य (तत्स्वरूपता) प्राप्ति में एवं प्रकृति के धर्म एवं कर्म में "मैं, मेरा" इस प्रकार के अनुभव में क्या हेतु हो सकता है? इसके उत्तर में कहते हैं—

अस्य सत्–असत् योनिजन्मसु कारणम् गुणसंगः—विद्वानों द्वारा साक्षात् आत्मरूप से अनुभूयमान कूटस्थ, असंग, चिद्रूप आत्मा के सत–असत् योनि में जन्म लेने में (सत् योनियाँ अर्थात् देव, ऋषि, पुण्य योनियाँ; असत् योनियाँ अर्थात् पिशाच, चाँडाल, तथा पशु आदि पाप योनियाँ, उनमें जन्म लेने में) तथा 'मैं, मेरा' इत्यादि रूप संसार का कारण है गुण संग (गुणों में त्रिगुण से उत्पन्न हुए दृष्ट तथा अदृष्ट भोग्य विषयों में संग अर्थात् आसक्ति या काम)। 'सज्ज्यते पुमान् सक्तो भवत्यनेनेति सङ्गः'–जिससे पुरुष आसक्त हो जाता है वह संग कहलाता है। अविद्या के रहने पर काम ही पुरुष का बन्धन है क्योंकि पुरुष काम से (विषय के प्रति आसक्ति या वासना से) ही शुभ और अशुभ कर्म करता है और उन कर्मों के सुख–दुःख रूपी फलों को अनेक जन्मों द्वारा प्राप्त करता (भोगता) है। श्रुति, इस विषय पर कहती है–'स यथाकामो भवति' इति, 'कामान्यः कामयते मन्यमानः' अर्थात् वह जिस प्रकार की कामनावाला होता है इत्यादि तथा जिन दृष्ट अदृष्ट विषय को इष्ट (हित) मानकर चाहता है। अपनी अविद्या का कार्य काम ही पुरुष के नाना योनियों में जन्म, जरा, मरण आदि दुःख के अनुभव में कारण है, यह सिद्ध हुआ। अथवा 'सज्ज्यते बध्यतेऽ-

नेनेति सङ्गः' अर्थात् जिससे पुरुष बाँधा जाता है वह सङ्ग है। इस अर्थ से 'गुणसङ्ग' पद का अर्थ इस प्रकार होता है–गुणों (देह-इन्द्रिय आदि में) "मैं" इस प्रकार अभिनिवेशरूप अहंत्व (मेरापन) अथवा शब्दादि विषय में यह भोग्य है, भोग्यबुद्धि से जो अध्यास सम्बन्ध होता है उसे सङ्ग कहा जाता है। इसी को पंडित लोग अविद्या कहते हैं। इस प्रकार अविद्यावाले (उक्त प्रकार से गुणों के साथ सङ्ग करनेवाले पुरुष) का ही काम और कर्म सत् एवं असत् योनियों में जन्म आदि दुःखों का कारण होता है। आत्मा के यथार्थस्वरूप का विज्ञान ही इस प्रकार की अविद्या से निवृत्ति का एकमात्र कारण (उपाय) है। उस आत्मविज्ञान को 'वह न सत् न असत् कहा जाता है (गीता १३।१२) ऐसा कह कर आत्मा में प्रकृति, उसके विकार, उसके धर्म और उसके कर्म का लेश मात्र भी सम्बन्ध नहीं है, यह सिद्ध करने के लिये तथा असत्वस्तु के (आत्मा से अतिरिक्त सभी वस्तु के) निषेध द्वारा आत्मा का सद्भाव (आत्मा ही एक मात्र सत्य वस्तु है) यह सिद्ध करने के लिये, 'ज्ञानं ज्ञानगम्यम्' कह कर आत्म-स्वरूप के निरूपण द्वारा (ब्रह्म स्वरूप आत्मा का नित्य-सत्यत्व) सम्यक् रूप से प्रति-पादन किया है।

(३) नारायणी टीका--पूर्व श्लोक में कहा गया है कि कार्य कारणात्मक प्रपञ्च का हेतु प्रकृति है। किन्तु सुख, दुःख का भोक्ता पुरुष अर्थात् जीव चैतन्य है। वह भोक्तृत्व ही पुरुष के संसारित्व का कारण है। प्रश्न होगा कि पुरुष स्वभावतः निर्गुण, निष्क्रिय तथा सर्व धर्म रहित है, अतः उसके लिये सुख, दुःख का अनुभव करना तथा संसार में बद्ध होना किस प्रकार सम्भव है? इसका उत्तर भगवान् ने वर्त्तमान श्लोक में स्पष्ट रूप से दिया है। अग्नि के संयोग से लौह जिस प्रकार अग्नि धर्म प्राप्त करता है, अथवा जिस प्रकार मकड़ी अपने ही मुख से जाल निर्माण कर उसमें स्वयं बद्ध हो जाती है, उसी प्रकार निर्गुण शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा भी अपनी ही कल्पना शक्तिरूपिणी जो त्रिगुणात्मिका माया है उसके कार्य में 'मैं, मेरा' इसप्रकार अभिमान कर प्रकृति (माया) के साथ तादात्म्य (अभिन्न) भाव प्राप्त होकर अपने यथार्थ स्वरूप को भूल जाता है 'पुरुषः प्रकृतिस्थः' पद का यही तात्पर्य है। यह अज्ञान (अविद्या) से ही सम्भव होता है। अतः अज्ञान अवस्था में पुरुष प्रकृति के

गुण से उत्पन्न हुए देहादि में भोक्तापन तथा (उन गुणों से उत्पन्न हुए) शब्दादि बाह्य विषय में भोग्यत्वबुद्धि रख कर प्रकृतिजनित गुणों को (सुख, दुःख, मोहादि को) भोगता है। इसप्रकार भोग का मूल है गुण, सङ्ग भोग, भोक्ता, भोग्य) रूप से जो कुछ प्रतीत होता है वह सभी शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा के अधिष्ठान में सत्त्व, रजः, तमः, इन तीनों गुणों का ही (प्रकृति का ही) कार्य है, क्योंकि प्रकृति त्रिगुणात्मिका है, यह पहले ही कहा जा चुका है। इन गुणों के कार्य में आत्मभाव (मैं, मेरा भाव) होने पर ही गुणों के साथ पुरुष का सङ्ग (आसक्ति) अर्थात् गुणों के प्रति काम या वासना उत्पन्न होती है। जिस प्रकार का काम (वासना) होता है उसी प्रकार का चिदाभास युक्त अन्तः कारण में (जिसको पुरुष, पराप्रकृति या जीव कहा गया है उसमें) क्रतु अर्थात् संकल्प का उदय होता है। संकल्प के अनुसार पुरुष–शुभ–अशुभ अथवा मिश्रित कर्म करता है एवं जिस प्रकार कर्म करता है उसी के अनुसार सत् (उत्कृष्ट) या असत् (निकृष्ट) योनि में जन्म ग्रहण करके पूर्व कृत कर्म के फलको भोगता है। यदि पुण्य कर्म (सात्त्विक कर्म) करे तो देवादि उत्कृष्ट योनि में जन्म ग्रहण कर सुख भोग करता है। यदि घोर पाप कर्म (तामसिक कर्म) करे तो उसके फल स्वरूप असत् अर्थात् निकृष्ट पशु, सर्प इत्यादि योनि में जन्म लेकर दुःख रूपी फल भोगता है। और यदि पाप–पुण्य से मिश्रित अर्थात् राजसिक कर्म करे तो मनुष्य योनि में जन्म ग्रहणकर सुखदुःखादि फल भोगता है। इसलिये श्रुति कहती है–'स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते' वस्तुतः सुख, दुःख भोग करना भी अन्तः करण का ही धर्म है प्रकृति के साथ तादात्म्यबुद्धि अर्थात् अभिन्न बोध ही पुरुष के सुख, दुःख के भोग का कारण है। देह, इन्द्रियादि में जब तक आत्मबुद्धि रहती है तब तक ही योनि से योनि में भ्रमण करना पड़ता है। जब गुरु तथा भगवान् की कृपा से प्रकृति (क्षेत्र) से अपने क्षेत्रज्ञस्वरूप को भिन्न समझ लेता है तभी ही पुरुष आत्मा के स्वरूप को साक्षात् कर लेता है एवं प्रकृति से उत्पन्न हुए संसार प्रवाह से मुक्त हो सकता है।

[पूर्व श्लोक में बताया गया कि प्रकृति में मिथ्या तादात्म्य-अभिमान करके ही पुरुष को संसार की प्राप्ति हुई है–उसके स्वरूप में संसार नहीं है। तो फिर उसका

स्वरूप कैसा है? जिसमें कि संसार होना सम्भव ही नहीं है? ऐसा प्रश्न होने पर उसके स्वरूप का पुनः साक्षात् निर्देश करते हुए कहते हैं—]

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥ २२॥

अन्वय—अस्मिन् देहे, परः पुरुषः, उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता; भोक्ता, महेश्वरः, परमात्मा इति अपि च उक्तः।

अनुवाद—पूर्वोक्त पुरुष प्रकृति के परिणाम स्वरूप इस शरीर में स्थित रहते हुए भी स्वरूपतः शरीरादि से भिन्न (विलक्षण) है। क्योंकि वह देह इन्द्रियादि के सभी व्यापारों का उपद्रष्टा है तथा अनुमन्ता, भर्ता, महेश्वर और परमात्मा इन शब्दों से कहा जाता है।

भाष्यदीपिका—अस्मिन् देहे परः पुरुषः—प्रकृति के परिणामभूत इस शरीर में जीवरूप से वर्तमान रहने पर भी पुरुष पर अर्थात् अविद्या लक्षण प्रकृति के कारण जो अव्यक्त है, उससे भी वह विलक्षण है अर्थात् अव्यक्त से भी अतीत है। [अतः प्रकृति तथा प्रकृति के कार्य देह–इन्द्रियादि से जो वह विलक्षण (भिन्न) होगा, इसमें संशय क्या हो सकता है? जो कि 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' (गीता १५।१७) इसप्रकार आगे कहा जायगा और जो 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' (गीता १३।२) इसप्रकार पहले कहा जा चुका है तथा जिसकी व्याख्या करके उपसंहार किया गया है, वह पुरुष पर है अर्थात् प्रकृति के गुणों से असंश्लिष्ट है अर्थात् प्रकृति के गुण उसको स्पर्श नहीं कर सकते हैं, अतः वह परमार्थतः असंसारी है (मधुसूदन)] क्योंकि वह **उपद्रष्टा**—उपद्रष्टा है अर्थात् स्वयं क्रिया न करता हुआ पास में स्थित होकर देखने वाला है। जिस प्रकार ऋत्विक् और यजमान के यज्ञ कर्म में संलग्न रहते समय उनके समीप स्थित एक अन्य याजक (ब्रह्मा) यज्ञविद्या में कुशल होने के कारण स्वयं व्यापार न करते हुए भी ऋत्विक् और यजमान के कार्यों के गुण दोषों को तटस्थभाव से केवल साक्षी रूप से देखता है, उसी प्रकार कार्य शरीर और करणों के (इन्द्रियों के) व्यापार में स्वयं निर्व्यापार रहते हुए (न लगे हुए)

उनसे अन्य विलक्षण आत्मा उनके समीप रहकर उन देहादि इन्द्रियों के व्यापारों का साक्षी रहता है—उनका कर्ता नहीं होता। [यह वह बात 'स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्यागतस्तेन भवत्यसङ्गों ह्ययं पुरुषः' अर्थात् वह वहाँ जो कुछ देखता है उससे उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि यह पुरुष असंग है, इस श्रुति से प्रमाणित होता है।

अथवा देह, चक्षु, मन, बुद्धि और आत्मा—ये सब ही द्रष्टा हैं उनमें बाह्य द्रष्टा शरीर है और उससे लेकर उनकी अपेक्षा अन्तरतम (अर्थात् अत्यन्त समीपवर्त्ती) द्रष्टा अन्तरात्मा है। जिसकी अपेक्षा और कोई अन्तरतम द्रष्टा नहीं हो सकता, वह अतिशय समीप रहकर अर्थात् (व्यवधान रहित होकर) देखने वाला होने के कारण उपद्रष्टा है। ['उप' शब्द सामीप्य अर्थ में है, अतः अव्यवधान रूप उस सामीप्य का प्रत्येक आत्मा में (अन्तरतमा में ही) पर्यवसान (शेष) होता है। इसलिये आत्मा उपद्रष्टा है। (मधुसूदन)]। अथवा यज्ञ के उपद्रष्टा के समान सबका अनुभव करने वाला होने से आत्मा उपद्रष्टा है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक जीव का जो चैतन्य स्वरूप 'मैं' है वह जीव के निकटतम है क्योंकि जीव और उसका 'मैं' अभिन्न हैं एवं वह सब नाम, रूप, क्रियाओं का सदैव साक्षी है, इसलिये उसे उपद्रष्टा कहा जाता है। **अनुमन्ता च**—तथा यह अनुमन्ता है। अन्तः करण और इन्द्रियादि का परितोष के साथ अनुमोदन करने वाला है अथवा स्वयं प्रवृत्त न होता हुआ भी कार्य करण की (देह-इन्द्रियादि की) प्रवृत्ति में उनके अनुकूल प्रवृत्त हुआ-सा (अज्ञान की द्रष्टि से) दीखता है अथवा अपने व्यापार में प्रवृत्त हुए देह, इन्द्रियाँ तथा अन्तः करण को उनका साक्षी होकर कभी निवारण नहीं करता है। इसलिये वह अनुमन्ता कहलाता है। उदासीन के समान सदा साक्षी रूप से सब कुछ देखना ही मानो उसका अनुमोदन है। श्रुति भी इसलिये कहती है कि वह 'न साक्षी और चेता है' तथा **भर्ता**—चैतन्य स्वरूप आत्मा के अर्थ की (अर्थात् भोग तथा अपवर्ग (मोक्ष) रूप प्रयोजन) की सिद्धि के लिये शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि के परस्पर मिलित होने पर जो संघात उत्पन्न हुआ है उस संघात को आत्मा अपने आभास से युक्त कर अपनी सत्ता तथा स्फूर्ति (प्रकाश) से धारण (पोषण) करता है इसलिये आत्मा को भर्ता कहते हैं। **भोक्ता**—वह आत्मा भोक्ता भी है।

उष्णत्व जैसे सदा ही अग्नि के साथ विद्यमान रहता है क्योंकि उष्णत्व अग्नि का स्वभाव है, उसी प्रकार चैतन्य (प्रकाश) ही आत्मा का स्वतःसिद्ध स्वभाव है। अर्थात् सभी वस्तुओं की उपलब्धी करना ही आत्मा का स्वभाव है। उस नित्य चैतन्य आत्मसत्ता से समस्त विषयों में पृथक्-पृथक् होने वाली जिस बुद्धि के सुख-दुःख और मोह प्रत्यय (वृत्तियाँ) हैं, वे सब चैतन्यस्वरूप आत्मा के द्वारा ग्रस्त हैं, ऐसा प्रतीत होता है, एवं इसलिये आत्मा को भोक्ता कहा जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि चैतन्यस्वरूप आत्मा से ही सभी विषय प्रकाशित होते हैं तथा आत्मा के द्वारा ही ये सब उपलब्ध (अनुभूत) होते हैं एवं आत्मा में ही सब विषयों का भोग अवसान प्राप्त होता है अर्थात् समाप्त हो जाता है। इसलिये आत्मा भोक्ता कहलाता है। [बुद्धि की सुख दुःख और मोहमय वृत्तियों को आत्मा अपने स्वरूप चैतन्य से प्रकाशित करता है, अतः निर्विकार रहते हुए ही उन्हें उपलब्ध करने वाला है, अतः आत्मा भोक्ता कहलाता है (मधुसूदन)]। **महेश्वरः**—आत्मा महेश्वर है क्योंकि वह सबकी आत्मा होने से महान् है तथा स्वतन्त्र होने के कारण ईश्वर है। **परमात्मा इति च उक्तः**—अविद्या द्वारा शरीर से लेकर बुद्धि पर्यन्त प्रत्येक पदार्थ में अज्ञानी की आत्मबुद्धि रहने के कारण वे सभी शब्द आत्म-वाच्य है अर्थात् आत्मा के रूप से कल्पित होते हैं परन्तु उन सबसे भिन्न उपद्रष्टा आदि लक्षणों वाली आत्मा परम (श्रेष्ठ) है। इसलिये श्रुति में इसे 'परमात्मा' कहा गया है। 'च' शब्द से यह सूचित किया है कि उपद्रष्टा आदि शब्द से वह पर पुरुष ही कहा गया है। इसी को आगे भी 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' (गीता १५।१७) इसप्रकार कहेंगे।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—इसप्रकार प्रकृति से पुरुष का अविवेक (पार्थक्य ज्ञान का अभाव) रहने से पुरुष का आवागमन रूपी संसार चलता है, यद्यपि स्वरूप में संसार नहीं है—इस अभिप्राय से उस पुरुष का स्वरूप बताते हैं। **अस्मिन् देहे पुरुषः परः**—इस प्रकृति के कार्य रूप देह में रहता हुआ भी पुरुष पर अर्थात् देहादि से भिन्न ही है। भाव यह है कि वह पुरुष स्वरूपतः प्रकृति के गुणों से संयुक्त नहीं होता है। उसमें ये हेतु है, **उपद्रष्टा**—वह उपद्रष्टा है अर्थात् पृथक् होता हुआ ही समीप में

स्थित होकर देखने वाला (साक्षी) है तथा **अनुमन्ता**—वह अनुमोदक के समान सन्निधिमात्र से अनुग्रह करने वाला है। श्रुति से भी यह सिद्ध होता है क्योंकि श्रुति कहती है कि 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' (श्वेता० उ० ६।११) अर्थात् वह सबका साक्षी, चेतनस्वरूप एवं सबको चेतनता प्रदान करने वाला तथा केवल अर्थात् सर्व प्रकार से विशुद्ध एवं गुणातीत है। **भर्ता**—तथा यह भर्ता अर्थात् सबको धारण करने वाला है। **इति च उक्तः**—यह भी कहा गया है। **भोक्ता**—तथा वह भोक्ता अर्थात् सबका पालक है, **महेश्वरः**—एवं वह महेश्वर भी है। जो महान् भी हो और ईश्वर भी हो, ऐसे ब्रह्मादि के अधिपति को महेश्वर कहा जाता है तथा वह **परमात्मा**—अन्तर्यामी है। **इति च उक्तः**—यह भी श्रुति द्वारा कहा गया है (यथा—एष: भूताधिपति- (बृह० उ० ४।४।२२), 'एष लोकेश्वरः' 'एष लोकपालः' (कौषी० उ० ३.८) अर्थात् यह प्राणियों का अधिपति है, यह लोकों का ईश्वर है, यह लोकों का पालन करने वाला है इत्यादि।

(२) **शंकरानन्द**—जो परमतत्त्व के सम्बन्ध में पूर्व श्लोक में कहा गया है उस तत्त्व का फिर भी मुमुक्षु को भलीभाँति ज्ञान कराने के लिये प्रकृति और उसके कार्य के सम्बन्ध से आत्मा रहित है तथा उनसे रहित होने के कारण शुद्ध चिदेकरस आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है, यह समझाने के लिये कहते हैं—

अस्मिन् देहे—इस कार्य-कारण-संघात रूप देह में जो **पुरुषः सः परः**—जो अस्मत् (अहं) पद (प्रत्यय) का अर्थ अर्थात् अहम् (मैं) इस शब्द का वाच्य पुरुष (आत्मा) है, वह देहइन्द्रियादि से पर (भिन्न) ही है। क्यों भिन्न है ? इसके उत्तर में कहते हैं, **उपद्रष्टा**—क्योंकि वह उपद्रष्टा है (सबका द्रष्टा, चिदाभास है) अर्थात् सबको और सबके व्यापारों को (कार्यों को) जो साक्षी रूप से ऊपर से देखता है, वह उपद्रष्टा है अथवा 'उप' शब्द का अर्थ है समीप में, अर्थात् बुद्धि के भी भीतर। अतः जो बुद्धि के भीतर पृथक् रूप से स्थित होकर बुद्धि को, उसके व्यापार को तथा सम्पूर्ण दृश्य को स्वयं साक्षात् अविक्रिय रूप से (किसी प्रकार विकार प्राप्त न होकर) देखता है, वह उपद्रष्टा है यह विशेषण हेतुगर्भित है। आत्मा बुद्धि आदि से भिन्न है, उपद्रष्टा होने से, यज्ञ के उपद्रष्टा के समान इसप्रकार की युक्ति से

भी आत्मा की प्रकृति से भिन्नत्व सिद्ध होता है। यज्ञ का उपद्रष्टा (ब्रह्मा) यजमान, ऋत्विक् आदि में से कोई एक नहीं हो सकता। यदि उनमें से कोई एक उपद्रष्टा हो तो उसमें उपद्रष्टृत्व सम्भव नहीं होगा। जो व्यापारियों से (व्यापार करने वालों से) भिन्न होकर (स्वयं व्यापारवान् न होकर) तटस्थ रूप से व्यापार करने वाले को तथा व्यापाररूप कर्म को केवल देखता है, उसको उपद्रष्टा कहा जाता है। जैसे यज्ञ में उपद्रष्टा द्रष्टव्य, यजमान आदि सबसे भिन्न ही होता है ऐसे ही यह आत्मा भी उपद्रष्टा होने के कारण बुद्धि आदि से भिन्न ही है। इससे आत्मा का अविकारित्व, नित्यत्व, अकर्तृत्व और अभोक्तृत्व सूचित होता है। फिर **अनुमन्ता च**—वह आत्मा अनुमन्ता भी है। अपने-अपने विषय में प्रवृत्त हुए और निवृत्त हुए बुद्धि आदि को अनु (पीछे से) जो जानता है, वह अनुमन्ता है अर्थात् बुद्धि को तथा बुद्धि के सभी व्यापारों को जो पीछे रहकर तटस्थ भाव से सदा ही जानता है, बुद्धि आदि की प्रवृत्ति, निवृत्ति और उनके फलों को अपने से अन्य ही जानता है। श्रुति भी इसलिये कहती है कि–'उपद्रष्टानुमन्तैष आत्मा' अर्थात् यह आत्मा उपद्रष्टा और अनुमन्ता है। अनुमान से भी देहादि से आत्मा का भिन्नत्व सिद्ध होता है, यथा आत्मा देहादि से भिन्न ही है, अनुमन्ता होने से, तटस्थ के समान यहाँ 'च' शब्द समुच्चय के अर्थ में है अर्थात् उपद्रष्टा, अनुमन्ता इत्यादि जितने विशेषण दिये गये हैं वे सब एकत्र होकर आत्मा के ही विशेषण हैं, यही समझाने के लिये 'च' शब्द है। फिर **भर्ता**—वह भर्ता (भरण करने वाला भी) है। अपनी अविद्या से अपने में ही अध्यस्त महदादि (महत्तत्व बुद्धि, अहंकार इत्यादि) सम्पूर्ण विकारों को अपनी सत्ता से सत्तावान् कर तथा अपनी स्फूर्ति (प्रकाश) से प्रकाशित कर आत्मा भरण करता है, इसलिये वह भर्ता है। जिसप्रकार मरीचिका में आरोपित जल के तरंग, फेन, बुद्बुदे आदि का मरु ही अर्थ (वास्तविक सत्ता) है, उसी प्रकार अपने में आरोपित देहादि तथा शब्दादि प्रत्यय का स्वयं ही अर्थ (अधिष्ठान सत्ता) होकर आत्मा उनको सत्ता और स्फूर्ति (प्रकाश) देता है। यही कहने का अभिप्राय है। भर्ता जिसको भरण (पोषण) करता है उससे अवश्य ही भिन्न होगा। अतः भर्तृत्व भी देह, इन्द्रियादि से आत्मा का भिन्नत्व सूचित करने के लिये व्यावर्तक (पृथक्त्व का प्रतिपादन करने वाला) विशेषण

है। फिर **भोक्ता**—अपने में अध्यस्थ अव्यक्त से लेकर स्थूल पर्यन्त सबको अपने चैतन्यात्मक तेज से, जिस प्रकार सूर्य अँधेरे को निगल जाता हैं, ऐसे ही आत्मा भी निगल जाता है अर्थात् अपने में ही लय कर लेता है। अतः आत्मा को भोक्ता कहते हैं। यद्यपि भ्रान्ति दशा (अज्ञान-अवस्था) में आत्मा स्वयं अनेक रूप से प्रतीत होता है, तथापि सम्यक् ज्ञान प्राप्त होने पर केवल आत्मा ही अवशिष्ट रहता है। भोक्ता, भोज्य से पर (भिन्न) ही होता है।

इस नियम से भोक्तृत्व भी देहादि से आत्मा का भिन्नत्व प्रतिपादन करने के लिये पूर्व के समान (अनुमन्ता, उपद्रष्टा विशेषणों के समान) व्यावर्तक विशेषण है। फिर **महेश्वरः**—अव्यक्त से भी सूक्ष्मतम होने के कारण वह महान् है। इसलिये श्रुति भी कहती है-'महतो महीयान्' (महान् से भी अत्यन्त महान्) है। महत्त्व शब्द से भी यह सूचित होता है कि आत्मा देहादि से भिन्न है। इस विषय पर अनुमानित प्रमाण इस प्रकार हैं—आत्मा देहादि से भिन्न है, महान् होने से, आकाश के समान अपरिच्छिन्न या असीम ही महान् है। अपरिच्छिन्न या परिपूर्ण वस्तु परिच्छिन्न देहादि में से कोई एक नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें सर्व प्रमाण से विरोध है। आत्मा केवल महान् ही नहीं, परन्तु ईश्वर भी है। महान् और ईश्वर होने के कारण आत्मा को महेश्वर कहा गया है। जैसे चुम्बक की सन्निधि में लोहा चेष्टा करता है ऐसे ही जिसकी सन्निधि मात्र से बुद्धि आदि सब जड़ पदार्थ चेष्टा करते हैं वह आत्मा ईश्वर (ईशनशील) अर्थात् सर्व प्रवृत्ति का हेतु (प्रवर्तक) भी है। श्रुति भी कहती है-'ईशानो भूतभव्यस्य' अर्थात् वह आत्मा भूत और भविष्यत् का ईशान (ईश्वर) है। इस विषय पर अनुमान (युक्ति) प्रमाण इस प्रकार है—आत्मा प्रकृति और प्रकृति के कार्य से भिन्न है, राजा के समान। इस प्रकार ईश्वरत्व भी आत्मा के अन्य सबसे भिन्नत्व सिद्धि में हेतु है। अतः यह सिद्ध हुआ कि आत्मा प्रकृति से, उसके विकार से, उसके धर्म से, उसके कर्म से और उसकी अवस्था के सम्बन्ध से रहित है अर्थात् उक्त छः विशेषणों से यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा परिपूर्ण, कूटस्थ, असंग चिदेकरस है। यदि कहो कि प्रत्येक आत्मा एक है और परमात्मा दूसरा है, इसप्रकार दो प्रकार के आत्मा मानने पर अद्वैत की सिद्धि कैसे होगी, तो उस पर कहा जायगा कि

परिपूर्ण ब्रह्म ही आरोपित अविद्या के कार्य से परिच्छिन्न के समान प्रतीत होता है। अतः परिच्छिन्नत्व तथा क्षेत्रज्ञत्व आत्मा में कल्पित है, जिस प्रकार एक ही अपरिच्छिन्न आकाश में घट रूप उपाधि से परिच्छिन्नत्व और घटाकाशत्व कल्पित है। ब्रह्म में अविद्या से कल्पित प्रकृति और प्राकृत (प्रकृति कार्य) सब मिथ्या ही है, सत्य नहीं है, क्योंकि श्रुति कहती है–'त्रयमप्येतत्सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रं चिदेकरसो ह्ययमात्मा', (क्योंकि जाग्रत, सुषुप्त तथा स्वप्न आदि ये तीनों मायामात्र हैं, चिदेकरस ही यह आत्मा है'); 'विकल्पो नहि वस्तु' इति, ('विकल्प वस्तु नहीं है'); 'असत्त्वादन्यस्य' ('अन्य का असत्व है') और 'यह सब मिथ्या है, माया का कार्य होने से, इन्द्रजाल के समान इत्यादि युक्तियों से विचार करने पर देहादि सम्पूर्ण द्वैत प्रपञ्च माया का कार्य होने से मिथ्या है। अतः वह परमब्रह्म द्वैत का कारण है, ऐसा कहना युक्त नहीं है। ब्रह्म और आत्मा का भेद महाकाश और घटाकाश के भेद के समान उपाधि से कल्पित है और उपाधि भी अविद्या का कार्य होने से मिथ्या है। अविद्या की सत्ता का अभाव होने पर ब्रह्म और आत्मा का अभेद स्वतः सिद्ध होता है। अतः ब्रह्म का अद्वैतत्व निरंकुश है, ऐसा बोधन करने के लिये ब्रह्म और आत्मा का एकत्व प्रतिपादन कर रहे हैं। **परमात्मा इति च अपि उक्तः**—जो इस देह में अस्मत् प्रत्यय की (अहं बुद्धि का) लक्ष्य वस्तु है तथा बुद्धि और उसकी वृत्ति का साक्षीरूप है, जिसमें प्रकृति के सान्निध्य से कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व आदि रूप संसार कल्पित हैं एवं उपद्रष्टृत्व आदि लक्षण से विचार करने पर प्रकृति तथा उसके विकार, धर्म और कर्म से जिसका लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है, जो असंसारी नित्य कूटस्थ, असंग और चिद्रूप है, वह जीवात्मा स्वरूपतः परमात्मा (ब्रह्म) ही है, यह समस्त श्रुतियों से कहा गया है। 'तदेतदात्मानमोमित्यपश्यन्तः पश्यत तदेतत्सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैवाऽत्र ह्येव न विचिकित्स्यम्' इति, ('उस आत्मा को ओम्' यों अविषयत्वरूप से देखो, वह आत्मा ब्रह्म ही है, ब्रह्म आत्मा ही है, यही यथार्थ तत्त्व है, इस विषय में संशय नहीं करना चाहिए') इत्यादि से ब्रह्म और आत्मा के अभेद का ही प्रतिपादन किया गया है। इसलिये क्षेत्रज्ञ का ब्रह्म भाव स्वाभाविक ही है, कल्पित नहीं है। इस कारण से सर्वज्ञ सत्यवादिनी प्रमाण शिरोमणिभूता श्रुति ने 'तदेतत्सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैव' ('वह

यह सत्य है, आत्मा ब्रह्म ही है, ब्रह्म आत्मा ही है') इसप्रकार दोनों के एकत्व का प्रतिपादन किया है। तथा ईश्वर ने भी 'क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि' ('क्षेत्रज्ञ मुझको ही जानो') इससे तथा 'देहेऽस्मिन्पुरुषः परः' ('इस देह में पुरुष पर है') इससे वैसा ही प्रतिपादन किया है। इसलिये ब्रह्म और आत्मा का एकत्व सिद्ध होने से द्वैत के हेतु का (ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य पदार्थ का) अभाव होने पर ब्रह्म का अद्वैतत्व भी निस्संशय सिद्ध होता है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में कहा है कि पुरुष (जीव) प्रकृति एवं प्रकृति के कार्य में (देह इन्द्रियादि में) आत्म अभिमान कर प्रकृति से उत्पन्न हुए गुण समूह अर्थात् विषय समूह को भोगता है एवं उससे जो गुण के साथ संग हो जाता है वही जीव के शुभ-अशुभ योनि में जन्म का हेतु बनता है। अब प्रश्न होगा कि यदि जीव का स्वरूप ऐसा ही हो तब तो प्रकृति से जीव की मुक्ति की कभी संभावना नहीं होगी। इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं—इस देह में जो जीव रूप में रहते हुए संसार का सुख, दुःख अज्ञान से भोग कर रहा है वही जब प्रकृति में तादात्म्य-अभिमान का त्याग कर अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब वह प्रकृति से पर (भिन्न या श्रेष्ठ) हो जाता है। अर्थात् प्रकृति के गुण उसको स्पर्श भी नहीं कर सकते। पहले ही कह चुके हैं कि ब्रह्म में एक अनिर्वचनीया कल्पना शक्ति है जो माया या प्रकृति कही जाती है। इस कल्पना शक्ति से ही विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा लय हो रहा है। कल्पनात्मक मनमें जब तादात्म्य-अभिमान होता है अर्थात् अन्तःकरण, के साथ देहादि 'मैं हूँ', एवं अन्तःकरण तथा देहादि का धर्म 'मेरा' है, इसप्रकार अभिमान होता है तब अन्तःकरण चैतन्यस्वरूप ब्रह्म के आभास (चिद्-प्रतिबिम्ब) से युक्त होता है। यह चिदाभासयुक्त अन्तःकरण ही जीव कहलाता है। अतः जीवत्व भी कल्पित होने के कारण मिथ्या ही है। अपने स्वरूप को भूल जाना ही (अज्ञान ही) इस जीवत्व का मूल कारण है। शास्त्र विहित कर्म के अनुष्ठान द्वारा गुरुमुख से वेदान्त वाक्य का श्रवण, मनन, तथा निदिध्यासन द्वारा जब जीव अपने को ब्रह्म से अभिन्न जान लेता है तब प्रकृति रूप क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ आत्मा परे (पृथक्) हो जाता है एवं अपने ब्रह्म स्वरूप में स्थित होता है। इसलिये अध्यात्म रामायण में

कहा गया है कि 'एतैर्विशिष्टो जीवः स्यात् वियुक्तः परमेश्वरः' अर्थात् प्रकृति एवं प्रकृति के कार्य (देहादि) में आत्माभिमान कर जब उनसे विशिष्ट (युक्त) होते हैं तब जीव होता है और उनसे जब वियुक्त (पृथक्) होता है तो वही जीव परमेश्वर हो जाता है। अतः प्रकृति के परिणाम-स्वरूप इस देह में जीव रूप से विद्यमान रहते हुए भी स्वरूपतः वह प्रकृति से परे हैं अर्थात् ब्रह्म स्वरूप ही है। इसलिए भगवान् कहते हैं 'देहेऽस्मिन् पुरुषः परः'। शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा प्रकृति के सब कार्य का उपद्रष्टा है। जिसप्रकार स्वप्न द्रष्टा मनसे कल्पित समस्त स्वप्नदृश्य में ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान, भोक्ता, भोग्य, भोग इत्यादि क्रियाओं को उदासीनवत् केवल अधिष्ठान रूप से देखता है, उसीप्रकार अधिष्ठान रूप से विद्यमान, उदासीन, शुद्धचैतन्यस्वरूप आत्मा भी प्रकृति के सब कार्य को देखता है अर्थात् जानता है, क्योंकि देखना या जानना ज्ञानस्वरूप आत्मा का स्वतः सिद्ध स्वभाव है। इसलिये श्रुति कहती है–न वा अरे द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्' अर्थात् द्रष्टा की दृष्टि का कभी लोप (नाश) नहीं होता है क्योंकि वह अविनाशी है। 'उप' शब्द का अर्थ अत्यन्त निकट या समीप आत्मा अर्थात् 'मैं' सभी के अति निकट है, एवं आत्मा सबसे निकट स्थित होकर प्रकृति के किसी व्यापार में व्याप्त (लिप्त) न होकर, उदासीन रूप से प्रकृति के सब कार्यों को सदा ही देखता है (जानता है) इसलिये वह उपद्रष्टा है। अतः पारमार्थिक द्रष्टि से इस देह में स्थित होकर भी देहादि से परे (अतीत) तथा ब्रह्मस्वरूप ही है। यह आत्मा केवल उपद्रष्टा ही नहीं है, परन्तु अनुमन्ता भी है अर्थात् प्रकृति के सब कार्यों का अनुमोदन भी करता है। जैसे सिनेमा के सफेद पर्दे के ऊपर कितना ही अच्छा, बुरा नाटक हो पर्दा उसमें कोई आपत्ति न कर सब खेल को निर्लिप्त भाव से धारणा करता है, उसी प्रकार माया का सब कार्य, चाहे वह अच्छा हो या बुरा हो, सबको ही अधिष्ठान रूप से वह आत्मा अनुमोदन करता है। अज्ञानी की (बृद्ध मूढ़ जीव की) दृष्टि में ही 'यह अच्छा है, यह बुरा है, यह पाप है, यह पुण्य है', इसप्रकार राग-द्वेष की भावना रहना सम्भव है। ज्ञान दृष्टि से सभी कल्पित या मिथ्या होने के कारण किसी भी दृश्य में वस्तुत्व बुद्धि नहीं रहती है, अतः जो ज्ञानी पुरुष अपने ब्रह्म स्वरूप में स्थित है वह सर्व प्रकार से दोष दृष्टि से वर्जित होकर विश्व नाटक की

सभी लीलाओं को द्रष्टा के रूप से अनुमोदन करता है। इसलिये उसे अनुमन्ता कहा जाता है। वह भर्ता भी है, अर्थात् प्रकृति के कार्य देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि इत्यादि स्वरूपतः जड़ तथा मिथ्या होने पर भी उनको अपनी सत्ता से सत्तावान् तथा अपनी स्फूर्ति (प्रकाश) से प्रकाशित कर अधिष्ठान रूप से धारण तथा पोषण करता है। चेतन बिना किसी वस्तु की पुष्टि नहीं हो सकती, इसलिए चैतन्य सत्ता से ही इन सब प्रकृति के कार्य का भरण अर्थात् पोषण होता है। अतः देहस्थित पुरुष (जो अज्ञान से अपने को जीव मानता है वह) स्वरूपतः भर्ता ही है। फिर वह केवल भर्ता ही नहीं है, वह भोक्ता भी है। प्रकृति जो कुछ कार्य कर रही है, वह चेतन पुरुष के भोग तथा अपवर्ग अर्थात् भुक्ति तथा मुक्ति के लिये ही कर रही है। चेतन सत्ता के बिना अन्य कोई जड़ पदार्थ भोक्ता अर्थात् भोग का कर्ता नहीं हो सकता। वस्तुतः पूर्ण स्वरूप आत्मा में न तो भोग है और न तो अपवर्ग है अर्थात् न तो आत्मा बद्ध है और नहीं आत्मा मुक्त है, क्योंकि आत्मा सदा ही अपने सत्य, ज्ञान तथा अनन्त स्वरूप में स्थित है किन्तु प्रकृति उस चेतन से ही चेतनान्वित होकर सब प्रकार के भोग या त्याग कर रही है। अतः प्रकृति का भोक्तापन चैतन्यस्वरूप आत्मा में उपचरित होने पर यह प्रतीत होता है कि आत्मा भोक्ता है। जैसे प्रजा की सब सम्पत्ति का प्रभु राजा होता है, उसी प्रकार विश्वप्रपञ्च में जो कुछ हो रहा है, उसका भोक्ता भी सबके प्रभु (परमेश्वर स्वरूप) आत्मा ही है। चेतन के विना ईश्वरत्व सम्भव नहीं है। ईश्वर-रूप आत्मा सर्वव्यापी (अनन्त-असीम) होने के कारण महान् एवं स्वतन्त्र है तथा उसकी सन्निधि से प्रकृति से उत्पन्न हुई सभी जड़ वस्तु कर्म में प्रवर्तित होती हैं इस कारण वह ईश्वर है। सबकी आत्मा होने के कारण तथा प्रकृति से परे (अर्थात् विलक्षण एवं श्रेष्ठ) होने के कारण वह परमात्मा है। इस विषय पर श्रुति ही प्रधान प्रमाण है क्योंकि श्रुति में ही आत्मा को उपद्रष्टृत्व आदि पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट कहा गया है।

तीसरे श्लोक में कहा गया है–'स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु' अर्थात् यह क्षेत्रज्ञ स्वरूपतः जिस प्रकार का है एवं जिस प्रभाव वाला है, वह संक्षेप में मुझसे सुन लो। पूर्वश्लोक में क्षेत्रज्ञ के प्रभाव तथा स्वरूप की व्याख्या की गयी थी।

अब 'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते' (जिसे जानकर पुरुष अमरत्व प्राप्त कर लेता है) ऐसा जो बारहवें श्लोक में कहा गया है उसका उपसंहार करते हैं—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभि जायते ॥ २३ ॥

अन्वय—य एवं पुरुषं वेत्ति, गुणैः सह प्रकृतिं वेत्ति सः सर्वथा वर्तमानः अपि भूयः न अभिजायते ।

अनुवाद—जो इस प्रकार पुरुष को साक्षात् आत्मा के रूप से जानता है एवं गुणों के विकारादि के साथ विद्यमान अविद्या स्वरूप प्रकृति को भी जानता है, वह ज्ञानी पुरुष सब प्रकार का वर्तन करता हुआ भी फिर जन्म नहीं लेता ।

भाष्यदीपिका—य एवं पुरुषं वेत्ति—जो उपद्रष्टृत्व आदि लक्षण विशिष्ट पुरुष को इस प्रकार (जिस प्रकार शास्त्र में निर्दिष्ट हुआ है तथा पूर्ववर्ती श्लोक में जिस प्रकार कहा गया है, उसी प्रकार) जानता है अर्थात् साक्षात् आत्मभाव से 'वही मैं हूँ' इस प्रकार जानता है एवं **गुणैः सह प्रकृतिं वेत्ति**—जिस प्रकार पूर्व में उक्त हुआ है उसी प्रकार गुणों के (विकारों के) सहित अविद्या स्वरूप (मिथ्याभूत) प्रकृति को भी जानता है, अर्थात् प्रकृति तथा उसके समस्त विकार (परिणाम) अविद्या (अज्ञान) से ही प्रतिभासित (प्रतीत) होती है । वस्तुतः उसकी कोई सत्ता नहीं है ऐसा जो जानता है, [अतः आत्मज्ञान से 'मेरा अज्ञान और उसका कार्य—ये दोनों निवृत्त हो गये' इस प्रकार प्रकृति को निवृत्त की हुई भी जो जानता है तात्पर्य यह है कि प्रकृति एवं उसके सभी कार्य अविद्या से कल्पित हैं । अतः ज्ञान से (परमात्मा के साथ एकत्व ज्ञान से) प्रकृति तथा उसके सभी कार्य का अभाव हो जाता है अतः 'मैं परमात्मस्वरूप, एकमात्र, नित्य अद्वितीय सत्य वस्तु हूँ , तथा आत्मा से अतिरिक्त और सभी (प्रकृति उसके कार्य) कल्पित एवं मिथ्या है', इस प्रकार जो जानता है (प्रत्यक्ष अनुभव करता है **सः**—वह ब्रह्मविद् (ज्ञानी पुरुष) **सर्वथा वर्तमानःअपि**—सब प्रकार से वर्तता हुआ भी [प्रारब्ध कर्म के कारण इन्द्र के समान विधि का उल्लंघन करके बर्ताव करने पर भी (मधुसूदन)] **भूयः**

पुन अपि न अभिजायते—इस विद्वत् शरीर के नाश होने पर फिर दूसरे शरीर में जन्म नहीं लेता है (दूसरे शरीर को ग्रहण नहीं करता है)। क्योंकि [विद्या के द्वारा अविद्या के नष्ट कर दिये जाने पर उसके कार्य असम्भव हो जाते हैं यह तो नाना प्रकार से पहले ही बताया गया है। वेदान्तसूत्र से भी यह सिद्ध होता है यथा—'तदधिगम उत्तर पूर्वाघ्रयोरश्लेष विनाशौतद्व्यपदेशात्' अर्थात् उस आत्म तत्व का ज्ञान होने पर आगामी प्राप्य-पुण्य का संसर्ग नहीं होता तथा पूर्व कृत पाप पुण्य नष्ट हो जाते हैं क्योंकि श्रुति में ऐसा ही कहा है]। 'अपि' शब्द का अभिप्राय यह है कि यदि विधि का उल्लंघन करके वर्ताव करने पर भी ज्ञानी पुरुष का फिर से जन्म नहीं होता, तो अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुकूल वर्तने वाला पुनः उत्पन्न नहीं होता इसमें तो कहना ही क्या है ?

पूर्वपक्ष—यद्यपि यह बतलाया गया है कि ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् पुनर्जन्म नहीं होता है तथापि (१) ज्ञान उत्पन्न होने से पहले किये हुए कर्म (२) ज्ञान उत्पत्ति के पश्चात् किये जाने वाले कर्म (३) अनेक भूतपूर्व जन्म में किये हुए कर्म–वे फल प्रदान किये बिना नष्ट हो जायेंगे, ऐसा मानना युक्ति-युक्त नहीं है। अतः ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् भी इन तीन प्रकार के कर्मों का फल भोगने के लिये तीन जन्म और होने चाहिये। कहने का अभिप्राय यह है कि सभी कर्म समान हैं। उनमें कोई विशेष (भेद) प्रतीत नहीं होता है। अतः जो प्रारब्ध कर्म फल देने के लिये प्रवृत्त होकर वर्तमान जन्म के आम्भ का हेतु हुआ है, उसके समान ही किये हुए अथवा किये जाने वाले अन्य कर्मों का भी (बिना फल दिये) नाश मानना उचित नहीं, अतः उक्त तीनों प्रकार के कर्म तीन जन्म का आरम्भ करेंगे अथवा सब मिलकर एक जन्म का ही आरम्भ करेंगे ? ऐसा मानना चाहिए नहीं तो ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् किये हुए कर्म का (बिना फल दिये) नाश मानने से सर्वत्र (सभी) कर्मों की फल प्राप्ति के सम्बन्ध में अविश्वास का (अनिश्चितता का) प्रसंग आ जायगा। और विशेष-विशेष कर्म का विशेष-विशेष फल जो-जो शास्त्र में प्रतिपादित हुआ है वे सब शास्त्र भी निरर्थक प्रमाणित हो जायेंगे। अतः 'वह फिर जन्म नहीं लेता'–इस प्रकार कहना ठीक नहीं है।

उत्तर पक्ष—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि–'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' (मु० उ० २।२।८) अर्थात् इसके समस्त कर्म क्षय हो जाते हैं 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० उ० ३।२।९) अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है, 'तस्य तावदेव चिरम्' (छा० उ० ६।१४।२) अर्थात् उसके (मोक्ष में) तभी तक की देर है, 'इषीकातूलवत् सर्वाणि कर्माणि प्रदूयन्ते' (छा० उ० ५।२४।३) अर्थात् अग्नि में तृण के अग्रभाग की भाँति उसके समस्त कर्म भस्म हो जाते हैं) इत्यादि सैकड़ों श्रुतियों द्वारा विद्वान् के सब कर्मों का नाश होना कहा गया है। यह गीता शास्त्र में भी 'यथैधांसि' ४–३७) इत्यादि श्लोकों में समस्त कर्म को ज्ञानाग्नि (ज्ञानरूप अग्नि) दग्ध कर देता है, ऐसा कहा गया है और आगे भी कहेंगे। फिर युक्ति से भी यह बात सिद्ध होती है क्योंकि अविद्या कामना आदि क्लेश रूप बीज को निमित्त कर ही कर्म समूह अन्य जन्म रूप अंकुर का आरम्भ किया करते हैं। यह गीता शास्त्र में भी स्थान-स्थान पर भगवान् ने कहा है कि अहंकार और फलाकांक्षा युक्त कर्म ही फल का आरम्भ करने वाले होते हैं अर्थात् वे सब कर्म ही जन्मान्तर आदि रूपी फल प्रसव करते हैं। अहंकार तथा कामना से शून्य कर्म कोई फल उत्पादन करने में समर्थ नहीं होता है ऐसा भी शास्त्र का वचन है, यथा–'बीजान्यग्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः। ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्या संपद्यते पुनः' अर्थात् जैसे अग्नि में दग्ध हुए बीज फिर नहीं उगते वैसे ही ज्ञान से दग्ध हुए क्लेशों द्वारा आत्मा पुनः शरीर ग्रहण नहीं करता। [कहने का अभिप्राय यह है कि ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् तत्व ज्ञानी के अविद्या. अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेष ये पंच क्लेश रूपी जन्म के बीज दग्ध (नष्ट) हो जाते हैं। एवं जो कर्म किया गया है, अथवा किया जाने वाला है, उस कर्म का केवल आभास-मात्र रूप ही रह जाता है। अतः जैसे पट (वस्त्र खण्ड) दग्ध होने के पश्चात् उसका आकार विद्यमान रहते हुए भी उससे कोई क्रिया या प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, ऐसे ही ज्ञान होने के पश्चात् वे सब कर्म शरीर के आरम्भक नहीं होते हैं, अर्थात् दग्ध बीज के समान वे ज्ञानी पुरुष के शरीर को पुनः उत्पन्न नहीं कर सकते]।

पूर्वपक्ष—अच्छा, हम मान लेते हैं कि ज्ञान होने के पश्चात् किये हुए कर्म का ज्ञान द्वारा दाह हो सकता है, क्योंकि उन सब कर्मों का अनुष्ठान ज्ञान के साथ होता है,

परन्तु इस जन्म में जो ज्ञान उत्पन्न हुआ, उससे पहले किए हुए और अतीत के अनेक जन्मों में किये हुए कर्मों का भी ज्ञान द्वारा नाश होता है—ऐसा मानना युक्त नहीं है।

उत्तर पक्ष—इस प्रकार की शंका युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञान रूप अग्नि से सर्व कर्म दग्ध हो जाते हैं, ऐसा विशेष भाव से कहा गया है (गीता ४।३७)।

पूर्वपक्ष—यदि ऐसा कहा जाय कि ज्ञान के पश्चात् अनुष्ठित समस्त कर्मों का ही ज्ञान से दाह होता है तो ?

उत्तर पक्ष—ऐसा मानना उचित नहीं क्योंकि (इस प्रकार के) संकोच का (कोई) कारण नहीं सिद्ध होता है। और तुमने जो कहा कि जैसे ज्ञान हो जाने पर भी वर्तमान जन्म का आरम्भ करने वाले (फल देने के लिये प्रवृत्त हुए) प्रारब्ध कर्म नष्ट नहीं होते, वैसे ही जिनका फल आरम्भ नहीं हुआ है उन कर्मों का भी नाश (मानना) युक्तियुक्त नहीं है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जैसे छोड़े हुए बाण को लौटा नहीं सकते, उसी प्रकार जो प्रारब्ध कर्म फल देने के लिये प्रवृत्त हो चुके हैं, उनका फल अवश्य होता है किन्तु अन्य का नहीं। कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे पहले लक्ष्य का भेद करने के लिये धनुष से छोड़ा हुआ बाण लक्ष्य भेद होने के पश्चात् भी, आरम्भ हुए वेग का नाश होने पर, गिर कर ही शान्त होता है, ऐसे ही शरीर का आरम्भ करने वाले प्रारब्ध कर्म भी शरीर की स्थिति के जो (मोक्षरूप) प्रयोजन हैं उन प्रयोजनों की सिद्धि हो जाने पर भी जब तक संस्कारों का वेग क्षय नहीं हो जाता है तब तक पहले के समान वह प्रारब्ध वर्तता ही रहता है। किन्तु जो बाण नहीं छोड़ा गया है अर्थात् जिसकी प्रवृत्ति के लिये वेग आरंभ नही हुआ है, वह यदि धनुष पर चढ़ा भी लिया गया हो तो भी उपसंहार किया जा सकता है अर्थात् रोका जा सकता है। उसी प्रकार जिन कर्मों के फल का आरम्भ नहीं हुआ है वे अपने आश्रय में अर्थात् अन्तः करण में स्थित होते हुए भी ज्ञान द्वारा निर्बीज किये जा सकते हैं। अतः विद्वान् के शरीर के पतन के (मृत्यु के) पश्चात् 'वह फिर उत्पन्न नहीं होता' ऐसा कहना उचित ही है, यह बात सिद्ध हुई।

टिप्पणी—(१) **'यो'**—इस प्रकार प्रकृति–पुरुष के विवेक (पार्थक्य) को

जो जानता है उसकी स्तुति करते हैं, **एवं पुरुषं यः वेत्ति**—जो मुमुक्षु उक्त प्रकार उपद्रष्टृत्व आदि विशिष्ट रूप से पुरुष को जानता है। **प्रकृतिं च गुणैः सह**—और सुख दुःखादि परिणामरूपी गुणों के सहित प्रकृति को जानता है, **सः सर्वथा वर्तमानः अपि**—वह विधि का उल्लंघन करके इस संसार में वर्तता हुआ भी **न भूयः अभिजायते**—फिर जन्म नहीं लेता है अर्थात् संसार से मुक्त ही हो जाता है।

(२) **शंकरानन्द**—इस प्रकार प्रकृति से पुरुष भिन्न है। प्रकृति के साथ पुरुष का कोई सम्बन्ध नहीं है, एवं ब्रह्म से पुरुष अभिन्न है, इस प्रकार प्रतिपादन करके पूर्ववर्त्ती श्लोक में उक्त उपद्रष्टृत्व आदि लक्षण युक्त आत्मा को जो जानता है वह विदेह कैवल्य को प्राप्त होता है, ऐसा अब कह रहे हैं। **यः**—अनेक सहस्र जन्मों में परमेश्वर की सम्यक् प्रकार से आराधना करके उसके प्रसाद से सम्पन्न होकर शुद्ध चित्तवाला जो मुमुक्षु अधिकारी ब्राह्मण सत् और असत् के विवेक, तीव्र वैराग्य, शम, दम, संन्यास आदि अंतरंग साधनों की सम्पत्ति से विशिष्ट होकर ब्रह्मविद् गुरु की सन्निधि (समीप) में श्रवण, मनन आदि के सम्यक् प्रकार के अनुष्ठान द्वारा ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् **एवं प्रकृतिं गुणैः सह वेत्ति**—इस प्रकार से (पूर्व श्लोक में जैसा उक्त हुआ है उसी प्रकार से) प्रकृति को [ब्रह्म रूप अधिष्ठान की सत्ता को न जानने के कारण (अज्ञान से) कार्य, कारण, कर्ता और कर्मफल रूप से जो अनादि, अनिर्वचनीया तथा सम्पूर्ण अनर्थ की मूलभूता अविद्या फैली हुई है, उसको] गुणों के साथ (महत्तत्त्व से लेकर स्थूल पदार्थ तक भोक्ता, भोग्य रूप से स्थित गुणों के कार्य के साथ) मरू के दर्शन होने पर जिस प्रकार मरीचिका का जल प्रवाह मिथ्या अनुभूत होता है, उसी प्रकार प्रकृति के अधिष्ठानरूप आत्मा के दर्शन से जो प्रकृति को मिथ्याभूत जानता है तथा **पुरुषं च वेत्ति**—क्षेत्रज्ञ को (चिदाभास से किये जाने वाले कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्मों का जिस अधिष्ठान सत्ता में अध्यारोप होता है, ज्ञान होने के पश्चात् जिसमें सम्यक् प्रकार से समस्त विशेष गुण या धर्म निरस्त हो जाते हैं तथा जो सम्पूर्ण उपाधियों से रहित, उपद्रष्टृत्व आदि लक्षणों से लक्षित, आदि और अन्त से शून्य, आकाश के समान अत्यन्त विशुद्ध, आनन्दघन, चिदेकरस, परमब्रह्म को) अपने आत्मा के रूप से जानता है अर्थात 'वही परमब्रह्म मैं हूँ'—कर्ता, भोक्ता, और संसारी नहीं हूँ, इस प्रकार अनात्म

उपाधियों के निरसन (त्याग) द्वारा प्रत्यगभिन्न परमब्रह्म को ज्ञान दृष्टि से अपने आत्मरूप से जो जानता है **सः**—वह ब्रह्मविद् यति **सर्वथा**—सर्व प्रकार से **वर्तमानः अपि**—व्यवहार करता हुआ भी [यद्यपि सर्वात्मदर्शी शुद्धात्मा विद्वान् की अपने से भिन्न अन्य कोई ग्राह्य वस्तु न रहने के कारण उसमें प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती क्योंकि राग, द्वेष आदि से युक्त भेददर्शी की ही बाह्य विषय में प्रवृत्ति होती है, विशुद्ध वृत्ति से जो सभी में ब्रह्म को देखता है, इस प्रकार विद्वान् की प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं, तो भी दुष्ट या अदुष्ट प्रारब्धवश (प्रारब्ध के अनुसार) शरीर कर्म में प्रवृत्त होने पर अन्य (अज्ञानी) की दृष्टि से विद्वान् भी नाना प्रकार से प्रवृत्त हुआ-सा भासता है। परन्तु तत्त्वदृष्टि से स्वयं निष्क्रिय, नित्यमुक्त, निर्लेप (संग रहित) होने के कारण तथा उसके अशेष कर्म ज्ञान से निर्मूलित होने के कारण वह वस्तुतः अप्रवृत्त ही है। अतः प्रारब्ध का क्षय होने के साथ-साथ इस देह के नष्ट होने पर फिर वह तत्त्वदर्शी जन्म नहीं लेता है अर्थात् उसका पुनः शरीर उत्पन्न नहीं होता है। क्योंकि पुनः शरीर की उत्पत्ति के जो अविद्या, काम आदि कारण हैं, वे सम्यक् ज्ञानरूपी अग्नि से जल जाते हैं। अतः जन्म के कारण का अभाव होने पर वह कैवल्य-भाव (कैवल्य मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है, यही कहने का अभिप्राय है। श्लोक में 'अपि' शब्द का अर्थ यह है कि यदि विधि का उल्लंघन करके भी विद्वान् पुरुष जन्ममृत्युरूपी संसार से मुक्त होता है तो जो शास्त्र विहित शुभ कर्म में स्थित है वह फिर जन्म नहीं लेगा, इसमें तो कहना ही क्या है। तात्पर्य यह है कि प्रकृति और पुरुष दूध और जल के समान परस्पर भिन्न हैं, इस प्रकार भलीभाँति जानकर, एवं विद्या (तत्त्वज्ञान) से गुणों के साथ प्रकृति को प्रकृष्ट रूप से आत्मा में विलय करके 'ब्रह्म ही मैं हूँ' इस प्रकार अविकारी ब्रह्मस्वरूप में स्थित यति का सर्वथा वर्तनरूप यथेष्ट आचार का होना सम्भव नहीं होता है क्योंकि उसका अनात्म देह, इन्द्रियादि में 'मैं, मेरा' ऐसा अभिमान नहीं है। अनात्म देह आदि में 'मैं; मेरा' इस प्रकार अभिनिवेश (अभिमान) होने पर यह मेरा कर्तव्य है, यह भोक्तव्य है, इस प्रकार इच्छा का वेग होने पर पुरुष की दुष्ट और अदुष्ट (अशुभ और शुभ) कर्म में प्रवृत्ति देखने में आती है—ऐसा न होने पर प्रवृत्ति देखने में नहीं आती। इसलिये अनात्मदेह-इन्द्रियादि में जिसको अभिनिवेश नहीं है एवं जो सभी को

ब्रह्मरूप से देखता है, इस प्रकार के ब्रह्मविद की सत् एवं असत् (शुभ तथा अशुभ) में प्रवृत्ति का होना सम्भव नहीं होता, क्योंकि सर्वत्र ब्रह्मदर्शन तथा प्रपञ्च-दर्शन का परस्पर विरोध है। यदि कहो कि 'सर्वथा वर्तमानोऽपि' (सर्वथा वर्तता हुआ भी) इस वचन का व्याघात हो जायगा तो इस पर कहा जाता है कि ब्रह्मस्वरूप में स्थित रहने वाले ब्रह्मविद् के भी देह के प्रारब्ध-वश कहीं (आहार आदि में) नियम का उल्लंघन हो जाता है। उससे इसका ज्ञान और फल नष्ट होता है, ऐसी जो मूढ़ों की युक्ति है, उसका निवारण करने के लिये भगवान् इस वचन को कहते हैं—'सर्वप्रकार से वर्तता हुआ भी वह ज्ञानी पुरुष फिर उत्पन्न नहीं होता'। इसलिये इस वचन का व्याघात नहीं है।

(३) **नारायणी टीका**—भगवान् ने प्रकृति तथा पुरुष का स्वरूप भली-भाँति वर्णन किया, जिससे कि मुमुक्षु प्रकृति से विलक्षण अपनी आत्मा का स्वरूप जानकर एवं उसमें स्थित होकर परमपुरुपार्थ (मोक्ष) को प्राप्त हो सके। प्रकृति तथा पुरुष के यथार्थस्वरूप के ज्ञान से क्या फल प्राप्त होता है, वही अब स्पष्ट कर रहे हैं। प्रकृति (अनिर्वचनीया मायाशक्ति) ही उसके सत्त्व, रजः तथा तमः गुणों के विकार द्वारा कार्य, (देहादि) करण (इन्द्रियादि), कर्ता, कर्म तथा कर्म के फल के रूप में, ब्रह्म रूप अधिष्ठान सत्ता में (अनन्त नाम रूप से) भास रही है एवं वे सब मरीचिका के जल के समान मिथ्या होते हुए भी सर्व संसार रूप अनर्थ का मूल है। इस प्रकार प्रकृति का तथा उसके गुणों का तत्व जो जानता है एवं साथ-साथ यह भी जानता है कि जो पुरुष, (जीवात्मा) अज्ञान से प्रकृति के साथ संग कर उसमें तथा उसके कार्य में तादात्म्य-अभिमान कर (मैं और मेरापन कर) कर्ता, भोक्ता बनता है तथा कर्म फल भोगने के लिये जन्म, मृत्यु प्रवाह में भटकता है, वह पुरुष **परमार्थतः**—सच्चिदानन्दस्वरूप, नित्यशुद्ध, बुद्ध मुक्त ब्रह्म ही है। अतः प्रकृति से उत्पन्न हुए सर्वोपाधि से मुक्त होकर निर्विकल्प समाधि से जो इस ब्रह्मस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है एवं उस स्वरूप में स्थित होकर सर्वत्र आत्मा का ही दर्शन करता है, उस ब्रह्मनिष्ठ पुरुष का देह के नाश के पश्चात् पुनः जन्म नहीं होता है क्योंकि तत्वज्ञान से वह देह, इन्द्रियादि से पूर्णतया अपने को पृथक् जानता है। देहादि प्रारब्ध कर्मानुसार, ज्ञान के पश्चात् भी संस्कारवश शुभ या अशुभ कर्म करते रहते हैं परन्तु वे सब कर्म तथा जो

कर्म पहले किये गये हैं अथवा पूर्व जन्म के संचित जो कर्म हैं वे सब कर्म उस ब्रह्मनिष्ठ पुरुष के ज्ञान से दग्ध हो जाते हैं (गीता ४।३७)। अतः इन सब कर्मों का (शुभ या अशुभ) फल भोगने के लिये तत्वज्ञानी को फिर जन्म नहीं लेना पड़ता है। तत्त्वज्ञानी जब प्रकृति तथा प्रकृति के कर्मों से पूर्णतया अलग हो जाता है एवं नित्य, आनन्दघन, अखण्ड, अद्वय सत्ता में स्थित होता है तब मिथ्या प्रकृति से उत्पन्न हुए कर्म के फल से वह कैसे बद्ध हो सकता है ? इसलिये श्रुति कहती है–'नैन पुण्यपापे स्पृशतः' अर्थात् इस प्रकार तत्वज्ञानी को संचित, क्रियामान, तथा प्रारब्ध कोई पाप या पुण्य कर्म स्पर्श नहीं कर सकते। प्रश्न होगा कि यदि ज्ञानी अपनी जीवत्व बुद्धि का त्याग कर ब्रह्मस्वरूप में स्थित हो तो (१) जड़ देहादि में चेतन का आभास न रहने के कारण वह मृत व्यक्ति के समान क्रियाहीन हो जायगा, परन्तु देखा जाता है कि ज्ञान होने के पश्चात् भी शरीर आदि में क्रिया चलती रहती है, यह कैसे सम्भव है ?

उत्तर—कुलर (कुम्हार) मिट्टी का बर्तन बनाने के लिये जिस चक्र का व्यवहार करता है, उससे कार्य की समाप्ति के बाद कुम्भकार के हाथ का संग नहीं रहने पर भी, चक्र पूर्व वेग से दो चार मिनट तक स्वतः ही चलता रहता है। उसी प्रकार ज्ञानी के देहादि में अभिमान (संयोग) का अभाव होने पर भी बहुत जन्मों के अनुष्ठित कर्मों के प्रभाव से जो प्रारब्ध बन गया है, उसके वेग से देहादि दस, बीस, पचास साल तक कर्म करते रहेंगे, इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

प्रश्न—ज्ञान होने के पश्चात् जब ज्ञानी विशुद्ध ब्रह्म में स्थित हो जाता है, तब उससे असत् (अविशुद्ध-अशुद्ध) कार्य का होना सम्भव कैसे होता है ? तथापि ज्ञानी के देहादि से भी शुभ तथा अशुभ कर्म हो सकता है, यह 'सर्वथा वर्तमानोऽपि' इस प्रकार भगवान् के कथन से स्पष्ट होता है।

उत्तर—पहले ही कह चुके हैं कि ज्ञान होने के पश्चात् भी देहादि से (प्रारब्ध के वेग के कारण) अपने-अपने संस्कार के अनुसार शुभ और अशुभ कर्म होना सम्भव है। परन्तु उन कर्मों में ज्ञानी की कर्तृत्वबुद्धि नहीं रहती है। समाधि अवस्था में उनकी दृष्टि में कर्ता, कर्म, करण इत्यादि किसी वस्तु का भान नहीं होता है, क्योंकि वह सर्वत्र एकमात्र आत्मा को ही विद्यमान देखता है, व्युत्थान अवस्था में

स्वप्न-दृश्य के समान देहादि तथा उनके कार्य का भान होने पर भी वह जानता है कि कल्पित त्रिगुणों से रचित देह इन्द्रियादि उन गुणों से ही उत्पन्न हुए मिथ्या विषयों में आसक्त होकर कार्य कर रहे हैं। अतः उदासीन के समान वह प्रकृति की लीला केवल साक्षीरूप से देखता हुआ उन कार्यों को अपने कर्म नहीं मानता है। अतः उसके देह, इन्द्रियादि काम करते हुए भी, उसकी ज्ञानदृष्टि से वह अकर्ता ही रह जाता है। जो अज्ञानी पुरुष देहादि जो अपना मानता है, वही अज्ञान की दृष्टि से देखता है कि ज्ञानी काम कर रहा है। अतः ज्ञान केवल संचित एवं क्रियमान कर्म ही नष्ट करता है ऐसा नहीं परन्तु ज्ञानी की अपनी दृष्टि से प्रारब्ध कर्म भी ज्ञान से नष्ट हो जाता है। इसके लिये ही भगवान् ने कहा—'ज्ञानाग्नि सभी कर्मों को ही दग्ध कर देता है' (गीता ४।३७)। फिर ज्ञानी की दृष्टि में शुभ और अशुभ बोध भी नहीं रह सकता है, क्योंकि जो अखण्ड, अद्वितीय सत्ता को सर्वत्र देखता है, उसके लिये शुभ और अशुभ बोध कैसे रह सकता है? चीनी से बनी हुई चोर की मूर्ति और साधु की मूर्ति, दोनों के ही कण-कण में चीनी ही है। इसलिये यदि देहादि से, ज्ञान के पश्चात्, शुभ या अशुभ कर्म सम्पन्न हों, तो भी ज्ञानी के ज्ञान की कोई हानि या वृद्धि नहीं होती है। इसलिये श्रुति कहती है—'न कर्मणा कनीयान् न वर्धते' (बृह० उ०)। अतः सारांश यह है कि तत्वज्ञान के द्वारा प्रकृति (देहादि) से पृथक् होने के पश्चात् देहादि से किए हुए या किए जाने वाले किसी भी कर्म से ब्रह्मज्ञानी लिप्त नहीं होता है, अतः संसार के बीजभूत कर्मफलों के अभाव से ब्रह्मज्ञानी पुनः जन्म नहीं होता।

[पूर्व श्लोक में कहा है कि प्रकृति और पुरुष के विवेक द्वारा 'त्वम् और तत्' पदार्थ के शोधन के पश्चात् क्षेत्रज्ञ जीवात्मा के साथ परमात्मा का एकत्व ज्ञान होने पर ही मोक्ष होता है अर्थात् पुनर्जन्म नहीं होता है। जीवात्मा—परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान ही आत्मदर्शन कहलाता है। इस आत्मदर्शन का उपाय (साधन) अधिकारी भेद से भिन्न-भिन्न होता है। उत्तम, मध्यम, मन्द, मन्दतर—इसप्रकार से बहु अधिकारी होने के कारण आत्मदर्शन के विषय में ये ध्यान आदि भिन्न-भिन्न साधन विकल्प से कहे जाते हैं—]

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

अन्वयः—केचित् ध्यानेन आत्मानम् आत्मना आत्मनि पश्यन्ति, अन्ये सांख्येन योगेन (आत्मानम् पश्यन्ति), अपरे च कर्मयोगेन (आत्मानम् पश्यन्ति ।

अनुवाद—कई (उत्तम) अधिकारी तो ध्यान से विशुद्ध हुए अन्तःकरण द्वारा अपनी बुद्धि में आतमा का साक्षात्कार करते हैं, दूसरे कई (मध्यम अधिकारी) सांख्ययोग से (ज्ञानयोग से) आतमा का साक्षात्कार करते हैं और कई दूसरे (मन्द अधिकारी) कर्मयोग द्वारा (चित्तशुद्धि प्राप्त कर) आतमा का साक्षात्कार करते हैं ।

भाष्यदीपिका—केचित्—कोई योगी पुरुष **ध्यानेन**—शब्दादि विषयों से श्रोत्रादि (कर्णादि) इन्द्रियों को हटाकर उनको मन में निरोध करके एवं मन को प्रत्येक चैतन्य स्वरूप आतमा में निरोध करके जो एकाग्र भाव से चिन्तन होता रहता है, उसका नाम ध्यान है, तथा 'ध्यायतीव बकः' 'ध्यायतीव पृथिवी, ध्यायन्तीव पर्वताः' (छा० उ० ७।६।१) अर्थात् जैसे बगुला ध्यान करता है, जैसे पृथिवी ध्यान करती है, जैसे पर्वत ध्यान करते हैं । इसप्रकार श्रुति की दी गयी उपमा से यह सूचित होता है कि किसी विषय का अवलम्बन कर तैलधारा के निरन्तर अविछिन्न भाव से जब प्रत्यय की (ज्ञान की) धारा चलती रहती है, तब उसको ध्यान कहा जाता है [यहाँ ध्यान शब्द का अर्थ निदिध्यासन है । वेदान्त वाक्यादि के श्रवण तथा मनन के फल रूप से जब विजातीय (आतमा से अतिरिक्त अन्य) चित्तवृत्ति से रहित सजातीय (आत्मनिष्ठ) प्रत्यय का अविच्छिन्न प्रवाह चलता है तब उसे ध्यान या निदिध्यासन कहा जाता है (मधुसूदन)]। इसप्रकार ध्यान से संस्कृत (शुद्ध हुए) **आत्मना**—अन्तःकरण द्वारा **आत्मनि**—बुद्धि में **आत्मानम्**—प्रत्यक् चेतन स्वरुप आतमा को **पश्यन्ति**—देखते हैं (साक्षात्कार करते हैं)। इस प्रकार उत्तम अधिकारी के लिये आतमदर्शन का उपाय कहा गया है । अब मध्यम अधिकारी का आतमज्ञान बताते हैं—**अन्ये**—दूसरे अन्य कई मध्यम अधिकारी **सांख्येन योगेन (आत्मानम् आत्मनि पश्यन्ति)**—सांख्ययोग द्वारा शुद्ध हुए अन्तःकरण में आतमा का साक्षात्कार करते हैं ।

सत्त्व, रज और तम, ये तीनों गुण तथा इन तीनों गुणों के परिणामस्वरूप जगत् प्रपञ्च मेरे दृश्य हैं अर्थात् मुझसे देखे जाने वाले हैं और मैं उनसे भिन्न उनके व्यापार का साक्षी, उन गुणों से विलक्षण और नित्य विभु, निर्विकार सत्य और सब प्रकार के जड़ वर्ग के सम्बन्ध से रहित, चैतन्य स्वरूप आत्मा हूँ, इस प्रकार के चिन्तन का नाम 'सांख्य' है तथा वही 'योग' अर्थात् परमात्मा के साथ युक्त करने का उपाय है। ऐसे सांख्ययोग के द्वारा आत्मा में आत्मा को देखते हैं अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार करते हैं। यह 'पश्यन्ति आत्मानम् आत्मनि' इन पदों की अनुवृत्ति कर व्याख्या करनी होगी। [तात्पर्य यह है कि सांख्य योग से अनात्म वस्तु से आत्मा के पृथक्त्व (भिन्नत्व) का ज्ञान उत्पन्न होने पर आत्मविषयक ध्यान की उत्पत्ति होती है। उस ध्यान के द्वारा आत्मा का आत्मा में (अपनी बुद्धि में) साक्षात्कार होता है]। अब मन्द अधिकारियों के ज्ञान का साधन बताते हैं—**अपरे च**—दूसरे जो मन्द अधिकारी हैं वे **कर्मयोगेन (आत्मनि आत्मानम् पश्यन्ति)**—कर्मयोग द्वारा शुद्ध किये हुए अन्तःकरण में आत्मा का दर्शन करते हैं। फल की कामना से रहित होकर ईश्वर अर्पण बुद्धि से जो शास्त्रविहित कर्म की चेष्टा की जाती है उसका नाम कर्म है। वही योग अर्थात् भगवान् में चित्त के योग (एकाग्रता) का साधन होने के कारण गौणरूप से योग कहा जाता है। जो कर्म है, वही योग है, इसप्रकार से कर्मयोग शब्द निष्पन्न हुआ है अर्थात् मोक्ष के साधनभूत चित्त की एकाग्रता का संपादन जिस कर्म से होता है वह कर्मयोग कहलाता है। कर्मयोग से चित्तशुद्धि होती है, चित्तशुद्धि से जिज्ञासा (मुमुक्षुत्व) उत्पन्न होती है एवं जिज्ञासा उत्पन्न होने के पश्चात् वेदान्त वाक्यादि का श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर आत्मा का साक्षात्कार होता है, यही कर्मयोग से आत्मदर्शन का क्रम है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—इसप्रकार प्रकृति से (क्षेत्र से) क्षेत्रज्ञ को विवेक (पृथक्) कर जो आत्मज्ञान होता है, उसके वैकल्पिक साधनों को (भिन्न-भिन्न अधिकारी के अनुसार पृथक्-पृथक् साधनों को) 'ध्यानेन' आदि दो श्लोकों द्वारा बताते हैं। **केचित् ध्यानेन**—कितने ही मुमुक्षु तो आत्माकारा वृत्ति की पुनः पुनः आवृत्ति करके रूप ध्यान के द्वारा **आत्मनि**—देह में **आत्मना**—मन से (शुद्ध हुए

अन्तःकरण से) **आत्मानम्**—आत्मत्व को **पश्यन्ति**—देखते हैं। **अन्ये तु सांख्येन योगेन**—दूसरे प्रकृति से पुरुष की विलक्षणता (पृथक्त्व) की आलोचनारूप सांख्य के द्वारा आत्मा को देह में (बुद्धि में) देखते हैं। **अन्ये योगेन**—दूसरे अष्टाँग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) से आत्मा को बुद्धि में देखते हैं। **अपरे कर्मयोगेन च**—फिर अन्य कितने ही साधक कर्मयोग के द्वारा आत्मा को देखते हैं। इसप्रकार 'पश्यन्ति' पद का सबके साथ सम्बन्ध है। ध्यान आदि का यथायोग्य क्रम तथा समुच्चय (एकसाथ अनुष्ठान) होने पर भी अधिकारी भेद से उन साधनों में निष्ठा के भेद के कारण विकल्प बताया गया है।

(२) **शंकरानन्द**—इसप्रकार जो ज्ञेय है, उसको तुमसे कहूँगा (गीता १३।१२) इत्यादि से निरूपित ब्रह्म के स्वरूप को जानकर और प्रकृति का पूर्ण रूप से लय कर 'यह सब और मैं ब्रह्म ही हूँ' इसप्रकार सबको ब्रह्म ही देखने वाले यति के, उस विज्ञान के फलरूप से जो विदेह-कैवल्य प्राप्त होता है, उसका प्रतिपादन करके, और जिससे उत्तम, मध्यम, अधम, अधिकारी मुमुक्षु भी निर्विशेष ब्रह्म को प्राप्त हो सके, इस उद्देश्य से उनके अधिकार के अनुसार साधन बतलाते हैं। **केचित्**—कोई उत्तम अधिकारी यति 'एकान्त देश में सुखासन से स्थित शुची तथा ग्रीवा स्थिर और शरीर से सम होकर' इत्यादि से 'एकान्त में सुख से बैठे और ब्रह्म में चित्त समाहित करे', इसप्रकार योग-शास्त्र में कही गयी रीति से, तीव्र मोक्ष की इच्छा और वैराग्य से सब विषयों से, इन्द्रियों का उपसंहार (निवृत्त) कर, मन की प्रत्यक् आत्मा में एकाग्रता सम्पादन करके ध्यान से अर्थात् श्रवणादि संस्कार से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उससे प्राप्त होने वाले तथा विजातीय प्रत्यय रहित (आत्मा से भिन्न अन्यविषयक वृत्ति से रहित) एवं सजातीय प्रत्यय प्रवाही करण रूप (आत्मा में तैलधारावत् निर्विच्छिन्न चित्तवृत्ति के प्रवाहरूप) ध्यान के द्वारा **आत्मनिः**—बुद्धि में **आत्मानम्**—सब दृश्य के प्रकाशक रूप स्थित निर्विशेष, निराकार, आकाश के समान पूर्ण, चिदेकरस आत्मा (परमात्मा) को **आत्मना**—आत्मा से अर्थात् अपने स्वरूप से (अपने आत्मा से अभिन्न रूप से) **पश्यन्ति**—देखते हैं अर्थात् भेदवासनादि की निवृत्ति के लिये किये हुए श्रवण, मनन, निदिध्यासन से जो ब्रह्म ज्ञात होता है (जो चैतन्य

स्वरूप का साक्षात्कार होता है), 'वह मैं ही हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ', इसप्रकार आत्मा ब्रह्म ही है, ऐसा सर्वदा चिन्तन करते हैं। यही 'पश्यन्ति' शब्द का तात्पर्य है। अथवा 'सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' अर्थात् हे सौम्य ! इन सब प्रजाओं के आयतन (आश्रय) सत् ब्रह्म ही है, तथा प्रतिष्ठा (अधिष्ठान) भी सद् ब्रह्म है, इस प्रकार श्रुति वाक्य से माया के सब कार्य का आश्रय सद्ब्रह्म ही है, ऐसा सुनने में आता है। अतः भ्रान्ति से कल्पित अव्यक्त (मूल प्रकृति) से लेकर स्थूल तक सबके अधिष्ठान रूप परमात्मा में प्रातिलोम्य से (अर्थात् जिस क्रम से सृष्टि हुई है उसके विपरीत क्रम से) पूर्णतया विशेष रूप से लय करके सर्व प्रकार विशेष भाव से रहित (सर्व प्रपञ्चरहित), सद्घन, आनन्दघन **आत्मानम्**—परमात्मा, (परम् ब्रह्म) को **ध्यानेन**—ध्यान से, अर्थात् ब्रह्माकारा वृत्ति से (अर्थात् तैल की धारा के समान अविच्छिन्न, दूसरी वृत्ति से रहित चित्तवृत्ति से, 'ब्रह्म ही मैं हूँ' इस प्रकार **आत्मना**—अपने आत्मा के रूप से **पश्यन्ति**—देखते हैं। अर्थात् अपने को ही सर्वदा ब्रह्म रूप से भावना करते हैं। **अन्ये**—दूसरे मध्यम अधिकारी (जो पूर्वोक्त ध्यान योग का अनुष्ठान करने में असमर्थ हैं, ऐसे यति) **सांख्येन**—(सांख्य योग से)। बुद्धि की सब परिणामशील अवस्था में 'मैं नित्य कूटस्थ, असंग और चिद्रूपी हूँ, न कभी चलता हूँ, न करता हूँ, न भोगता हूँ,' इस प्रकार अपने केवल चैतन्याकार को ही प्रत्यग् वृत्ति से सर्वदा प्रकृति, उसके गुण, उसके विकार, उसके धर्म, उसके कर्म, उसकी अवस्था के सम्बन्ध से रहित देखना ही सांख्य है। संसार से मुक्ति प्राप्ति का उपाय होने के कारण सांख्य ही योग है। इस प्रकार सांख्य योग से **आत्मनि**—बुद्धि में **आत्मानम् पश्यन्ति**—अपने को अकर्ता, अभोक्ता, निष्क्रिय ही सर्वदा भावना (चिन्तन) करते हैं। **अपरे च**—दूसरे लोग अर्थात् जो सद्-असद् विवेक, वैराग्य और संन्यास से ही प्राप्त होने वाले ध्यान योग तथा सांख्य योग में अनधिकारी हैं, इस प्रकार गृहस्थ भी **कर्मयोगेन**—'मत्कर्मकृत् मत्परमः' (गीता ११।५५)। इस वाक्य में जिस प्रकार कहा गया है उसी रीति से परमेश्वर के लिये निष्काम भाव से किये गये सब कर्मों के अनुष्ठान को कर्मयोग कहते हैं। मोक्ष का उपाय होने के कारण कर्म ही योग है। कर्मयोग से चित्तशुद्धि का सम्पादन होता है। अतः गृहस्थ कर्मयोग से भगवान् की आराधना करके; **आत्मानम्**

आत्मनि पश्यन्ति—विश्वरूप परमात्मा को आत्मा (बुद्धि) में देखते हैं अर्थात् 'वासुदेव ही सब है' इस बुद्धि से सबको विष्णुरूप से भावना करते हैं। अथवा परमेश्वर अर्पण बुद्धि से श्रद्धा भक्ति पूर्वक अनुष्ठित कर्मयोग से चित्तशुद्धि को प्राप्त कर, उससे सम्पादित श्रवण, मनन, निदिध्यासन से उत्पन्न हुए ज्ञान द्वारा आत्मा (बुद्धि) में आत्मा को (ज्ञान स्वरूप परमब्रह्म को) अपने आत्मा के रूप से क्रमशः देखते हैं (साक्षात्कार करते हैं)।

(३) **नारायणी टीका**—इस श्लोक के तात्पर्य के लिये २५ वें श्लोक की नारायणी टीका द्रष्टव्य।

[अब मन्दतर अधिकारियों को मोक्षमार्ग में प्रवृत्त कराने के लिये कृपा कर उनके आत्मदर्शन का उपाय बताते हैं—]

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

अन्वय—अन्ये तु एवम् अजानन्तः अन्येभ्यः श्रुत्वा उपासते; श्रुतिपरायणाः ते अपि च मृत्युं अतितरन्ति एव।

अनुवाद—दूसरे मन्दतर अधिकारी [जो ध्यान, सांख्ययोग एवं 'कर्मयोग का अनुष्ठान करने में असमर्थ हैं', वे] दूसरे से सुनकर ही उपासना करते हैं, वे श्रवण-परायण होकर भी मृत्युरूप संसार को पार कर ही लेते हैं।

भाष्यदीपिका—**अन्ये तु**—दूसरे (मन्दतर अधिकारी) भी। यहाँ 'तु' शब्द, इसके पहले बताये हुये तीन प्रकार के अधिकारियों (उत्तम, मध्यम, मन्द) से विलक्षणता सूचित करने के लिये है। **एवम् अजानन्तः**—उपर्युक्त विकल्प (ध्यानयोग) सांख्ययोग एवं कर्मयोग) में से, किसी एक के भी द्वारा पूर्वोक्त आत्मतत्त्व को न जानते हुए **अन्येभ्यः श्रुत्वा**—दूसरे से (करुणामय आचार्य से) सुनकर अर्थात् 'तुम इसीका चिन्तन किया करो' इस प्रकार गुरु की आज्ञा पाकर **उपासते**—श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं अर्थात् चिन्तन करते हैं। **श्रुतिपरायणाः ते अपि च**—स्वयं विचार करने में असमर्थ होने पर भी, श्रद्धालु होने के कारण केवल गुरु के उपदेश

श्रवण में तत्पर रहने वाले वे जिनके मत में श्रवण करना ही मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति के लिये परम आश्रय (परम साधन है) इस प्रकार के पुरुषों को 'श्रुति-परायण' कहा जाता है। ऐसा केवल अन्य (आचार्य) के उपदेश को ही प्रमाण मानने वाला श्रुति-परायण पुरुष स्वयं विवेकहीन होते हुए भी **ते अपि च मृत्युं अतितरन्ति एव**— वे भी मृत्यु को अर्थात् मृत्यु युक्त संसार को (संसार के जन्म मृत्यु रूप चक्र को) निःसंदेह अतिक्रम (पार) कर जाते हैं। 'ते अपि' यहाँ 'अपि' शब्द का अभिप्राय यह है कि जो प्रमाण कहने में स्वतन्त्र हैं, वे विवेकी पुरुष मृत्यु को पार कर लेते हैं; इसमें तो कहना ही क्या है ?

—टिप्पणी—(१) श्रीधर—अतिमंद अधिकारी के अब उद्धार का उपाय बताते हैं। **अन्ये तु एवम् अजानन्तः**—अन्य जो लोग सांख्य योगादि साधनों द्वारा इस प्रकार उपद्रष्टृत्व आदि लक्षण विशिष्ट आत्मा का साक्षात्कार करना नही जानते हैं अर्थात् जानने में असमर्थ हैं वे **अन्येभ्यः श्रुत्वा उपासते**—अन्य (आचार्यों) के उपदेश द्वारा आत्मा का तत्त्व सुनकर उपासना (ध्यान) करते हैं। **श्रुतिपरायणाः ते अपि च मृत्युं अतिरन्ति एव**—वे भी श्रद्धापूर्वक उपदेश सुनने में परायण होकर मृत्युरूप संसार को क्रम से अतिक्रम (पार) कर जाते हैं।

(२) **शंकरानन्द**—इस प्रकार ध्यान और सांख्य योग दोनों में अधिकारी यति को तथा कर्मयोग में अधिकारी ब्राह्मण आदि गृहस्थ को यथा—अधिकार मोक्ष के साधन का उपदेश करके परम दयालु श्री भगवान् कर्मयोग में भी जो लोग अनधिकारी हैं उनकी मुक्ति का साधन कहते हैं। **अन्ये तु एवम् अजानन्तः**—कर्म में अधिकारी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि से अन्य यथा पामर, स्त्री, शूद्र आदि जिनका वैदिक कर्म में अधिकार नहीं है, उनमें से किसी भी अर्थात् पूर्व श्लोक में उक्त साधनों में से एक भी साधन को न जानने वाला अर्थात् शास्त्र के अध्ययन तथा उसके अर्थ के ज्ञान की योग्यता के अभाव से उक्त साधनों में से एक साधन को भी यथाविधि जानने और करने में असमर्थ होने के कारण **अन्येभ्यः**—अन्य ब्राह्मण आदि गुरु से 'तुम यह, इस प्रकार करो, इसका इस प्रकार अनुसंधान करो' **श्रुत्वाः**–ऐसा सुनकर **श्रुतिपरायणाः सन्तः उपासते**—श्रद्धा और भक्तिपूर्वक श्रुति परायण होकर उपासना करते हैं अर्थात्

सुने हुए अर्थ का पूर्ण रूप से अनुष्ठान करते हैं [जो सुनी जाती है उसको अर्थात् सुने हुए अर्थ को श्रुति कहते हैं, उसके परायण अर्थात् केवल उसी पर चलने वाले श्रुति-परायण हैं]। **ते अपि मृत्युम् अतितरन्ति एव**—इस प्रकार जो दूसरे के उपदेश के अनुवर्ती होते हैं, वे भी ईश्वर का प्रसाद (कृपा), चित्तशुद्धि, उसके फल की सिद्धि (तत्त्व ज्ञान प्राप्ति आदि) द्वारा क्रम से मृत्यु रूप दुःखप्रधान संसार से पार हो जाते हैं अर्थात् क्रम से मुक्ति को प्राप्त होते हैं। [कहने का तात्पर्य यह है कि श्रद्धा और भक्तिपूर्वक श्रुति-परायण होकर, गुरु के उपदेश के अनुसार उपासना करने पर चित्तशुद्धि होती है, चित्तशुद्धि होने पर वेदान्त वाक्यों के श्रवण आदि में अधिकार होता है। उसके पश्चात् श्रवण, मनन, निदिध्यासन से तत्त्वज्ञान प्राप्ति (आत्मसाक्षात्कार) होती है एवं तत्त्वज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है। यही क्रम से पद का तात्पर्य है ?]।

(३) नारायणी टीका—तेईसवें श्लोक में कहा है कि जो उपद्रष्टृत्व आदि लक्षणविशिष्ट पुरुष को साक्षात् आत्मा के रूप से जानता है एवं अविद्या से उत्पन्न हुई प्रकृति तथा उसके गुणों को (विकारों को) मिथ्याभूत अर्थात् स्वप्न दृश्यवत् या मरीचिका के दृश्य के समान मिथ्याभूत है, ऐसा विवेक ज्ञान से जान लेता है, उसका फिर जन्म नहीं होता है। अब प्रश्न होगा कि जिस आत्मदर्शन द्वारा जन्म-मृत्यु के प्रवाह से मुक्ति होती है, उस आत्मदर्शन के क्या साधन हैं ? इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार (सामर्थ्य) के भेद रहने के कारण साधन भी पृथक्-पृथक् होता है। अधिकारी साधारणतः चार प्रकार के होते हैं।

(१) उत्तम साधक—इसके लिये अर्थात् जो इस जन्म या पूर्व जन्मों में शास्त्रविहित अपने-अपने कर्तव्य का अनुष्ठान कर चित्तशुद्धि प्राप्त होकर अर्थात् रज तथा तमो गुण को निरस्त कर चित्त को सात्त्विक गुण से विशेष रूप से सम्पन्न करने में समर्थ हुआ है, उसके लिये ध्यानयोग अनुकूल है क्योंकि वह शुद्ध चित्त होकर गुरुमुख से वेदान्त वाक्यादि का श्रवण तथा मनन कर यह निश्चय कर सकता है कि यह विश्व-प्रपञ्च माया से (कल्पना से) रचित होने के कारण इसमें से कोई वस्तु बुद्धिमान् व्यक्ति के लिये प्राप्तव्य नहीं हो सकती, अतः जो इस मिथ्याभूत प्रपञ्च की अधिष्ठान सत्ता है एवं जो निरपेक्ष (स्वतन्त्र), सर्व ज्ञान का आधार तथा सर्व भूतों की आत्मा

होने के कारण सबका प्रियतम (अतः आनन्द स्वरूप) है, उसमें स्थिति लाभ करने पर ही सुख, दुःख तथा मोहात्मक संसारगति से मुक्त होकर भूमा या अपने पूर्ण (अनन्त) यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार कर परमपुरुषार्थ सिद्ध कर सकता है। अतः जगत् का मिथ्यात्व तथा आत्मा का नित्यत्व, सत्यत्व व आनन्दत्व पूर्णरूप से निश्चय कर निदिध्यासन (ध्यानयोग) से तैलधारावत् अविच्छिन्न ब्रह्माकारा वृत्ति द्वारा आत्मा में निरन्तर स्थिति लाभ करने के लिये जो प्रयत्न होता है उसे ध्यान कहते हैं। इसप्रकार ध्यान के द्वारा ज्ञानी आत्मा में (बुद्धि में) आत्मा के द्वारा आत्मा का दर्शन करता है क्योंकि ध्यानयोगी का एकमात्र विषय आत्मा ही है—उसके निकट आत्मा से व्यतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सत्ता नहीं है।

(२) **मध्यम अधिकारी**–जिसे ध्यानयोग में अधिकार प्राप्त नहीं हुआ है, उस मध्यम अधिकारी के लिये सांख्य एवं योग अनुकूल होता है। सत्त्व, रज, तम, इन तीनों गुणों तथा इनसे रचित हुए सर्व पदार्थ मेरे दृश्य हैं एवं मैं इनसे विलक्षण द्रष्टामात्र हूँ, इस प्रकार के ज्ञान को अर्थात् प्रकृति से पुरुष को विचार द्वारा अलग कर अपने आत्मा को यथोक्त प्रकार से उपद्रष्टृत्व आदि लक्षण विशिष्ट समझ लेना सांख्य या ज्ञान है। और उस साक्षी रूप से स्थित होने के लिये जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि ये अष्टाँग प्रक्रियाएँ हैं, उन्हें 'योग' कहा जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जो विवेक ज्ञान से आत्मा के 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' इस प्रकार यथार्थ तत्त्व का निर्णय किया जाताहै उसको अर्थात् प्रकृति-पुरुष के विवेक ज्ञान को सांख्य कहते हैं एवं उस अवस्था में निष्ठा प्राप्त करने के लिये जो उपर्युक्त उपाय हैं वह 'योग' है। अतः सांख्य एवं योग द्वारा कोई-कोई मध्यम अधिकारी पुरुष समस्त जड़ प्रकृति से सम्बन्ध शून्य होकर आत्मा में (शुद्ध बुद्धि में) आत्मा द्वारा (योग से संस्कृत अन्तः करण द्वारा) आत्मा को (अपने साक्षीभूत, नित्य, सर्वव्यापी, निर्विकार आत्मा को) साक्षात् अनुभव कर जन्म मृत्यु के प्रवाह से मुक्त हो जाता है।

जो ध्यान का अधिकारी नहीं है तथा विचारशक्ति के अभाव के हेतु सांख्य में एवं मन के बल के अभाव से अष्टाँग योग का अधिकारी नहीं है, उस मन्द अधिकारी के लिये 'कर्मयोग' अनुकूल होता है। शास्त्र विहित उपाय से किये हुए सब कर्मों को कामना से

रहित होकर केवल ईश्वर की प्रीति के लिये ईश्वरार्पण बुद्धि से जो कर्म किया जाता है उसे कर्मयोग कहा जाता है। वह कर्म स्वयं ही योग होने के कारण अर्थात् भगवान् के साथ योग या एकत्व प्राप्त कराने में सहायक होने के कारण कर्मयोग कहलाता है। कर्मी और कर्मयोगी में पार्थक्य यह है कि साधारण कर्मी (केवल संस्कार से कर्म करने वाला पुरुष) अपने को कर्त्ता मानता है, अपने स्वार्थ के लिये ही कर्म करता है एवं कर्म की वासना द्वारा कर्म में प्रेरित होता है। किन्तु जो कर्मयोगी है वह जानता है कि चैतन्यस्वरूप भगवान् ही (जो सर्वभूतों को व्याप्त कर स्थित है वही) सब विश्व नाटक का प्रभु है एवं उसकी प्रेरणा से ही सब प्राणी कर्म में प्रवृत्त होते है, अतः कर्म फल का भोक्ता भी वही है। इस प्रकार विश्वास एवं श्रद्धा से सगुण ब्रह्म की कर्म द्वारा ही जो निरंतर उपासना होती है वही यथार्थ कर्मयोग है। इस प्रकार कर्मयोग से कर्तृत्व-अभिमान तथा कर्म फल की आसक्ति से रहित होने के कारण चित्त रज तथा तमोगुण से मुक्त होकर सत्त्व प्रधान होता है, यह ही चित्तशुद्धि है। शुद्ध चित्त में परमार्थ वस्तु के लिये जिज्ञासा उत्पन्न होती है, जिज्ञासा उत्पन्न होने पर गुरुमुख से वेदान्त वाक्यादि श्रवण करने का अधिकार होता है एवं श्रवण, मनन, निदिध्यासन से आत्मा के साक्षात्कार द्वारा परमानन्दरूप मोक्ष को प्राप्त होता है।

एक अखण्ड, अद्वितीय, निर्विकार, निर्गुण, सच्चिदानन्द ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है, ऐसा जिसको निस्संशय निश्चय होता है उसके लिये ध्यान ही आत्म दर्शन का एकमात्र प्रकृष्ट उपाय है क्योंकि प्रकृति (माया) का तथा उसके कार्य का पूर्णतया मिथ्यात्व निश्चय होने के कारण उसके चित्त में विक्षेप उत्पन्न करने वाली कोई दूसरी वृत्ति नहीं रहती है। अतः ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या एवं जीव और ब्रह्म एक है, इस प्रकार निश्चित बुद्धि जिनकी होती है, वही ध्याननिष्ठ होकर निर्विकल्प समाधि से आत्मा का साक्षात् अनुभव कर अवशिष्ट जीवन में निरन्तर ब्रह्मस्थिति तथा देह के पश्चात् विदेह कैवल्य प्राप्त करने में समर्थ होता है। [इस प्रकार ज्ञानी का ध्यान किस प्रकार का होता है इसको भगवान् ने छठवें अध्याय के चौवीसवें पचीसवें श्लोक में कहा है] जिसकी माया में (प्रकृति में) तथा प्रकृति के कार्य में सत्यत्व बुद्धि है, परन्तु साथ-साथ विचार द्वारा क्षेत्र से साक्षी, चैतन्यस्वरूप, क्षेत्रज्ञ आत्मा पृथक् है, यह जान

सकता है, उसके लिये आत्मसाक्षात्कार करने में सांख्य तथा योग के साधन अनुकूल हैं। और फिर जिसकी बुद्धि वेदान्त सिद्धान्त के अनुसार तत्वज्ञान को धारण नहीं कर सकती और न तो चित्त शुद्धि के अभाव के कारण विचार द्वारा क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ का विवेक करने में समर्थ है परन्तु जिसमें श्रद्धा, विश्वास एवं आस्तिक्य बुद्धि प्रबल है उसके लिये सगुण उपासना का उत्कृष्ट उपाय जो कर्मयोग है उसका अनुष्ठान कर क्रम से चित्तशुद्धि तथा तत्वज्ञान लाभ कर मुक्त होना सम्भव है, यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है।

२५ वाँ श्लोक—जो ध्यान के, सांख्ययोग में एवं कर्मयोग के अधिकारी नहीं है उस 'मन्दतर' अधिकारी के लिये श्रद्धा एवं विश्वास से गुरु अथवा भक्तों के मुख से भगवान् के (सगुण ब्रह्म के) यथार्थ स्वरूप तथा लीला कहानी तब तक श्रवण करना कर्तव्य होता है जब तक कि मोक्ष के लिये संवेग तथा मोक्ष के साधनों में प्रवृत्ति न हो। इसलिये इस प्रकार श्रवण का फल क्या होता है ? उसका वर्णन करते हुए भगवान् ने कहा कि जो आत्मारूपी भगवान् का यथार्थ स्वरूप नहीं जानते हैं वे दूसरों से उस तत्त्व के विषय में सुनकर चित्त-वृत्ति को तदाकार में आकारित कर अर्थात् भगवन्मय कर उपासना करते हैं। अतः विवेक विचार से रहित होकर भी जो श्रद्धा से भगवत् कथा तथा गुरु के उपदेश के श्रवणमात्र में परायण (निष्ठावान्) होते हैं, वे भी मृत्युयुक्त संसार का अतिक्रमण करते हैं (अर्थात् पार हो जाते है)। कहने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार सुनते हुए शनैः शनैः जगत् के असारत्व तथा आत्मा की सत्यत्व बुद्धि में आरूढ़ होते रहते हैं एवं इसलिये असार जगत् की वस्तु के लिये क्रमशः अनासक्ति तथा नित्य सत्य आत्मा के लिये विशेष रति होती है। इसके फल स्वरूप शास्त्र विहित साधनों में भी प्रवृत्ति होती है। पहले ये लोग गुरु के उपदेश के अनुसार कर्मयोग का अनुष्ठान करते हैं एवं उसके पश्चात् चित्तशुद्धि प्राप्त कर प्रकृति से उत्पन्न हुए जगत् प्रपञ्च से (क्षेत्र से) क्षेत्रज्ञ आत्मा को पृथक् करने में समर्थ होते हैं, अर्थात् सांख्य तथा योग के अधिकारी होते हैं, तत्पश्चात् निर्विकल्प समाधि से आत्मा का साक्षात्कार होने पर ध्याननिष्ठ (आत्मसंस्थ गीता ६।२५) होकर जीवनमुक्ति की अवस्था प्राप्त करते हैं, अतः क्रमशः इस जन्म में

ही मृत्यु रूप संसार सागर को पार कर जाते हैं। दो श्लोकों में कही हुई साधनाओं का यही क्रम है।

क्षेत्रज्ञ और ईश्वर का अभेद (एकत्व) ज्ञान मोक्ष का साधन है यह बात 'यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते' (गीता १३।१२), इस वाक्य से कही गयी है। परन्तु वह ज्ञान किस कारण से मोक्ष का साधन है ? इसके उत्तर में, उस कारण को दिखाने के लिये यह श्लोक आरम्भ किया जाता है।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

अन्वय—हे भरतर्षभ यावत् किंचित् स्थावरजङ्गमम् सत्त्वं संजायते तत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् विद्धि ।

अनुवाद—हे भरतकुलश्रेष्ठ अर्जुन ! जगत् में स्थावर जङ्गम जो कुछ भी सत्त्व (अर्थात् वस्तु) उत्पन्न होती है, उन सब को तुम क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न हुआ जानो।

भाष्यदीपिका—हे भरतर्षभ—हे भरतकुल ऋषभ (श्रेष्ठ) अर्जुन ! **यावत् किंचित् स्थावरजङ्गमम् संजायते तत्**—जो कुछ भी वस्तु [जो कुछ स्थावर (अचर नहीं चलने वाली) तथा जङ्गम (चर—चलने वाली) वस्तु] उत्पन्न होती है वह सब, **क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद्विद्धि**—वह सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न होती हैं इस प्रकार तुम जानो [कहने का अभिप्राय यह है कि अविद्या और उसका कार्य रूप जो जड़ (सत्-असत् रूप व्यक्त अव्यक्त रूप) दृश्य समूह है, वह क्षेत्र है उससे भिन्न उसका प्रकाशक जो स्वयंप्रकाश परमार्थ-स्वरूप, असंग, उदासीन, निर्धर्मक अद्वितीय, ब्रह्मसत्ता है वह क्षेत्रज्ञ है। उसका संयोग तभी होता है जब अविद्या के कारण एक दूसरे के अविवेक से मिथ्या तादात्म्य-अध्यास होने पर सत्य और मिथ्या की मिलावट होती है अर्थात् जड़ क्षेत्र के धर्म स्वयं प्रकाश नित्य सत्य क्षेत्रज्ञ में आरोपित होते हैं एवं क्षेत्रज्ञ के चेतन क्षेत्र में आरोपित होते हैं। इस प्रकार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही सारा विश्व प्रपञ्च उत्पन्न होता है, ऐसा तुम

जानो। स्वरूप की अज्ञानता के कारण ही संसार प्रतीत होता है अतः स्वरूप का ज्ञान होने पर संसार रूप मिथ्या प्रपञ्च स्वप्नों के समान नष्ट हो जाता है। (मधुसूदन]।

पूर्वपक्ष—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग के सम्बन्ध में जो जैसा कहा गया है उसका क्या अभिप्राय है? क्षेत्रज्ञ तो आकाश के समान अवयव रहित है। इसलिये रस्सी से घट को बाँधने पर जैसे रस्सी के अवयव के साथ घड़े के अवयव का संयोग होता है, उसी प्रकार निरवयव क्षेत्रज्ञ के साथ सावयव क्षेत्र का सम्बन्ध रूप संयोग नहीं हो सकता है। उसी प्रकार परस्पर एक दूसरे का कार्य-कारण भाव न रहने के कारण सूत और कपड़े की भाँति क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का समवाय सम्बन्धरूप संयोग भी नहीं हो सकता।

उत्तरपक्ष—इसका उत्तर कहा जाता है, सुनो! क्षेत्रज्ञ स्वयं विषयी अर्थात् ज्ञानस्वरूप साक्षी एवं क्षेत्र उस ज्ञान का विषय है। अतः परस्पर का स्वभाव सम्पूर्णतः भिन्न (विलक्षण) है। इसलिये इनका परस्पर कोई वास्तविक संयोग न होते हुए भी उनका अन्य में अन्य के धर्म का अध्यास रूप संयोग है अर्थात् क्षेत्र का धर्म क्षेत्रज्ञ में आरोपित होता है एवं क्षेत्रज्ञ का धर्म क्षेत्र में आरोपित होता है। इसप्रकार के आरोप को अध्यास कहा जाता है। जैसे रज्जु और सीप आदि में जिस प्रकार स्वरूप सम्बन्धी ज्ञान के अभाव से अध्यारोपित सर्प और चाँदी आदि का भ्रान्ति जनित संयोग होता है उसी प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के वास्तविक स्वरूप को न जानने के कारण एक का धर्म दूसरे में आरोपित होकर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अध्यास रूप संयोग होता है। इसप्रकार संयोग मिथ्या ज्ञान ही है अर्थात् अविवेक से उत्पन्न हुई भ्रान्तिमात्र है। जो पुरुष शास्त्रोक्त रीति से क्षेत्रज्ञ के लक्षण और भेद को जानकर पहले जिसका स्वरूप बतलाया गया है, (गीता १३।५–६) उस क्षेत्र से, मूंज में से जिस प्रकार ईशीका (सींक) पृथक् किया जाता है, उसी प्रकार पूर्वोक्त लक्षण से युक्त क्षेत्रज्ञ को (गीता १३।१२-१७) पृथक् (अलग) करके देखता है अर्थात् उस ज्ञेय स्वरूप क्षेत्रज्ञ को 'न सत् न असत् उच्यते' इस वाक्य के अनुसार समस्त उपाधि विशेष से वर्जित ब्रह्म स्वरूप से देख लेता है तथा जो क्षेत्र को माया से रचे हुए हाथी, स्वप्न में देखे हुए गन्धर्व नगर आदि के समान देखता है अर्थात् यह वास्तव में न होते हुए भी सत्य वस्तु के समान प्रतीत होता है इसप्रकार निश्चय पूर्वक जो जान लेता है, उसका मिथ्या ज्ञान नष्ट हो

जाता है क्योंकि सम्यक् दर्शन (यथार्थ ज्ञान) के साथ मिथ्या ज्ञान का विरोध है। अतः पुनर्जन्म के कारण रूप मिथ्या ज्ञान का नाश हो जाने पर 'य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह' (गीता १३।२३) इस श्लोक में जो कहा गया कि विद्वान् का पुनः जन्म नहीं होता है, वह युक्ति-युक्त ही है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—चौबीसवें एवं पचीसवें श्लोक में आत्मज्ञान के जो साधन बताये गये हैं, उनमें कर्मयोग का विस्तार तीसरे, चौथे और पाँचवें अध्याय में किया गया तथा ध्यान आदि का विषय भी (वही शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा है) जिसको सांख्य ज्ञान) ही प्रकृति से अलग कर जाना जाता है। इसलिये अध्याय की समाप्ति तक केवल सांख्य का ही विस्तार करते हुए कहते हैं।

हे भरत श्रेष्ठ **यावत् संजायते इत्यादि**—जो कुछ भी वस्तु मात्र (स्थावर जङ्गम अर्थात् चराचर वस्तु समूह) उत्पन्न होता है और क्षेत्रज्ञ के संयोग से अर्थात् शरीर में (क्षेत्र में) क्षेत्रज्ञ आत्मा के अविवेक जनित अध्यास से (अर्थात् शरीर इन्द्रियादि 'मैं' हूँ इस प्रकार अभिमान से होता है ऐसा तुम जानो (समझो)।

(२) शकरानन्द—'एतद्योनीनि भूतानि' इत्यादि से जो कहा था कि जीवों का संसार प्राप्ति में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ रूप दो प्रकृतियों का सम्बन्ध (संयोग) ही कारण है, अब केवल मोक्ष की ही कामना जो करते हैं ऐसे पंडितों का दोनों प्रकृतियों के सम्बन्ध को प्रयत्न पूर्वक परिहार करना कर्तव्य है, ऐसा सूचित करने के लिये कहते हैं **स्थावरजङ्गमम् यावत किंचित् सत्त्वं संजायते**—स्थावर जङ्गम रूप जितने परिमाण वाले जो जो सत्त्व (प्राणी) त्रिलोक में उत्पन्न होते हैं। **तत् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसंयोगात् विद्धि**—वे सब क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से (सम्बन्ध से) ही उत्पन्न होते हैं **यत्किंचित्**—('जो कुछ') इस पद से सामान्य रूप से सब वस्तुओं को ग्रहण किया गया है अर्थात् देव मनुष्यादि सभी के जन्म का समान रूप से क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ का संयोग ही कारण है, यह सूचित करने के लिये है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों का (प्रकृति अर्थात् अपरा प्रकृति और पुरुष यानी पराप्रकृति इन दोनों का) सम्बन्ध होने पर ही प्राणीमात्र की उत्पत्ति (अर्थात् जननादिरूप अनन्त दुःखों का भोग) हो सकती है, अन्यथा नहीं। ऐसा हें **भरतर्षभ**—(भरतकुल श्रेष्ठ अर्जुन) तुम जानो (समझो)।

प्रकृति और पुरुष दोनों का सम्बन्ध होने पर ही जन्म आदि दुःख के हेतु अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष, अभिनिवेश, ये पंच क्लेश फैल जाते हैं और उनसे फिर जन्म के बीज कर्मसमूह फैलते हैं। यदि प्रकृति पुरुष का (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का) संबन्ध न हो, तो नहीं फैलते। इसलिये जो तत्त्वज्ञ यति मोक्ष के सुख की प्राप्ति के लिये इच्छा करते हैं, उनको सर्व प्रयत्न से इन दोनों का सम्बन्ध दूर करना चाहिये, यही कहने का अभिप्राय है। प्रश्न होगा—उस प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध किस प्रकार होता है, जिस सम्बन्ध के रहने पर जीव की संसार प्राप्ति होती है एवं जिसके नहीं रहने पर संसार का अभाव होता है ? इसके उत्तर में कहते हैं—प्रकृति और पुरुष के परस्पर अवयवों के जोड़ने के कारण से संयोग नहीं हो सकता है, क्योंकि चैतन्यस्वरूप पुरुष (क्षेत्रज्ञ) स्वरूपतः निरवयव है और प्रकृति या क्षेत्र सावयव है। अतः सावयव और निरवयव का सम्बन्ध हो नहीं सकता। श्रुति से भी पुरुष का (आत्मा का) निरवयवत्व सुनने में आता है, यथा—'निष्कलं निष्क्रियं ब्रह्म'। और यदि कहो कि निरवयव आकाश में भी विभुत्व सिद्ध करने के लिये 'सर्वमूर्तद्रव्य-संयोगित्वं पिभुत्वम्' (सर्व मूर्त द्रव्य के साथ संयोग रहना ही विभुत्व का लक्षण है) इस प्रकार युक्ति से आकाश का सभी मूर्त्त द्रव्य से संयोग होता है. ऐसा पंडित लोग अंगीकार किये ही हैं। तो इसके उत्तर में कहा जायगा कि इस प्रकार का सिद्धान्त युक्त नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर आकाश में सावयवत्व तथा वर्षा वायु, अग्नि आदि के संयोग से भीगना, सूखना और जलना आदि अनर्थ होगा ओर अनित्यत्व भी होगा। और यदि कहोकि—क्षेत्रज्ञ आत्मा सूक्ष्म होने से उसका स्थूल प्रकृति के साथ संयोग नहीं हो सकता, तो यह भी युक्त नहीं है क्योंकि जल आदि के सूक्ष्म अवयव से सूक्ष्म का संयोग होगा और तुमसे कहा गया अनर्थ भी होगा, इसलिये मूर्त्त द्रव्य के सहित अमूर्त (निरवयव) क्षेत्रज्ञ के जो संयोग की कल्पना की जाती है, वह भ्रम ही है। (क) निरवयव आकाश का समस्त मूर्त्त पदार्थ में व्यापक होना ही मूर्त्त पदार्थ के साथ संयोगत्व कहा जाता है, साक्षात् रूप से मूर्त पदार्थ के अवयव के साथ संयोग नहीं होता है क्योंकि आकाश निरवयव होने के कारण मूर्त्त पदार्थ के साथ अवयव का संयोग किसी प्रकार से सम्भव नहीं होता है। इसी प्रकार निरवयव क्षेत्रज्ञ का भी सावयव क्षेत्र से संयोग नहीं हो

सकता। (ख) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का समवाय सम्बन्ध भी नहीं हो सकता क्योंकि दोनों में अयुतसिद्धता का अभाव है। उक्त संयोग सम्बन्ध तथा समवाय सम्बन्ध के असम्भव होने से दूसरे सम्बन्ध भी नहीं हो सकते। तब कौन सा सम्बन्ध है? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—युष्मत् और अस्मत् पद (प्रत्यय) के अर्थ, विषय और विषयी परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले हैं अर्थात् मैं और तुम (द्रष्टा तथा दृश्य) परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले हैं। किन्तु जब दृश्य शरीरादि में द्रष्टा आत्मा का तादात्म्य अभिमान (मैं शरीर हूँ, इन्द्रियाँ हूँ, यह विषय मेरा है, इसप्रकार अभिमान) होता है, एवं दृश्य प्रकृति के धर्म का तब विपरीत ग्रहण होने के कारण, प्रकृति और पुरुष दोनों का एक दूसरे के धर्म का अध्यास रूप सम्बन्ध होता है। इस प्रकार आध्यासिक सम्बन्ध का कारण एकमात्र विवेक ज्ञान का अभाव ही है। सीप में जिसप्रकार रजतभ्रान्ति (चाँदी की भ्रान्ति) होती है, उसी प्रकार अनादि संस्कार से उत्पन्न हुए अज्ञान के कारण प्रकृति-पुरुष के स्वरूप के यथार्थ ज्ञान का अभाव ही इस प्रकार के संयोग का कारण है। अतः वह मिथ्या ज्ञानरूप ही है एवं वही पुरुष के संसार का कारण है। प्रकृति-पुरुष (क्षेत्र क्षेत्रज्ञ), इन दोनों के स्वरूप का विवेचन ही उस संयोग की तथा मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति का कारण है। इसलिये कहा जाता है कि घट और घट के द्रष्टा के समान क्षेत्र रूप (विषय) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष) रूपी विषयी, इन दोनों का स्वरूप, ज्ञेय ज्ञातृत्व, प्रकाश्यत्व प्रकाशकत्व; विकारत्व—अविकारत्व, अनित्यत्व नित्यत्व, अवयवत्व—निरवयवत्व, अनेकत्व एकत्व रूप से परस्पर विलक्षण है। 'यह शरीर क्षेत्र है, इसको जो जानता है वह क्षेत्रज्ञ है, 'वह सब गुणों की इन्द्रियों का आभास होकर भी, सब इन्द्रियों से वर्जित है'', 'ज्योतिः का भी वह ज्योतिः', 'तमसे पर', 'वह ज्ञान स्वरूप सबके हृदय में विशेष रूप से स्थित है,' इत्यादि गीता में इस अध्याय में जैसा कहा है, उसी रीति से 'क्षेत्रज्ञ क्षेत्र से भिन्न है, ज्ञाता होने से, घट के ज्ञाता के सामान' इत्यादि युक्तियों से विवेक करके (अर्थात् तिल और तंदुल जिस प्रकार अलग हैं, उसी प्रकार अलग करके) क्षेत्र से भिन्न क्षेत्रज्ञ रूप चिदेकरस को 'यह मैं हूँ' इस प्रकार अपने आत्मा के रूप से जानकर उसके पश्चात् 'वह न सत् है और न असत् है' (गीता १३।१२), इसप्रकार कही हुई रीति से प्रकृति का आत्मा में विलय करके, पुनः आहार आदि में, जिससे

आभास रूप प्रकृति का, उसके धर्म का एवं उसके कर्म का संग न हो, उसी प्रकार सदा आत्मनिष्ठा में स्थित ब्रह्मविद् यति के दुःख के कारण अविद्या, अस्मिता आदि क्लेश और उनके कार्य अर्थात् जन्म के बीजभूत कर्म फिर नहीं होते एवं उस यति की विदेह मुक्ति हस्तगत (अनायास प्राप्त) हो जाती है। अतः क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग जैसे न हो, वैसे, ब्रह्मविद् यति को ब्रह्मनिष्ठा से ही सदा स्थित रहना चाहिये। यह सूचित करने के लिये क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग ही ज्ञानी और अज्ञानी, सबके जन्मादि दुःख का कारण है, ऐसा जगद्गुरु भगवान् ने 'यावत् संजायते किंचित्' इत्यादि से कहा है। अतः मुमुक्षु के लिये सर्वदा जो एकमात्र सत् वस्तु आत्मा है, उस आत्मरूप से स्थित रहना ही कर्तव्य है, यह सिद्ध हुआ।

(३) नारायणी टीका—पूर्व श्लोक में कहा है कि जब तक क्षेत्रज्ञ आत्मा को क्षेत्र से विवेक (पृथक्) कर आत्मसाक्षात्कार न किया जाय तब तक मुक्ति नहीं होती है। अब प्रश्न होगा कि सातवें अध्याय के छठवें श्लोक में भगवान ने कहा कि क्षेत्र रूप अपरा प्रकृति एवं क्षेत्रज्ञ रूप परा प्रकृति, ये दोनों प्रकृति ही समस्त भूतों की उत्पत्ति का योनि (कारण) हैं अतः क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ का पृथक्करण कैसे सम्भव होगा ? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि—जो कुछ भी स्थावर जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है वह सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के (प्रकृति और पुरुष के) संयोग से ही उत्पन्न होती है, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग दो अवयव विशिष्ट वस्तु का जिसप्रकार सम्बन्ध होता है (जैसे रस्सी के साथ घट का सम्बन्ध होता है) ऐसा संयोग नहीं है, क्योंकि क्षेत्रज्ञ आत्मा निरवयव है एवं क्षेत्र (प्रकृति से उत्पन्न हुए भूतसमूह) अवयव विशिष्ट होता है। फिर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ में एक दूसरे का कार्य-कारण भाव न होने से सूत और कपड़ा के समान क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का समवाय-सम्बन्धरूप संयोग भी नहीं हो सकता। अतः क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में जो संयोग भगवान् ने बताया वह अवश्य ही आध्यात्मिक सम्बन्ध होगा, जिसप्रकार सिनेमा (चलच्चित्र) में जो दृश्य दिखाये जाते हैं उन दृश्यों के श्वेत वस्त्र खण्ड (White screen) के साथ जिसप्रकार अवयव-सम्बन्ध अथवा समवाय सम्बन्ध रूप संयोग न रहने पर भी एक का दूसरे के साथ औपचारिक (एक दूसरे में आरोपित होकर) संयोग दिखाई देता है। एक अखण्ड, अद्वितीय, निर्गुण, निष्क्रिय शुद्ध चैतन्य सर्वभूतात्मा

क्षेत्रज्ञ, परम पुरुष इत्यादि शब्दों से कहा जाता है)। उसमें एक स्वतःसिद्ध माया शक्ति (कल्पना शक्ति) है जिसको अपरा प्रकृति या क्षेत्र कहा जाता है। सिनेमा में सफेद पर्दे को आवरण कर जिस प्रकार रील के चित्रों को स्थिर पर्दे के ऊपर विक्षेप (Focus) कर आलोक के सम्पर्क से समस्त दृश्य दिखाये जाते हैं परन्तु दृश्यों की कोई वस्तु पर्दे को स्पर्श भी नहीं कर सकती किन्तु उस पर्दे के आश्रय के विना किसी चित्र को दिखाना भी संभव नहीं होता, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का संयोग भी उसी प्रकार ही है जड़ माया शक्ति (क्षेत्र) शुद्ध चैतन्यस्वरूप क्षेत्रज्ञ को आश्रय कर विश्वप्रपंच रूप दृश्यों की सृष्टि. स्थिति. प्रलय कर रही है। अतः जो कुछ नाम, रूप तथा क्रियाएँ दिखाई जाती हैं वे सब क्षेत्र का ही कार्य है परन्तु अविकारी अचल क्षेत्रज्ञ की चेतन सत्ता को अवलम्बन न कर जड़ प्रकृति की कुछ भी करने की शक्ति नहीं है। अतः दोनों परस्पर विरुद्ध होने के कारण वास्तविक संयोग नहीं होने पर भी, दोनों के संयोग से सब कुछ हो रहा है, ऐसा अज्ञान से प्रतीत होता है अर्थात् अज्ञान से क्षेत्र के कार्य जन्म, मरण, सुख, दुख इत्यादि सदा अविकारी, स्थिर क्षेत्रज्ञ में दिखाये जाते हैं एवं जड़ एवं सदा विकारशील क्षेत्र के कार्यों के क्षेत्रज्ञ के धर्म (चेतन स्थिरता इत्यादि) प्रतीत होते हैं एवं इस अज्ञान के कारण ही क्षेत्र के धर्म तथा कार्यों में क्षेत्रज्ञ तादात्म्य-अभिमान करता है अर्थात् मैं और मेरापन रखकर जीव बनकर जन्म मरण रूप संसार प्रवाह में भटकता रहता है। और जब अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा में स्थित होता है तब वह कैवल्य प्राप्त होता है। बन्धन और मोक्ष, दोनों ही भ्रान्तिमूलक है। क्षेत्र के साथ संयोग अर्थात् तादात्म्य अभिमान होने पर संसार रूप बन्धन होता है और क्षेत्र से अपना पृथकत्व जानकर वह जीव ब्रह्म स्वरूपता प्राप्त होकर मुक्त होता है। इसलिये ध्यानयोग, सांख्ययोग, कर्मयोग अथवा भगवत्कथा-श्रवण इत्यादि जो साधन पहले भगवानने बताये वे सभी भ्रान्ति के निवारण के लिये हैं अर्थात् क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग का नाश करने के लिये ही हैं। जिसप्रकार सिनेमा का सफेद पर्दा (Screen) सिनेमा का नाटक शान्त होने पर अपने आप ही प्रकाशित रहता है उसी प्रकार स्वयप्रकाश सच्चिदानन्दस्वरूप क्षेत्रज्ञ आत्मा भी क्षेत्र एवं क्षेत्र धर्म से पृथक् होने पर ही यथार्थ स्वरूप से अपने आप प्रकाशित होता है,

यही कहने का तात्पर्य है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अविवेक से ही जीव की संसार गति होती है। यह पूर्व श्लोक में कहा गया है। अब उस अविद्या के निवर्तक (नाश करने वाला) जो तत्वज्ञान है, उसका निरूपण करने के लिये 'य एवं वेत्ति पुरुषं' (गीता १३।२३), इस पहले कहे हुए वाक्य का अब विस्तार कर रहे हैं—(मधुसूदन)] पूर्ववर्त्ती २३ वें श्लोक में 'न स भूयोऽभिजायते' इस प्रकार कहकर, अविद्यादि संसार के बीजों की निवृत्ति द्वारा पुवर्जन्म का अभाव ही सम्यक् दर्शन का (आत्मस्वरूप के यथार्थ ज्ञान का) फल है, ऐसा कहा गया है। फिर यह भी बतलाया कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग का हेतु है अविद्या, एवं वही अविद्याजनित संयोग ही जन्म का कारण है। इसलिये वह अविद्या को निवृत्त करने वाला जो पूर्णज्ञान है, वह यद्यपि पहले कहा जा चुका है, तो भी दूसरे शब्दों से फिर उसके सम्बन्ध में कहा जा रहा है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

अन्वय—विनश्यत्सु सर्वेषु भूतेषु अविनश्यन्तम् समं तिष्ठन्तं परमेश्वरम् यः पश्यति सः पश्यति।

अनुवाद—(जन्मादि विकार से युक्त) तथा नष्ट होने वाले समस्त प्राणियों में जो अविनाशी (नष्ट न होने वाले) एवं समान रूप से स्थित सबके नियामक परमेश्वर को (दृश्य जड़ पदार्थ से पृथक् कर) देखता है अर्थात् उसके यथार्थ स्वरूप को साक्षात् अनुभव करता है, वही वास्तव में देखता है अर्थात् वही सम्यग्दर्शी है।

भाष्यदीपिका—विनश्यत्सु सर्वेषु भूतेषु—विनाशशील सर्वभूतों में (ब्रह्माआदि से लेकर स्थावर तक समस्त विनाशशील प्राणियों में) [स्थावर जङ्गम रूप समस्त प्राणी अनेक प्रकार के जन्मादि परिणाम वाले होने से गौण और प्रधान भाव की (निकृष्ट तथा उत्कृष्ट भाव की) प्राप्ति के कारण विषम होते हैं, अतः चंचल भी होते हैं। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ प्रति क्षण परिणाम प्राप्त होने वाले होते हैं। वे बिना परिणत हुए एक क्षण भी नहीं ठहर सकते, इसलिये वे परस्पर बाध्य-बाधक भाव को प्राप्त होते हैं। ऐसे होते हुए भी जो विनाश शील (दृष्ट-नष्ट स्वभाव) अर्थात् माया

जनित गन्धर्व नगर इत्यादि के समान जो देखते ही देखते नष्ट हो जाते हैं, वे विषम (परस्पर भिन्न-भिन्न) होते हैं, अतः चंचल है। (मधुसूदन)]। **अविनश्यन्तम् समं तिष्ठन्तं परमेश्वरम् यः पश्यति**—सर्व प्राणियों में, सम भाव से स्थित (व्याप्त) हुए अविनाशी परमेश्वर को अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अव्यक्त और जीवात्मा की अपेक्षा जो परम ईश्वर है, उस परमेश्वर को सर्वभूतों में समभाव से स्थित जो देखता है, यानी सर्व प्राणियों में सम (सर्वत्र एकरूप अर्थात् प्रत्येक शरीर में जन्मादि परिणाम से रहित होकर स्थित) एक ही परमात्मा को जो देखता है, [सम्पूर्ण जड़ वर्ग को सत्ता तथा स्फूर्ति (प्रकाश) देने वाला होने से वाध्य-बाधक शून्य सम्पूर्ण दोषों से अस्पृष्ट एवं अविनाशी [अर्थात् सम्पूर्ण दृष्ट,-नष्ट प्राय मायिक द्वैत प्रपंच का बाध होने पर भी बाधित (नष्ट) न होने वाला अतः जड़ प्रपंच से सब प्रकार से विलक्षण परमेश्वर को (आत्मा को) जो शास्त्रदृष्टि से विवेक पूर्वक देखता है (मधुसूदन) **स पश्यति**—वही वास्तव में देखता है अर्थात् वहीं समस्त भूतों से अत्यन्त विलक्षण, निर्विशेष, एक रूप में ही स्थित, अद्वितीय परमेश्वर को [जाग्रत ज्ञान से स्वप्न ज्ञान की बात करने वाले पुरुष के समान] यथार्थ रूप से देखता है।

यहाँ भूतों से परमेश्वर की अत्यन्त विलक्षणता दिखलाने के निमित्त भूतों के लिये 'विनाशशील' और परमेश्वर के लिये 'अविनाशी' विशेषण देते हैं। विकार छः प्रकार के हैं (उत्पत्ति शील वस्तु मात्र के ही छः प्रकार के विकार होते हैं), यथा जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते. नश्यति,। इसलिये 'अविनश्यन्तम्' इस पद के द्वारा अन्तिम विकार का (विनाश का) अभाव का अनुवाद करने से पहले होने वाले पाँचों भाव विकारों का कार्य के सहित प्रतिषेध (निषेध) किया गया है।

पूर्व पक्ष—कहने का अभिप्राय यह है कि सभी भाव विकारों का जन्म रूप भाव विकार मूल है। अन्य सब भाव विकार जन्म के पीछे होने वाले हैं एवं विनाश में समाप्त होते हैं। भाव का अभाव हो जाने के कारण विनाश के पश्चात् कोई भी भाव भाव-विकार नहीं रहता है क्योंकि धर्मी के रहते ही धर्म रहता है। अतः सर्वभाव-विकार से रहित परमात्मा अविनाशी है। यह सिद्ध होता है। 'समं तिष्ठंतम्' इस पद से यह सूचित किया गया है कि सब भूतों में परमेश्वर रूप आत्मा प्राणी समूह के

(भूतों के) अनन्त प्रकार परिवर्तन होते रहते हुए भी सर्वत्र एवं सकल अवस्था में एक ही रूप से (अखंड, अद्वय रूप से) है जन्मादि सब विकारों से रहित होकर स्थित है। अतः 'समं तिष्ठंतम्' पद का अभिप्राय यह ही है कि परमात्मा भूतसमूह से विलक्षण तथा निर्विशेष है (सर्व विकार से रहित ही है), परन्तु वह प्रत्येक भूत में एक अर्थात् कूटस्थ, नित्यस्थित, अचल, अद्वितीय एकमात्र सत्य वस्तु है, यह सिद्ध होता है। 'यः पश्यति स पश्यति' इस पर प्रश्न हो सकता है कि सभी लोग देखते हैं फिर 'वही देखता है' इस विशेषण से क्या प्रयोजन है ? यह बात ठीक है कि अन्य सभी देखते हैं, परन्तु विपरीत देखते है, इसीलिये उक्त प्रकार का विशेषण दिया गया है। जैसे कोई तिमिर रोग से दूषित हुई द्रष्टि वाला अनेक चन्द्रमाओं को देखता है, उसकी अपेक्षा एक चन्द्र को देखने वाले की यह विशेषता बतलायी जाती है कि वही ठीक देखता है। उसी प्रकार यहाँ भी जो आत्मा को उपर्युक्त प्रकार से अर्थात् विभागरहित (निर्विशेष, अविनाशी, एक) परमात्मा को सर्वत्र देखता है, उसी की पृथक् पृथक् अनेक आत्माओं को देखने वाले विपरीत दर्शियों की अपेक्षा यह विशेषता बतलायी जाती है कि 'सः एव पश्यति' (वही ठीक-ठीक देखता है)। कहने का अभिप्राय यह है कि दूसरे सब अनेक चन्द्रों को देखने वाले के समान विपरीत भाव से देखने वाले होने के कारण अर्थात् जगत् प्रपंच को सत्य तथा सब के अधिष्ठान स्वरूप परमात्मा का अभाव देखते हुए भी वास्तव में नहीं देखते हैं। [अज्ञानी पुरुष तो स्वप्न देखने वाले के समान भ्रान्तिवश विपरीत देखते हैं। अतः वह देखते हुये भी नहीं देखता है क्योंकि भ्रम तो अदर्शन रूप ही होता है। रज्जु को सर्प रूप से देखते हुये यह नहीं कहा जाता है कि 'रस्सी दिखती है' क्योंकि सर्प को देखना तो रस्सी को न देखना ही है। अतः अन्य संसर्ग शून्य, अविनाशी, शुद्ध आत्मा के दर्शन से उसके अदर्शन के कारण जो अविद्या थी, उस अविद्या की निवृत्ति (तत्त्वज्ञान से निवृत्ति) होने से अविद्या के कार्य संसार की भी निवृत्ति हो जाती है। तभी परमेश्वर का (आत्मा का) यथार्थ दर्शन कहा जाता है, (मधुसूदन)]।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—संसार की उत्पत्ति का कारण अविवेक है, यह कहकर, उसकी निवृत्ति के लिए एकमात्र साधन है–प्रकृति से अलग कर आत्मस्वरूप का

यथार्थ ज्ञान। अतः अब आत्मस्वरुपविषयक सम्यक् दर्शन का वर्णन करते हैं—**समं सर्वेषु भूतेषु इत्यादि**—'स्थावर जङ्गम' अर्थात चर एवं अचर रूप समस्त प्राणियों में निर्विशेष सत् [सत्तारूप से अर्थात् सर्व प्रकार भेद भाव रहित अखण्ड अद्वयरूप से जैसे सर्वत्र एवं सर्व अवस्था में सम हो ऐसे स्थित हुए] परमात्मा को जो देखता है अर्थात् सर्वभूतों का विनाश होते हुए भी जो परमात्मा को अविनाशी (विनष्ट न होता हुआ) देखता है, वही यथार्थ रूप से देखता है अर्थात् वही सम्यग्दर्शी है।

(२) **शंकरानन्द**—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवेचन यद्यपि पहले ही किया गया है तथापि उनके विवेक (पृथक्त्व बोध) को दृढ़ करने के लिये उन दोनों की जो स्वाभाविक विशेषता है, उससे विशेषित कर पुनः क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवेचन करते हुये श्रीभगवान् 'इस प्रकार विविक्त (पृथक्कृत) आत्मा को जो साक्षात् जानता है' वही यति जीवनमुक्त होता है, ऐसा सूचित करने के लिये कहते हैं—**सर्वेषु भूतेषु समं तिष्ठन्तम्**—('भवन्ति जनिलक्षणम् विकारं भजन्तीति भूतानि' अर्थात जो होते हैं अर्थात जो जन्मरूप विकार को प्राप्त होते हैं, वे भूत हैं अर्थात ब्रह्मा से लेकर स्थावर तक सम्पूर्ण प्राणियों को भूत कहा जाता है)। 'भूत' शब्द से यही सूचित किया है कि भूतों की ही उत्पत्ति होती है, आत्मा की नहीं। अतः नित्य आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती है और जिसकी उत्पत्ति होती है उसके अस्तित्व का अभाव (नाश) होता है। **सर्वेषु भूतेषु**—उन सब भूतों में अर्थात् नाम, रूप, जाति क्रिया और गुण विशेष से परस्पर विभक्त तथा विषम प्राणियों के शरीरों में **समम्**—अविभक्त, एकरूप, उत्कर्ष और अपकर्ष से रहित, समरस (निर्विशेष) [भूत समूह आत्मा में आरोपित हैं। उन भूतों में ही नाम, रूप, जाति, गुण आदि द्वारा विशेषभाव दिखाया जाता है—अधिष्ठानभूत आत्मा में विशेष नहीं है क्योंकि निरवयव और निर्गुण होने के कारण विशुद्ध आत्मा में उत्कर्ष तथा अपकर्ष नहीं हो सकता है। 'समं' शब्द से यह सूचित होता है कि आत्मा में वृद्धि और अपक्षयरूप भावविकार नहीं है।]

तिष्ठन्तम्—सर्वभूत क्षर है (गीता १५।१६) इस न्याय से क्षर स्वभाव वाले (प्रतिक्षण परिणाम वाले) भूतों में स्वयं परिणाम रहित होने के कारण परमेश्वररूप (आत्मा) सदा एक रूप से विद्यमान है, निरवयव होने से अक्षर है एवं बाल्यकाल से

लेकर मृत्यु तक तत्-तत् देह इन्द्रियादि के विपरीत होने पर 'मैं हूँ' इस प्रकार आत्म-सत्ता का बोध सदा ही एकरूप रहता है। अतः वह आत्मा सर्वदा एक रूप से (सम रूप से) ही स्थित है, यही कहने का अभिप्राय है। श्रुति भी कहती है-'अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्' अर्थात् (आत्मा) शरीरों में अशरीर और अस्थायियों में स्थायी है। **विनश्यत्सु अविनश्यन्तम्**—भूतों का ही परिणाम होता है आत्मा का नहीं अर्थात भूतों के ही उत्पत्ति आदि विकार होकर विनाश होता है किन्तु आत्मा उन सबको व्याप्त करके रहने पर भी स्वयं अविनाशी (विनाशरूप चरमविकार से रहित) अर्थात नित्य है। सुषुप्ति अवस्था में सर्व भूतों का प्रलय होने पर 'सुख में सोया' इस प्रकार सोया हुआ व्यक्ति जाग्रत होने पर कहता है एवं उस कथन से सब भूतों का लय होने पर भी आत्मा का सद्भाव (अस्तित्व) ज्ञात होता है। अतः आत्मा का नित्यत्व प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है। युक्ति से भी यह सिद्ध होता है यथा-आत्मा नित्य है, अजन्मा होने से और आगम प्रमाण से भी आत्मा का नित्यत्व सिद्ध होता है क्योंकि श्रुति कहती है-'अविनाशी वा अरे ऽयमात्मा', इसलिये **परमेश्वरम्**—देह, इन्द्रिय प्राण, मन और अव्यक्त की अपेक्षा परम (नित्य, अतिसूक्ष्म, अन्तर, व्यापक, चेतन, प्रकाशक, अधिष्ठान और आनन्दरूप होने से उत्कृष्टतम अर्थात सर्वश्रेष्ठ) है, क्योंकि श्रुति कहती है-'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था ह्यर्थेभ्यः' अर्थात् इन्द्रियों से पर (श्रेष्ठ) अर्थ (विषय) हैं और अर्थों (विषयों) से पर मन हैं, मन से पर बुद्धि तथा बुद्धि से पर आत्मा है, **ईश्वर**—ईशनशील (नियामक), जिस प्रकार चुम्बक अपनी सन्निधिमात्र से लोह में चेष्टा उत्पन्न करता है, ऐसे ही अपनी केवल सन्निधि से ही आत्मा प्रकृति को प्रवृत्त (क्रियायुक्त) करता है। वही आत्मा का ईश्वरत्व है। राजा आदि के समान साक्षात् नियन्ता ईश्वर नहीं है क्योंकि गीता मे कहा गया है कि-'नैव कुर्वन्न कारयन्' अर्थात् वह न करता है न कराता है, 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' अर्थात् स्वभाव ही प्रवृत्त होता है। इस प्रकार समत्व, कूटस्थत्व, नित्यत्व, चेतनत्व आदि धर्मों के द्वारा विषमत्व, सक्रियत्व, विनाशित्व, जड़त्व आदि धर्म वाले क्षेत्र की अपेक्षा विलक्षणरूप से जो ज्ञात होता है उस निर्विशेष अहं प्रत्यय के अर्थभूत (लक्ष्य विषय) क्षेत्रज्ञ आत्मा को जो इस क्षेत्र के धर्म तथा क्षेत्र के कर्म से अस्पृष्ट **पश्यति**—देखता है-नित्य, निरन्तर श्रवण, मनन,

निदिध्यासन और समाधि का यथा क्रम से अनुष्ठान कर जो सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होता है, उस ज्ञान से 'नित्य, कूटस्थ, असंग, चिद्रूप प्रत्यक्-आत्मा ही मैं हूँ, संसारी नहीं हूँ,' इस प्रकार संसार से (जीवत्व बुद्धि सम्पन्न परा प्रकृति से) विलक्षण आत्मा को साक्षात् देखता है (अनुभव करता है) । **सः पश्यति**—वह ब्रह्मविद् यति उसके यथार्थ स्वरूप को अर्थात कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि सम्पूर्ण संसार धर्म से रहित, सम्पूर्ण उपाधि से रहित, आकाश के समान अत्यन्त निर्मल एवं परिपूर्ण अपने आत्मा को सब अवस्थाओं में सर्वदा मुक्त ही देखता है–अन्य (दूसरा) जो केवल वेदान्त वाक्य श्रवण कर ही (मनन तथा निदिध्यासन के विना ही) अपने को कृतार्थ मानता है वह आत्मा को मुक्त नहीं देखता है, यही कहने का अभिप्राय है । इससे यह सूचित होता है कि घट, मठ आदि में ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब तक सभी शरीरों में आत्मा के व्यापकत्व, समत्व, असंगत्व, नित्यत्व और पूर्णत्व को देख कर प्रारब्ध के अनुरूप देह इन्द्रियादि प्रवृत्त अथवा निवृत्त हो रहे हैं, इस प्रकार जानकर जो अपने आत्मा को उन दोनों से (प्रवृत्ति तथा निवृत्ति से) रहित ही सर्वदा देखता है एवं सर्व प्रकार विकार रहित स्वरूप से (पूर्ण ब्रह्माकारावृत्ति से) स्थित रहता है, वही जीवन मुक्त है, यह सूचित होता है ।

(३) नारायणी टीका—क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से संसार गति होती है एवं वह संयोग अज्ञान से होता है यह पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है । अतः अज्ञान-जनित इस संयोग की निवृत्ति केवल सम्यक् दर्शन रूप ज्ञान से ही सम्भव है, यह भी भगवान् पहले ही कह चुके हैं । अब वह सम्यक् दर्शन किसको होता है, यह कह रहे हैं–ब्रह्मा से लेकर स्थावरजङ्गमात्मक भूतों में सर्वत्र एक ही भाव से एवं निर्विशेषरूप से अवस्थित तथा मायारचित गन्धर्वनगर के समान देखते-देखते ही नष्ट होने वाले समस्त दृश्य प्रपंचों में एक अविनाशी क्षेत्रज्ञ परमेश्वर को जो ज्ञानदृष्टि से देखता है, वही यथार्थ रूप से देखता है अर्थात् वही सम्यग्दर्शी है और जो सदा विनाशशील क्षेत्र के कार्य को सत्य मान कर उसको देखता है वह अनेक चन्द्रों को देखने वाले के समान विपरीतदर्शी या भ्रान्तदर्शी है ।

सिनेमा मे वस्त्रखण्ड के ऊपर जो नाटक का दृश्य दिखाया जाता है, वह आता है एवं जाता है परन्तु वह पर्दा जो सब दृश्यों की अधिष्ठानसत्ता है एवं सब दृश्यों से

विलक्षण (पृथक्) है, वह स्थिर (समभाव से स्थित) रहता है। जिसको सिनेमा के तत्त्व का अनुभव है, वह जानता है कि नाटक के दृश्य का कोई वस्तुत्व (पारमार्थिक-सत्ता) नहीं है। पर्दा को ही भूल कर वह उन सब दृश्यों को देख रहा है एवं सब दृश्यों के अणुपरमाणु में एकमात्र पर्दा ही सत्य पदार्थ रूप से विद्यमान है, अतः इस प्रकार ज्ञानी का सिनेमा देखते हुये भी अच्छा-बुरा, सुन्दर-कुत्सित किसी वस्तु के प्रति राग या द्वेष नहीं होता है। सदा विनाशशील दृश्यप्रपंच के अधिष्ठान स्वरूप नित्य स्थिर, अविकारी अविनाशी परमेश्वर ही इस प्रपंच के रूप में भ्रान्ति से भास रहा है, परन्तु वस्तुतः उसकी सत्ता के विना दूसरी किसी वस्तु की सत्ता नहीं है, इस प्रकार जो जानता है, वही क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ परमेश्वर (आत्मा) को पृथक् कर अपने यथार्थ स्वरूप को सम्यक् प्रकार से दर्शन कर अर्थात् सम्यग्दर्शी होकर संसार से अपने को मुक्त कर सकता है। जो अविवेकी (अज्ञानी) व्यक्ति इस प्रकार अधिष्ठानरूप आत्म दर्शन में असमर्थ होकर माया से उत्पन्न हुये विश्व प्रपंच में (अर्थात क्षेत्र एवं क्षेत्र के कार्यों में) सत्यत्व बुद्धि रखता है वह देखते हुए भी यथार्थवस्तु को ठीक ठीक नहीं देखता है, जिस प्रकार भ्रान्त व्यक्ति रज्जु में सर्प देखते हुये यथार्थ वस्तु कौन है, यह नहीं देख पाता है।

पूर्व श्लोक में उक्त सम्यक् दर्शन (यथार्थ ज्ञान) का फल बतलाकर, उसकी स्तुति करनी चाहिये इसलिये यह श्लोक आरम्भ किया जाता है। अर्थात् यथार्थ ज्ञान लाभ करने से क्या फल प्राप्त होता है, उस विषय पर जिससे मुमुक्षु का कोई संशय न रहे और उस ज्ञान के लिये प्रवृत्ति उत्पन्न हो, इस उद्देश्य से उस ज्ञान के फल का निर्देश कर उस ज्ञान की स्तुति (प्रशंसा) की जा रही है—

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम्॥ २८॥

अन्वय—सर्वत्र समं समवस्थितम् ईश्वरम् पश्यन्हि (विद्वान्) आत्मना आत्मानं न हिनस्ति, ततः परां गतिम् याति।

अनुवाद—सर्वत्र समभाव से स्थित हुए ईश्वर (परमेश्वर) को एक समान

भाव से (एक रूप से) जो पुरुष देखता है वह अपने आप अपनी हिंसा (नाश) नहीं करता है। इसलिये वह परमगति (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है।

भाष्यदीपिका—सर्वत्र समवस्थितम्—सर्वत्र अर्थात सब भूतों में समवस्थित अर्थात् तुल्यतया एक रूप से अर्थात अविकारी (विकार रहित) रूप से अवस्थित [अर्थात् जन्म, अस्तित्व, बुद्धि, विपरिणाम, अपक्षय तथा नाश—इन छः प्रकार के भावों से (परिणामों से) रहित होने के कारण जो सर्वभूतों में सर्व काल में **समम् ईश्वरम् पश्यन्हि**—एक ही अविकारी स्वरूप में स्थित रहता है, उस सम ईश्वर को (पूर्व श्लोक में उक्त लक्षण विशिष्ट निर्विशेष परमात्मा को) जो देखता है ('यह मैं हूँ' इस प्रकार साक्षात्कार करता है), वह विद्वान् इस प्रकार देखता हुआ **आत्मना आत्मानं न हिनस्ति**—स्वयं अपनी अपने से हिंसा नहीं करता है, अर्थात् स्वयं ही अपना नाश (संहार) नहीं करता है। **ततः**—इस कारण से (अपनी हिंसा नहीं करने के कारण) **परां गतिम् याति**—वह मोक्षरूप (परमानन्दस्वरूप) परम् (उत्तम सर्व श्रेष्ठ अर्थात सबसे उत्कृष्ट) गति को प्राप्त होता है। [परमार्थ सत् वस्तु जो एक (अद्वितीय) है तथा अकर्ता, अभोक्ता और परमानन्दस्वरूप आत्मा है जिसकी सत्ता से सब वस्तुओं की सत्ता प्रकाशित होती है उसकी सत्ता 'नहीं है, नहीं भासता है' इस प्रकार की भावना अज्ञानी पुरुषों में अज्ञान से ही उत्पन्न होती है। अतः वे अविद्या द्वारा अपनी सत्ता को (आत्मा को) तिरस्कार करके उसे असत्-सा कर देते हैं। इस प्रकार अज्ञानी आत्मा का हनन ही करता है। क्योंकि वह सर्वत्र विद्यमान नित्य सत्य आत्मा को तिरस्कार कर देहादि संघात में आत्माभिमान कर धर्म, अधर्म, कर्म का अनुष्ठान करके अपने को कर्ता, भोक्ता मानता है एवं अविद्यावश आत्मभाव से ग्रहण किये हुये इस देहादि संघात रूप पुरातन आत्मा को त्यागकर, कर्मों के फलभोग करने के लिये नवीन देहादि रूप आत्मा को पुनः पुनः ग्रहण करता है—इस प्रकार भी वह आत्मा का हनन ही करता है। अतः सभी अज्ञानी दोनों प्रकार से आत्मघाती ही होते हैं एवं इनको ही लक्ष्य करके महाभारत में शकुन्तला ने कहा—

'किं तेन न कृतं पापं चोरेणाऽऽत्मापहारिणा।
योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते' ।। इति ।।

अर्थात्—'जो अन्य प्रकार के आत्मा को अन्यस्वरूप वाला समझता है उस आत्मघाती चोर ने कौन पाप नहीं किया ?

श्रुति भी कहती है—

'असुर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चाऽऽत्महनो जनाः ॥ (ईश० उ०)

अर्थात्—'जो कोई भी आत्मा का घात करने वाले पुरुष हैं वे मरकर उन लोकों में जाते हैं जो असुर्य नामवाले और घोर अन्धकार से व्याप्त हैं ।' ('असुर्य' शब्द का अर्थ है-असुर की अपनी अर्थात् आसुरी सम्पत्तियों के द्वारा भोगने योग्य । 'आत्महनः' शब्द का अर्थ है अनात्म में आत्मा का अभिमान रखने वाले) । अतः जो आत्मज्ञानी है वह शुद्ध आत्मा के साक्षात्कार द्वारा अनात्म में (देहादि में) आत्माभिमान का (देहादि 'मैं' हूँ-इस प्रकार अभिमान का) वध कर देता है, अतः अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेने के कारण वह आत्मा का घात नहीं करता एवं इसी आत्मज्ञान से अविद्या और उसके कार्य को निवृत्त कर परमगति (मुक्ति) प्राप्त कर लेता है-(मधुसूदन)]

पूर्व पक्ष—कोई भी प्राणी स्वयं अपनी हिंसा नहीं करता, अतः ज्ञानी अपनी हिंसा नहीं करता है-यह कह कर अप्राप्त का निषेध क्यों किया गया है ? यह तो उसी प्रकार है जैसे कोई यदि कहे कि 'पृथ्वी पर और अन्तरिक्ष में अग्नि नहीं जलानी चाहिये' तो यहाँ पृथ्वी पर अग्नि जलाने का निषेध करना इसलिये अयुक्त है कि यदि पृथ्वी पर अग्नि न जलाई जाय तो कहाँ जलाई जाय ? और अन्तरिक्ष में जलाने का निषेध इसलिये ठीक नहीं है कि वहाँ तो अग्नि जलाई ही नहीं जा सकती । अतः अन्तरिक्ष में अग्नि जलाने का निषेध कर अप्राप्त का ही निषेध किया गया है ।

उत्तर—भगवान् की उक्ति में दोष नहीं है । क्योंकि अज्ञानियों से स्वयं अपना तिरस्कार करना सम्भव है । आत्मा सदा ही विद्यमान है इसलिये वह सत् है एवं सर्वत्र प्रकाशमान् है, इसलिये वह चित् है । अतः यह अत्यन्त प्रसिद्ध आत्मसत्ता सभी के निकट साक्षात् प्रत्यक्षभाव से अनुभव योग्य है, परन्तु (१) सभी अज्ञानी इस परमाथ सत्, एक, अद्वितीय, अकर्ता, अभोक्ता, परमानन्दरूप प्रत्यक्ष आत्मा का तिरस्कार

करके अर्थात 'यह नहीं है, यह प्रकाशित नहीं हो रहा है' इस प्रकार अज्ञान से बुद्धि भ्रष्ट होकर अनात्मा शरीरादि को आत्मा मानकर धर्माधर्म का आचरण करते हैं एवं कर्म के फलरूप से प्राप्त किये हुये पुरातन शरीर रूप आत्मा का नाश (त्याग) करके दूसरे नये शरीररूप आत्मा को प्राप्त करते हैं। फिर उसका भी इसी प्रकार नाश करके अन्य को और उसका भी ऐसे ही नाश करके अन्य को प्राप्त होते रहते हैं। इस प्रकार पुनः पुनः शरीर रूप आत्मा को प्राप्त करके उसकी हिंसा (त्याग) करते जाते हैं। अतः सभी अज्ञानी आत्महत्यारे हैं। (२) फिर जो वास्तव में आत्मा है वह भी अविद्या द्वारा अज्ञात होने के कारण सर्वदा मरा हुआ-सा ही रहता है क्योंकि वह सर्वत्र एवं सदा समभाव से विद्यमान रहते हुये भी उसकी विद्यमानता का फल अर्थात् मैं नित्यशुद्ध, बुद्ध मुक्त परमान्द स्वरूप हूँ' इस प्रकार का अनुभव अज्ञानी को नहीं होता है। अतः सभी अज्ञानी आत्मा की हिंसा करने वाले ही है। किन्तु यदि कोई विद्वान् इन देहादि से विलक्षण, पूर्ववर्ती श्लोकों में कहे हुये आत्मस्वरूप को जान लेता है तो वह अपने द्वारा अपना नाश नहीं करता है। अतः वह परमगति (मोक्ष) रूप फल को (जो पहले बताया गया है उसको) प्राप्त होता है।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—पूर्ववर्ती श्लोक में कहा है कि जो विनाशशील भूतों में अविनाशी परमात्मा को देखता है वही पूर्णता से देखता है अर्थात् वही सम्यग्-दर्शी है। इस पर शंका हो सकती है कि—किस कारण से वह सम्यग् दर्शी है ? इसके उत्तर में कहते—**सर्वत्र समं समवस्थितम् ईश्वरम् पश्यन्**—सर्व स्थान में अर्थात् सर्व भूतों में समवस्थित अर्थात् पूर्णतया अखण्डरूप से (अपने स्वरूप से कभी च्युत होने वाला नहीं है इस प्रकार से) परमेश्वर को समभाव से देखते हुए पुरुष **हि**—जिस कारण से **आत्मना आत्मानं न हिनस्ति**—अपने द्वारा अपने आत्मा की हिंसा नहीं करता अर्थात् अज्ञान के कारण आत्मा का तिरस्कार करके (देहादि अनात्म वस्तु में आत्माभिमान कर यथार्थ शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा को अस्वीकार करके) विनाश नहीं करता है। **ततः**—इस कारण **परां गतिं याति**—वह मोक्षरूप परमगति को प्राप्त होता है। परन्तु जो इस प्रकार नहीं देखता है वह, अर्थात् देहात्म-दर्शी को आत्मा समझकर देह के साथ आत्मा की भी हिंसा करता है। वैसे श्रुति भी है—

'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः । तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः' ॥ (ईशा० उ० ३) अर्थात्—असुरों (देहात्मवादी अज्ञानियों) को वे लोक प्राप्त होते हैं जो विविध योनियाँ और नरक रूप से प्रसिद्ध हैं । वे घोर अज्ञान एवं दुःखरूप अन्धकार से आवृत हैं । जो कोई भी आत्मा की हत्या करने वाले (अर्थात् कामभोग परायण देहात्मदर्शी) हैं वे मृत्यु के पश्चात् उन्हीं लोकों (नरकों एवं दुःखद योनियों) को प्राप्त होते हैं ।

(२) **शंकरानन्द**—ब्रह्मविद् यति जो सर्वदा एवं सर्वत्र परिपूर्ण आत्मा को ही एकरूप देखता है, उसी निरंतर आत्मदर्शन से वह मुक्त हो जाता है ऐसा कहते हैं । **सर्वत्र समवस्थितम्**—श्रवण, मनन आदि से उत्पन्न हुये सम्यक् विज्ञान से 'वही मैं हूँ' इस प्रकार जिसने आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार कर लिया है, ऐसा यति सर्वत्र (ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब तक सभी भूतों में बाहर और भीतर सर्वत्र) 'समवस्थित' (उत्कर्ष और अपकर्ष से रहित तथा एक ही रूप से घट, मठ आदि में आकाश के समान निरन्तर सबको व्याप्त करके सम्यक् प्रकार से अवस्थित) **समम् ईश्वरम् पश्यन्हि**—इसलिये सम (एकरस, निर्विशेष) ईश्वर को (अन्तर्यामी परमेश्वर को—सूर्य के समान सब प्राणियों की प्रवृत्ति के हेतु परिपूर्ण आत्मा को देखता हुआ, **आत्मना आत्मानं न हिनस्ति**—जिस कारण से आत्मा का अपनी आत्मा से (अपने से) ही हनन नहीं करता है अर्थात् अपने आपको नहीं मारता है [निष्क्रिय, निःसंग और निर्भय आत्मा की पुनः देह इन्द्रियादि के तादात्म्य रूप (अभिन्न बुद्धिरूप) अध्यास से 'मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी, शिष्ट, भ्रष्ट, सुकृति-दुष्कृति शाली हूँ' इत्यादि अनात्मा देहादि के धर्म और उसके कर्म का आरोप करके आत्मा को (अप्रतीति का अभाव का) सम्पादन करना ही आत्मा से आत्मा का हनन है । इस प्रकार आत्म हनन रूप दोष से स्वयं कूटस्थ, असंग, चिद्रूप एवं सदानन्द स्वरूप होकर भी आत्मा देही होकर (देह में आत्मबुद्धि वाला होकर) अतः कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म वाला होकर जन्म-मृत्यु रूप दुखसागर में डूबता है । जिसने आत्मतत्व को भलीभाँति जान लिया, ऐसा विदेह कैवल्य अर्थी (यति) उस प्रकार आत्मा का हनन नहीं कर सकता किन्तु बाहर की वासनाओं द्वारा जो असत् (अनात्म) वस्तु के लिये प्रवृत्ति उत्पन्न होती है,

उसका त्यागकर सत्‌रूप आत्मा की निष्ठा से ही स्थित रहता है) **ततः**—इसलिये, अर्थात् सत्स्वरूप आत्मा की ज्ञाननिष्ठा से ही जिसने अज्ञान और उसके कार्य को निरस्त कर दिया है, ऐसा यति परागति को (पर अर्थात् नित्य तथा निरतिशय आनन्दरूप गति को अर्थात् विदेह मुक्ति को) जाता है अर्थात् प्राप्त करता है। 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' ब्रह्म में निष्ठा करने वाला अमृतत्व (मोक्ष) को प्राप्त करता है—इत्यादि श्रुति से ब्रह्मनिष्ठा में (अपने स्वरूप में) प्रमाद न करने वाले यति की ही अमृतत्व सिद्धि सुनी जाती है। अतः जो यति केवल स्वरूप निष्ठा में स्थित है उसकी मुक्ति होती है, यह सिद्ध हुआ। अथवा **सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तम् पश्यन् इत्यादि**—सब भूतों में स्थित—इस न्याय से सब भूतों में सम्यक् प्रकार से (उत्कर्ष और अपकर्ष से रहित होकर बाहर और भीतर, सब ओर से व्याप्त करके) स्थित ईश्वर को (पूर्व में कहे हुये लक्षणों से विशिष्ट आत्मा को) सम [अपने में और सर्वत्र अर्थात् सर्व भूतों में एकरस (परिपूर्ण)] ही देखता हुआ **हि**—जिस कारण से **न हिनस्ति आत्मना आत्मानं**—ब्रह्मविद् यति परिपूर्ण आत्मा की हिंसा नहीं करता है अर्थात् यह ब्राह्मण है, यह शूद्र है, यह शिष्ट है, यह भ्रष्ट है तथा यह शुद्ध है, यह अशुद्ध है—इस प्रकार के भेद दर्शन से नित्य सत्य पूर्ण आत्मा की अप्रतीति का सम्पादन करना ही हिंसा है। सम्यग् दर्शी विद्वान् मोक्ष की इच्छा से सदा सर्वदा समदर्शन में निष्ठावान् होता है, अतः उस समदर्शन का त्यागकर आत्महनन नहीं करता, किन्तु 'यह सब मैं ही हूँ' इस प्रकार सदा पूर्ण आत्मा को ही देखता है। उसके फलस्वरूप अर्थात् सर्वत्र ब्रह्म दर्शन के फल फलस्वरूप उसकी भेद बुद्धि का लेशमात्र भी न रहने के कारण वह परमगति को प्राप्त होता है। अतः जिस कारण से सर्वत्र परिपूर्ण आत्मा को देखने वाले विद्वान् की ही मुक्ति होती है, इसलिये प्रमाद से (असावधानता) से भी अनात्मा देहादि में उसके धर्म में, उसके कर्म में, 'मैं मेरा' इस प्रकार का जन्मादि दुःख का हेतु जो अध्यास है (कल्पित अभिमान है), वह आत्मतत्व को जानने वाले विदेह कैवल्यार्थी यतियों को नहीं करना चाहिये। यह ही कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्वश्लोक में कहा है कि जो विनाशशील समस्त पदार्थों में अविनाशी परमेश्वर को एक ही भाव से सर्व-भूतों में स्थित देखता है, वही

सम्यग् दर्शी है। अब उस सम्यग् दर्शन का फल क्या है? यह बताते हैं—जो सर्वत्र अर्थात् सर्व भूतों में एवं सर्व अवस्था में सम भाव से अवस्थित ईश्वर का (परमात्मा का) दर्शन करता है, वह आप अपनी हिंसा नहीं करता है अर्थात् आत्मा से (देहात्म बुद्धि से) आत्मा को (परमेश्वर रूप आत्मा को अज्ञान जनित कर्तृत्व अभिमान से शुभ-अशुभ कर्म करके नाना योनि में अपने को भ्रमण करा कर पीड़ा नहीं देता है, अतः वह मोक्षरूप परमगति प्राप्त कर लेता है। और जो व्यक्ति सर्वत्र अर्थात् सब भूतों में सम अर्थात् निर्विशेष परमेश्वर रूपी आत्मा को सर्वत्र एक रूप से स्थित नहीं देखता है, वह अज्ञान से आच्छन्न होकर देह इन्द्रियादि को ही आत्मा मानता है। अतः वह (१) प्राणियों की भिन्न भिन्न देह में भिन्न-भिन्न आत्मा देखता है, इसलिये उसकी दृष्टि में धर्मात्मा, पापात्मा, अच्छा बुरा, साधु-चोर, इत्यादि भेद बुद्धि रहने के कारण अपने अनुकूल प्राणी के राग एवं प्रतिकुल प्राणि के प्रति द्वेष रहने के कारण वह दूसरे की हिंसा करता है अर्थात् पीड़ा पहुँचाता है। इसलिये जो सर्वत्र समानरूप से स्थित, एवं सर्व हृदय में स्थित एक ही अन्तर्यामी परमात्मा सर्व भूतों की बुद्धि को प्रेरणा दे रहा है, अतः सभी प्राणी उनके हाथ में कठपुतली के समान नाच रहे हैं, इस प्रकार भगवान् की लीला नहीं देख सकता, एवं इसी कारण से अनुकूल प्रतिकूल, राग-द्वेष इत्यादि भावों के वशीभूत होकर अपनी आत्मा द्वारा (मलिन बुद्धि द्वारा) दूसरे की आत्मा की वह हिंसा करता है। (२) फिर एक मात्र ब्रह्मरूप अधिष्ठान में ही मायारचित प्रपंच भास रहा है। अतः उस ब्रह्मस्वरूप आत्मा के बिना दूसरी किसी वस्तु की सत्ता न रहने के कारण सर्वत्र एक ब्रह्म ही विद्यमान है, यह अज्ञानी नहीं देख सकता है। अतः इस प्रकार अज्ञानी की भेदबुद्धि अवश्यम्भावी है एवं उससे दूसरे की हिंसा होना भी अनिवार्य है। कहने का अभिप्राय यह है कि जब तक देहादि अनात्म वस्तु में अज्ञान के कारण आत्मबुद्धि रहती है तब तक अपने यथार्थ आत्मा का (जो सच्चिदानन्द स्वरूप है उसका) अनादर कर देहादि से अनुष्ठित धर्म-अधर्म कर्म में कर्तृत्व अभिमान करके तथा देहादि की मृत्यु को अपनी मृत्यु मानकर दुःख भोगता है एवं शुभ-अशुभ कर्मों के फल भोगने के लिये जिस देह में आत्मबुद्धि कर रहा था, उस देह का हनन (नाश) स्वीकार कर दूसरी देह को धारण कर लेता है, फिर प्रारब्ध कर्म का अन्त

होने पर उस देह का भी नाश स्वीकार कर कर्मवश अन्य देहको धारण करता है। इस प्रकार पुनः पुनः देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि देह-धारण करते हुये दुःखमय संसार चक्र में भटकता है। यह ही आत्म हनन (आत्मघात) है। अतः इस प्रकार भेद बुद्धि (सम से विपरीत विषम दृष्टि) सम्पन्न अज्ञानी पुरुष केवल दूसरे की ही आत्मा को हिंसा नहीं करता है वरन् अपनी आत्मा की भी हिंसा करता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जो सर्वत्र समभाव से स्थित परमेश्वरको (आत्मरूप से) नहीं देखता है, वह आत्मघाती है क्योंकि मायाकल्पित देहादि को ही वह आत्मा मान लेता है एवं देहादि के विनाश के साथ-साथ आत्मा का भी विनाश होता है—ऐसा सोचता है। अतः इस प्रकार अज्ञानी पुरुष की देहादि में आत्मबुद्धि रहने के कारण जरा, मृत्यु शोक, मोह इत्यादि नाना क्लेश प्राप्त होते हैं' और जो ज्ञानी जानता है कि शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा ही सर्व भूतों में समभाव से स्थित है–जन्म, मृत्यु जरा, व्याधि, कर्तृत्व, भोक्तृत्व इत्यादि सभी प्रकृति (क्षेत्र) के धर्म हैं एवं अज्ञान अवस्था में वे सब धर्म आत्मा में आरोपित होते हैं, अतः रज्जु में सर्प भ्रम के समान वे सब मिथ्या ही है, इस प्रकार ज्ञानी सर्वत्र, उस आत्मा का दर्शन कर अर्थात् सम्यक् दर्शी होकर अपने आत्मा को अथवा दूसरे आत्मा की हिंसा (हनन) नहीं करता है। अतः उस तत्वज्ञान के बल से वह परमगति अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है, अर्थात् पक्षी जिस प्रकार पिंजड़ा से मुक्त होकर मुक्त आकाश में उड़ जाता है, इसी प्रकार जीव भी प्रकृति तथा प्रकृति के कार्य देहादि को मिथ्या समझ कर एवं उनके प्रति सर्व प्रकार अभिमान तथा आसक्ति से मुक्त होकर परमात्मा रूप महाकाश में लय हो कर परमात्मा के साथ एक हो जाता है। यही मनुष्य जीवन की 'परागति' है। [देह–इन्द्रियों का सदा ही परिवर्तन हो रहा है किन्तु इसमें जो जाननेवाला नित्यसाक्षीस्वरूप आत्मा है ('मैं' शब्दकी लक्ष्य वस्तु है) वह सदा ही समभाव से अवस्थित है अर्थात् कौमार यौवन वार्द्धक्य इत्यादि परिवर्तनशील अवस्थाओं के आवागमन होने पर भी वह देह में सर्वदा एक ही (सम्यक् अर्थात् पूर्ण) रूप से अवस्थित है 'समवस्थित' शब्द का यही तात्पर्य है। फिर यह भी कहा है कि वह 'सर्वत्र सम' है। इसका तात्पर्य यह है कि वह परमेश्वर केवल आत्मा के रूप से प्रति देह में समवस्थित नहीं है परन्तु सर्वत्र (सर्व भूतों में)

आकृति, शील स्वभाव बुद्धि इत्यादि भिन्नता दिखाई देने पर भी वे नाम रूप क्रियात्मक भेद मायारचित होने के कारण (अतः मिथ्या होने के कारण उन भेदों की) कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है। जिस प्रकार सुवर्ण से जो कोई अलंकार निर्मित होता है उनके अणु परमाणु में सर्वत्र एकमात्र सुवर्ण ही समभाव से विद्यमान रहता है, उसी प्रकार जागतिक सभी वस्तु ब्रह्मरूप अधिष्ठान का आश्रय कर कल्पित होती है, अतः उनके नामरूप में अनन्त भेद रहने पर भी परमेश्वर रूप आत्मा की सत्ता के विना किसी की कोई दूसरी सत्ता नहीं है। अतः जो परमेश्वरको जान लेने पर मनुष्य 'परागति' प्राप्त होता है वह 'सर्वत्र सम' ही है।]

[पूर्व श्लोक में कहा गया है कि जो पुरुष ईश्वर को सब भूतों में समभाव से स्थित देखता है वह आत्मा द्वारा आत्मा का नाश नहीं करता परन्तु यह युक्ति-युक्त नहीं क्योंकि भिन्न-भिन्न जीवों के गुणों और कर्मों की विलक्षणता से (धर्म-अधर्म रूपी कर्मों के फल रूप से) सुख-दुःख के भोग की भी भिन्नता दिखाई पड़ती है अतः अपने-अपने कर्मों के अनुसार फल भोगों का वैचित्र्य देख कर यह प्रतीत होता है कि केवल देह की ही भिन्नता नहीं है परन्तु प्रति देह में गुण तथा कर्म से विशिष्ट होता हुआ आत्मा भी भिन्न-भिन्न है। ऐसी शंका का निवारण करते हुए कहते हैं।]

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

अन्वय—यः कर्माणि सर्वशः प्रकृत्या एव च क्रियमाणानि पश्यति तथाऽऽत्मानम् अकर्तारं सः पश्यति।

अनुवाद—जो पुरुष सब प्रकार के कर्मों को प्रकृति द्वारा ही किए हुए देखता है तथा क्षेत्रज्ञ आत्मा को (सर्वोपाधि वर्जित तथा) अकर्ता जानता है, वही वास्तव में देखता है अर्थात् वही परमार्थदर्शी है।

भाष्यदीपिका यः—जो विवेकी पुरुष **कर्माणि सर्वशः**—मन, वाणी और शरीर से होने वाले सब कर्मों को सब प्रकार से **प्रकृत्या एव च क्रियमाणानि**—

प्रकृति द्वारा ही निर्वर्तित (किये जाते) है, अन्य किसी से नहीं [भगवान् की त्रिगुणात्मिका (सत्त्व, रजः एवं तमोगुण रूपा) माया का नाम प्रकृति है जो कि महत्तत्व आदि से लेकर कार्य (देहादि) तथा करण के (इन्द्रियों के) आकार में परिणत है। उस प्रकृति द्वारा ही सब कर्म होते हैं। ('एव' शब्द निश्चय के अर्थ में है एवं 'च' शब्द समुच्चय अर्थ में है अर्थात् कार्य तथा कारण रूप में जो कुछ दिखाई देते हैं वे सभी प्रकृति के परिणाम हैं, इस प्रकार प्रकृति के सब कार्यों को एकत्रित करके दिखाने के लिए ही 'च' शब्द का प्रयोग हुआ है।] **पश्यति**—इस प्रकार जो देखता है। तथा **आत्मानम् अकर्तारम् पश्यति**—एवं क्षेत्रज्ञ (सर्व उपाधियों से रहित अर्थात् निर्गुण, असंग, एक एवं सर्वभूतों में सर्व रूपों से विद्यमान आत्मा) की कोई प्रयोजन बुद्धि (अभाव का बोध) न रहने के कारण उसके लिये किसी कर्म का कर्ता होना सम्भव नहीं है, अतः वह अकर्ता है। इस प्रकार जो देखता है अर्थात् जानता है। [यहाँ 'तथा' शब्द का पूर्व वाक्य से 'पश्यति' इस क्रियापद को अनुकर्षण करने के लिये प्रयोग हुआ है।] **सः पश्यति**—वही परमार्थदर्शी है अर्थात् वास्तविक आत्मतत्व को वही जानता है [एवं इस प्रकार के दर्शन के फलरूप से वही परागति (मोक्ष) प्राप्त करने में समर्थ होता है] कहने का अभिप्राय यह है कि अज्ञान से जब तक देहादि में आत्माभिमान रहता है तब तक ही देहादि के कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म आत्मा में आरोपित होकर आत्मा सब कर्मों का कर्ता है—इस प्रकार प्रतीनि होती है। वस्तुतः सदा अविकारी निस्संग आत्मा में कर्तृत्व नहीं है एवं इसलिये ही आत्मज्ञान होने पर तत्वदर्शी पुरूष को कोई कर्तृत्व बोध नहीं रहने के कारण वह कर्म फल से तथा कर्म फल जनित संसार से मुक्त हो जाता है इसलिये भिन्न-भिन्न देह में स्थित रहने पर भी आकाश के समान निर्गुण सर्वव्यापी और सर्व विशेषताओं से रहित अकर्ता आत्मा में भेद भाव का होना प्रमाणित नहीं हो सकता। अतः भिन्न-भिन्न देह में भिन्न-भिन्न आत्मा है इसप्रकार की शंका युक्तिसंगत नहीं है।

टिप्पणी (१) श्रीधर—शुभ अशुभ कर्मों का कर्ता होने के कारण (भिन्न-भिन्न देह में स्थित) आत्मा में भिन्नता (विषमता) तो प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है। अतः उसमें (आत्मा में) सर्वत्र समत्वज्ञान होना कैसे सम्भव है ? इस प्रकार की आशंका का उत्तर देते हुए कहते हैं।

प्रकृत्या एव च सर्वशः क्रियमाणानि कर्माणि यः पश्यति—जो मुमुक्षु सम्पूर्ण कर्मों को शरीर और इन्द्रियों के आकार में परिणत हुई प्रकृति द्वारा ही सब प्रकार से किया हुआ देखता है तथा **आत्मानम् अकर्तारं पश्यति**—आत्मा को अकर्ता देखता है अर्थात् शरीरादि में आत्माभिमान रहने के कारण ही अनात्म शरीरादि के धर्म आत्मा में आरोपित होकर आत्मा का कर्तृत्व (कर्तापन) है परन्तु स्वभाव से वह किसी कर्म का कर्ता नहीं है इसप्रकार जो देखता है **सः पश्यति**—वही यथार्थ देखता है वही आत्म तत्व को जानता है—दूसरा नहीं।

(२) **शंकरानन्द**—सुख, दुःख विवेक अविवेक, शूरत्व (वीरत्व) भीरुत्व आदि गुणों से, अपने द्वारा किये गये कर्म विशेषों से और 'मैं मैं' इस प्रकार के प्रत्ययों से प्रत्येक शरीर में आत्मा जब भिन्न-भिन्न है तब सब भूतों में आत्मा को समरूप से यति कैसे देखेगा ? इस आशंका के उत्तर में कहते हैं—ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि 'विज्ञानं यज्ञं तनुते, कर्माणि तनुतेऽपि च' 'एष द्रष्टा स्पृष्टा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' अर्थात् विज्ञान यज्ञ को फैलाता है और कर्म को भी फैलाता है तथा यह द्रष्टा, स्पृष्टा और विज्ञानात्मा पुरुष है इस श्रुति से विज्ञानात्मा (जीवात्मा) ही कर्म करने वाला उसका फलभोगने वाला, विवेकादि गुणों तथा प्रत्येक शरीर में 'मैं, मैं' इस प्रकार अभिमान से विशिष्ट होने के कारण उसका ही भेद है—आत्मा का नहीं, क्योंकि मन रहित, इन्द्रियरहित तथा अवयवरहित होने के कारण आत्मा में गुण, कर्म और भेद की उपपत्ति (सम्भावना) नहीं हो सकती है। इससे सब कर्मों को प्रकृति ही करती है, आत्मा नहीं करता है यह सिद्ध हुआ। अतः सब भूतों में एक ही आत्मा की सम्भावना सिद्ध होती है, ऐसा बोध करने के लिए कहते है **प्रकृत्या एव च**—प्रकृति अर्थात् त्रिगुणात्मिका माया जो देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि के रूपों में परिणत है (कार्यकरण कर्तृत्व के हेतु) उस प्रकृति से ही ['एव' शब्द अन्य के कर्तृत्व की व्यावृत्ति (निवारण) करने के लिए है] **कर्माणि सर्वशः क्रियमाणानि च**—श्रवण, दर्शन, स्पर्शन, बचन, ग्रहण, त्याग आदि सब प्रकारों से विहित तथा निषिद्ध सम्पूर्ण (समस्त), कर्मों का सम्पादन किया जाता है ['च' शब्द से कर्मों के फलों का अनुभव करना भी प्रकृति का ही कार्य है, ऐसा सूचित किया गया है।] **यः पश्यति**—

जो इस प्रकार देखता है। श्रुति, युक्ति और अनुभव से आत्मा और अनात्मभूत पुरुष (परा प्रकृति) तथा प्रकृति (अपरा प्रकृति) के स्वरूप का उक्त रीति से विवेचन करके अनात्म से आत्मा के स्वरूप को मूँज से इषीका के (डंठल के) समान पृथक् (विभक्त) कर उसे अपने आत्मरूप से साक्षात् जानकर उसी स्वरूप से जो ब्रह्मविद् यति सदा अवस्थित रहता है, वह जान लेता है कि प्रकृति आत्मा से विभक्त (पृथक्) है एवं सब कर्म प्रकृति से ही किए जाते हैं एवं प्रकृति से ही क्रियमाण सब कर्मों के फलों की अनुभूति भी होती है अन्य से नहीं। इस प्रकार आत्मा तथा अनात्मा के विवेक ज्ञान के प्रभाव से सभी कर्मों की चेष्टा तथा कर्म फलों की अनुभूति प्रकृति द्वारा ही होती है एवं साथ साथ यह भी जो यति देखता है (अर्थात् साक्षात् अनुभव करता है) कि आत्मा अकर्ता, अभोक्ता, सब उपाधियों से निर्मुक्त तथा सम (एकरस) ही है, वही परागति को प्राप्त होता है अन्य नहीं। २७ से २९ तक इन तीनों श्लोकों से यह सूचित किया गया है कि सम्पूर्ण भूतों में समरूप से स्थित आत्मा को जो साक्षात् देखता है उसकी मुक्ति होती है।

(३) नारायणी टीका—धर्माधर्म रूप कर्मों की विचित्रता के कारण ही जगत् में कोई सुखी, कोई दुःखी इत्यादि प्रकार से भिन्न-भिन्न जीव दिखलाई पड़ते हैं परन्तु इन सब कर्मों का कर्ता प्रकृति ही है अर्थात् सर्व प्रकार से प्रकृति द्वारा ही समस्त कर्म सम्पादित होते है [त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही देहादि रूपी कार्य तथा इन्द्रियादि रूपी करण रूप से परिणत होकर सब कर्म कर रही है एवं कर्मों के फल रूप से जो विषय प्राप्त होता है वह भी त्रिगुण से उत्पन्न होता है अतः वह भी प्रकृति का ही कार्य है। फिर उन फलों की प्राप्ति करने पर जो सुख दुःख का अनुभव होता है वह भी प्रकृति का ही कार्य है अर्थात् चिदाभासयुक्त अन्तः करण विशिष्ट जीवभूत परा प्रकृति ही सुख दुःखादि भोग करती है आत्मा नहीं। जिस प्रकार आकाश एक, सर्वव्यापी, अपरिच्छिन्न, असंग (निर्लिप्त) तथा सब प्रकार से कर्तृत्व-भोक्तृत्व से रहित होने पर भी उसको उपाधि भेद से घटाकाश, गृहाकाश, देहाकाश इत्यादि रूपों से कहा जाता है एवं उपाधि से ही उसमें भेद कल्पित होता है उसी प्रकार सर्व उपाधि रहित शुद्ध चैतन्य स्वरूप, निर्विशेष, असंग, अखण्ड, अनन्त तथा स्वगत–सजातीय–

विजातीय भेद शून्य आत्मा अकर्ता होने पर भी देहादि–उपाधि भेद से अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न हुए देहादि के धर्म आत्मा में आरोपित होने के कारण वह भिन्न भिन्न तथा कर्ता आदि रूप से प्रतीत होता है। अतः जो प्रकृति से आत्मा को पृथक् कर आत्मा को निर्गुण, निष्क्रिय, निर्विशेष तथा अकर्ता रूप से साक्षात् अनुभव करता है वही यथार्थ तत्वज्ञानी है एवं उस ज्ञान से वह परागति (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है। जब तक अज्ञान रहता है तब तक आत्मा में भिन्नत्व, भोक्तृत्व इत्यादि कल्पित होते हैं। आत्म स्वरूप के यथार्थ दर्शन से उस अज्ञान का सम्पूर्ण रूप से नाश होने पर सर्वत्र सम भाव से स्थित परमात्मा का ही अपनी आत्मा के रूप में दर्शन होता है। इसलिए शास्त्र में कहा गया है कि 'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते' (माण्डूक्य कारिका) अर्थात् आत्मा का स्वरूप जानने पर द्वैत का कोई अस्तित्व नहीं रहता है।

चैतन्य स्वरूप आत्मा की सन्निधि से जड़ प्रकृति चेतन के समान सभी कर्मों का सम्पादन करती है आत्मा स्वभावतः ही ज्ञान स्वरूप (सर्वद्रष्टा) है। अतः प्रकृति के सभी प्रकार के कार्यों को वह उदासीन रूप से केवल देखता है अर्थात् जानता है परन्तु स्वयं अकर्ता है अर्थात् कर्म में कभी व्याप्त नहीं होता है इसलिये आत्मा को पहले 'उपद्रष्टा' कहा गया है। फिर प्रकृति द्वारा (देह, इन्द्रिय द्वारा) जो कर्म अनुष्ठित होता है उसको सर्व इन्द्रियों से विवर्जित (रहित) होकर भी केवल साक्षी रूप से देखता है किन्तु प्रकृति के किसी कर्म को न प्रेरणा देता है और न रोकता है। इसलिये इस आत्मा को 'अनुमन्ता कहा गया है। अतः जो सब कर्म करने वाली प्रकृति से पूर्ण रूप से विलक्षण अकर्ता आत्मा को देखता है अर्थात् उसका साक्षात् अनुभव करता है वही सम्यक्–दर्शी होकर संसार से विमुक्त हो जाता है, यही कहने का अभिप्राय है।

फिर भी उसी यथार्थ ज्ञान की दूसरे शब्दों में व्याख्या करते हैं [पूर्व श्लोक में आपात दृष्टि से क्षेत्र के सम्बन्ध में भेद दृष्टि का अनुमोदन कर क्षेत्रज्ञ में भेद दृष्टि का निराकरण किया और क्षेत्र में भेद दर्शन भी मायिक होने के कारण वह मिथ्या ज्ञान ही है ऐसा सूचित कर अब उस भेद दर्शन का भी निराकरण करते हैं (मधुसूदन)]

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३० ॥

अन्वय—यदा (साधकः) भूतपृथग्भावम् एकस्थम् अनुपश्यति ततः एव च विस्तारं च, तदा (सः) ब्रह्म सम्पद्यते ।

अनुवाद—जिस समय साधक स्थावरजङ्गम भूतों के पृथक्-पृथक् भावों को (पृथक्ता को) एक ब्रह्म स्वरूप आत्मा में ही स्थित देखता है और उसी से उन सब भूतों के विस्तार को देखता है, उस समय वह ब्रह्मत्व प्राप्त करता है अर्थात् ब्रह्म ही हो जाता है ।

भाष्यदीपिका—यदा—जिस समय **भूतपृथग्भावं**—स्थावर जङ्गम सभी भूतों के (जड़ वर्ग के) अलग-अलग भावों को (पृथक्ता को) **एकस्थम् अनुपश्यति**—एक सद्रूप आत्मा में ही स्थित देखता है अर्थात् शास्त्र और आचार्य के उपदेशानुसार मनन करके 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० उ० ७।२५।२) अर्थात् यह सब कुछ आत्मा ही है इस प्रकार पृथक्-पृथक् वस्तु में एक आत्मस्वरूप को ही प्रत्यक्ष भाव से देखता है (अनुभव करता है) **ततः एव च विस्तारं च**—एवं उस अद्वितीय आत्मा से ही उन भूतों के पृथक्-पृथक् भावों का (नानात्व का) विस्तार (उत्पत्ति तथा विकास देखता है, 'आत्मतः प्राण आत्मत आशास्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्माऽन्नम्' (छा० उ० ७।२६।१) अर्थात् आत्मा से ही प्राण आत्मा से ही आशा आत्मा से ही संकल्प, आत्मा से ही आकाश, आत्मा से ही तेज, आत्मा से ही जल, आत्मा से ही अन्न आत्मा से ही सबका प्रकट और लीन होना] इत्यादि प्रकार से सारा विस्तार आत्मा से ही हो रहा है इस प्रकार दीखने लगता है **तदा ब्रह्म सम्पद्यते**—उस समय वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है अर्थात् ब्रह्म रूप ही हो जाता है । चैतन्यस्वरूप एक सत् आत्मा को अधिष्ठान कर ही स्थावर जङ्गमात्मक सभी पृथक्-पृथक् जड़ वस्तुएँ अज्ञान से कल्पित होकर स्वप्न और माया के समान भासती हैं इसलिए जाग्रत की किसी भी वस्तु की आत्मा से अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं है, अतः यह सब कुछ ब्रह्म

स्वरूप आत्मा ही है, इस प्रकार जो विवेकी पुरुष शास्त्र तथा गुरु के उपदेश से सब संशय से रहित होकर प्रत्यक्ष भाव से देखता है उस समय वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है अर्थात् सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद दृष्टि न रहने से सम्पूर्ण अनर्थ से शून्य (समस्त शोक-मोह से शून्य) ब्रह्म ही हो जाता है इसलिए श्रुति कहती है।

'यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' ॥ (**ईशा० उ०**)

[जिस ज्ञानी के लिए समस्त भूत आत्मा ही हो जाते हैं उस समय उस एकत्व देखने वाले को क्या मोह और क्या शोक रह सकता है 'प्रकृत्यैव' इत्यादि श्लोकों (१३।२६) में तो आत्माओं के भेद का निराकरण किया है तथा तीसवें श्लोक में अनात्म के भेद की भी निवृत्ति की गई है—यही इसमें विशेषता है। श्लोक में 'तदा' शब्द से ज्ञान के साथ-साथ ही जीव ब्रह्म स्वरूपता प्राप्त कर जीवन मुक्त हो जाता है—यह सूचित किया गया है।]

टिप्पणी (१) श्रीधर—समस्त भूतों का स्वरूप एकमात्र प्रकृति ही होने के कारण वे नाम रूप से भिन्न-भिन्न प्रतीत होने पर भी उनकी आत्माओं में (कारण रूपिणी प्रकृति में) कोई भेद नहीं है, इसप्रकार जो देखता है वह ब्रह्मभाव को प्राप्त करता है, ऐसा अब कहते हैं **यदा भूतपृथग्भावम्**—जब साधक स्थावर जङ्गम (चराचर) प्राणियों के पृथक् भाव को (भेद को, पृथकता को) एकस्थ (ईश्वर की शक्तिरूपा एक ही प्रकृति में प्रलय के समय स्थित) देखता है (विचार करता है **ततः एव च विस्तारं**—तथा सृष्टि काल में उस प्रकृति के विकास से ही प्राणियों का विस्तार देखता है **तदा ब्रह्म सम्पद्यते**—तब वे सब प्रकृति (माया) रूप ही है, इस भाव से प्राणियों को भी कारण रूप से अभिन्न देखता हुआ परिपूर्ण ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है अर्थात् ब्रह्म ही हो जाता है।

(२) **शंकरानन्द**—'समं सर्वेषु भूतेषु', 'समं पश्यन् हि सर्वत्र' इससे भूतों का और आत्मा का आधेय एवं आधार के रूप से ही भान होता है अर्थात् आत्मा आधार है एवं भूतसमूह आधेय है, इस प्रकार प्रतीत होता है। ऐसी अवस्थामें द्वैत ही सिद्ध होता है। अतः 'ततो यान्ति परां गतिं' (१३।२८) अर्थात् तदनन्तर

परमगति को प्राप्त होता है इसप्रकार कह कर द्वैतदर्शी विद्वान् की कैवल्य सिद्धि का प्रतिपादन किया गया है, यह कैसे सम्भव होता है ? इस आशंका के उत्तर में कहते हैं कि—ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि केदारों में (खेतों में) कल्पित सेतुओं के (मेंड़ों के) मध्य में भूमि स्थित है, सेतु भी भूमि में ही स्थित है। विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि जैसे भूमि और सेतु सब मृत्तिका रूपी ही हैं ऐसे ही कल्पित भूतों में आत्मा अवस्थित है और भूतसमूह भी आत्मा में ही स्थित हैं। अतः श्रुति और उसके अनुकूल युक्ति के अनुसार विचार करने पर यह सब आत्मस्वरूप ही है [क्योंकि प्रकृति माया होने के कारण उसके कार्य रूपी भूत-समूह (विश्वप्रपंच) भी मायिक अर्थात् मिथ्या ही हैं]। इसलिए आत्मा के बिना दूसरी किसी वस्तु की सत्ता न होने के कारण विद्वान् को आत्मैकत्व दर्शन और उससे ब्रह्म की प्राप्त हो सकती है, ऐसा सूचित कर रहे हैं। **यदा भूतपृथग्भावं**—[निरन्तर समाधिनिष्ठा से जिसका द्वैत प्रत्यय निर्मूलित (नष्ट) हो गया है ऐसा ब्रह्मविद् यति] जिस समय भूतों के पृथग् भाव को [आत्मा में कल्पित आकाशादि भूतों एवं उन भूतों के सब कार्यों के पृथग्-पृथग् भाव को] एक ही पट में कल्पित चित्र के समान अथवा काष्ट खण्ड में कल्पित हाथी के समान प्रतीयमान होने पर भी आत्मा की सत्ता के बिना उनकी पृथक् कोई सत्ता न रहने के कारण उनको आत्म-मात्र ही **अनुपश्यति**—देखता है (अर्थात् श्रुति और आचार्य से उत्पन्न हुए ज्ञान के अनुसार 'आत्मा ही यह सब', इस प्रकार देखता है)। प्रकृति तथा प्रकृति के सब कार्य कल्पना से (माया शक्ति से) अधिष्ठानभूत आत्मा में आरोपित होते हैं। अतः आत्मा में [अर्थात् अधिष्ठान स्वरूप आत्मा ही एक-मात्र सद् वस्तु है इस प्रकार की वृत्ति (निश्चित बुद्धि) के द्वारा आत्मा में (स्वस्वरूप में)] प्रकृति तथा उसके सब कार्यों का प्रविलापन (लय) करके (जो ब्रह्मवित् पुरुष) एकमात्र अद्वितीय आत्मा को ही देखता है। 'यस्माद्यदुत्पद्यते तत्तन्मात्रमेव' अर्थात् जिससे जो उत्पन्न होता है वह तत्स्वरूप ही होता है, इस न्याय के अनुसार प्रतीति दशा में भी विश्व प्रपञ्च आत्मस्वरूप ही है ऐसा दिखलाने के लिए कहते हैं—**ततः एव च विस्तारम्**—तस्मात्तत्सर्वमभवत्' (उससे यह सब प्रपंच हुआ) इस श्रुति के अनुसार जो उसीसे (उसी आत्मा से) विस्तार को (द्वैतप्रपंच के विशेष स्फुरण को)

देखता है अर्थात् मिट्टी से उत्पन्न हुए घटादि में जैसे मृण्मात्रत्व (केवल मिट्टीपन) प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है, वैसे ही आत्मा से उत्पन्न हुए भूतों के विस्तार की प्रतीति-दशा में भी आत्मसत्ता के विना स्वतः सत्ता का अभाव होने से आत्ममातृत्व देखता है अर्थात् 'मैं ही यह सब हूँ' इसप्रकार जब सबको आत्म-मात्र ही देखता है **तदा ब्रह्म सम्पद्यते**—सूर्य के आगमन के साथ-साथ जिस प्रकार उसी क्षण में अंधकार का विनाश हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञान और उसके फल में व्यवधान न रहने के कारण उसी क्षण में ब्रह्मविद् सबको आत्मस्वरूप देखता है अर्थात् उसी क्षण में ब्रह्मविद् यति ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होता है। देहादि उपाधि के द्वारा आत्मा में जो परिच्छेद (सीमा) स्वीकार किया था उस परिच्छेद (सीमित भाव) से रहित होकर अपने पूर्ण (अनन्त) स्वरूप आत्मा में स्थिति लाभ करना ही ब्रह्मभाव है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में कहा है कि प्रकृति ही सर्व प्रकार से सब कर्म करती है एवं जगत् में जो भिन्न-भिन्न भाव अर्थात् वैषम्य देखा जाता है वह सब प्रकृति का ही कार्य है। परमात्मा में एक अनिर्वचनीय कल्पनाशक्ति है जिसको माया या प्रकृति कहते हैं। शक्ति और शक्ति-मान् में किसी भेद की सम्भावना नहीं है। एक अखण्ड, अद्वितीय परमात्मसत्ता को ही आश्रय करके प्रकृति नाना रूपों से इस विश्वनाटकको दिखा रही है। जिस प्रकार समुद्र की एक एक तरंग समुद्र के स्वरूप से पृथक् नहीं है, उसी प्रकार विश्वप्रपंच में प्रत्येक वस्तु आत्मस्वरूप ब्रह्म से भिन्न नहीं है। माया शक्ति या प्रकृति से ही जगत् की सृष्टि, स्थिति, प्रलय होते हैं तथापि भ्रान्ति से कल्पित सर्प, दंड, धारा इत्यादि जिस प्रकार उनके अधिष्ठान स्वरूप रज्जु में स्थित हैं अर्थात् रज्जु से पृथक् उनकी कोई सत्ता नहीं है अथवा सोना से उत्पन्न हुए हार, वलय, कंगनादि सोना में ही स्थित हैं, उसी प्रकार मायाकल्पित नाना नामरूपात्मक प्रपंच लय अवस्था में एक-मात्र सत् स्वरूप ब्रह्म में ही स्थित हैं। फिर सृष्टि (प्रतीति) की अवस्था में वे सब (प्रकृति तथा प्रकृति के कार्य) उसी ब्रह्म से ही विस्तार को प्राप्त होते हैं जिस प्रकार सारे स्वप्न दृश्य नहीं होते हुए भी स्वप्न द्रष्टा से ही विस्तार प्राप्त होकर प्रतीत होते हैं और जाग्रत होने पर वे सब दृश्य द्रष्टा में ही लय हो जाते हैं, इसप्रकार जो अनुदर्शन करता है अर्थात् गुरु तथा शास्त्र के उपदेश से ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुसार

प्रत्यक्ष रूप से 'मैं और यह सब सृष्टि, स्थिति, प्रलय अवस्था में एकमात्र ब्रह्मस्वरूप ही हैं', इसप्रकार जो विद्वान् प्रत्यक्ष दर्शन करता है वह सर्व प्रकार भेदरहित परिपूर्ण ब्रह्मसत्ता को आत्मरूप से प्रत्यक्ष दर्शन कर (अनुभव कर) ब्रह्मस्वरूपता को प्राप्त होता है। इसलिये अध्यात्मरामायण में कहा गया है 'मायाकल्पितं विश्वं परमात्मने केवले। रज्जौ भुजङ्गवत् भ्रान्त्याविचारे नास्तिकिंचन' अर्थात् एकमात्र ब्रह्मस्वरूप परमात्मा ही सत् वस्तु है, उससे (रज्जु में) सर्व भ्रान्ति के समान विश्वप्रपंच माया से कल्पित होकर भ्रान्ति (अज्ञान) से प्रतीत हो रहा है। विचार करने पर ब्रह्म के बिना दूसरी किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है। अतः ब्रह्म के साथ एकत्व ज्ञान ही परागति (मोक्ष) की प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। इसलिए श्रुति भी कहती है—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' अर्थात् जो ब्रह्म को यथार्थ रूप से जानता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि एकत्व ज्ञान ही मोक्ष एवं नानात्व का ज्ञान ही संसार के बन्धन का कारण है। इसलिए श्रुति कहती है—'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' अर्थात् जो नाना भूतों में पृथग्भाव (विभिन्नता) देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु में प्रवेश करता है अर्थात् संसार प्रवाह में भटकता है।

[पूर्व श्लोक में कहा गया है कि एक अकर्ता परिपूर्ण आत्मा ही विश्व प्रपंचरूप में प्रकाशित हो रहा है। अब प्रश्न होगा कि यदि एक ही आत्मा सभी शरीरों की आत्मा माना जाय तो भिन्न-भिन्न देहों से कृत दोषों से (देहादि के कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख इत्यादि दोषों से) आत्मा का सम्बन्ध होगा जैसे पवित्र पंचगव्यादि अपवित्र वस्तु के संस्पर्श से दोषयुक्त होती है—ऐसी शंका का निवारण करने के लिये कहते हैं—]

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

अन्वय—हे कौन्तेय! अनादित्वात् निर्गुणत्वाद् अयं परमात्मा अव्ययः, शरीरस्थः अपि (अयं परमात्मा) न करोति न लिप्यते।

अनुवाद—यह परमात्मा (परमेश्वर से अभिन्न आत्मा) अनादि और निर्गुण होने के कारण अव्यय (अविनाशी) है। हे कौन्तेय! शरीर में रहने पर भी यह न तो कर्म करता है और न उसके फल से ही लिप्त होता है।

भाष्यदीपिका—**हे कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! [तुम्हारी माता कुन्ती मुझे ऐकान्तिक (अनन्य) भक्ति से सदा ही चिन्तन करती थीं। उसके फलस्वरूप वह शरीरकृत पाप-पुण्य या सुख-दुःख से कभी लिप्त नहीं होती थी। तुम भी मेरे शरणागत भक्त हो, अतः मेरी कृपा से आत्मज्ञान को प्राप्त होकर तुम भी युद्धादि कर्मों के फलों से लिप्त नहीं होओगे, इस प्रकार आश्वासन देने के लिये श्री भगवान् ने अर्जुन को 'कौन्तेय' शब्द से सम्बोधित किया।] **अनादित्वात्**—आदि शब्द का अर्थ कारण है। जिसका कोई कारण न हो उसे अनादि कहते हैं। अनादि के भाव को अनादित्व कहा जाता है। जो स्वभावतः आदि या कारणरहित है अर्थात् जो अज (जन्मरहित) होने के कारण जन्म का परवर्ती सभी भाव विकारों से (जायते अस्ति—वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, नश्यति—इन भाव विकारों से) रहित है वह अनादि है। अतः 'अनादित्व' शब्द का तात्पर्य यह है कि आत्मा स्वरूप से विकार को प्राप्त नहीं होता (मधुसूदन)। अतः वह परमात्मा अनादि होने के कारण अव्यय (अविनाशी) है। क्योंकि जो वस्तु आदिमान् होती है वह अपने स्वरूप से क्षीण (विनाशशील) होती है किन्तु यह परमात्मा अनादि है—इसलिए अवयव रहित है—अतः इसका क्षय नहीं होता है, यही कहने का अभिप्राय है। अब प्रश्न होगा कि आत्मा स्वभावतः अनादि होने के कारण उसका कोई क्षय नहीं होता है ऐसा मानने पर भी उसके गुण या धर्म की हानि से उसका क्षय होना तो सम्भव है क्योंकि धर्म एवं धर्मी का तादात्म्य सम्बन्ध है एवं धर्मी में विकार किए बिना कोई भी धर्म आता या जाता नहीं है। इस प्रकार की आशंका का निराकरण करने के लिए कहते हैं—**निर्गुणत्वात्**—निर्गुण होने के कारण भी यह आत्मा अव्यय है। यह कहना ठीक है कि जो वस्तु गुण या धर्म से युक्त होती है उसके गुणों के या धर्मों के क्षय से उसका क्षय होता है परन्तु यह आत्मा गुण-रहित है, अतः यह निर्धर्मक है। इसलिए गुण और धर्म के द्वारा भी इसका विकार या क्षय नहीं होता, अतः यह परमात्मा अव्यया है। श्रुति भी कहती है—'अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा' (अरे मैत्रेयि ! यह आत्मा अविनाशी है क्योंकि इसका कोई भी धर्म उच्छिन्न होने वाला नहीं है)। जिस कारण से आत्मा अनादि और निर्गुण है उसी कारण से वह आत्मा सब प्रकार के जन्मादि भाव विकारों से

रहित होने के कारण आत्मा के स्वतः व परतः व्यय की (नाश की) कोई सम्भावना नहीं है। [अब प्रश्न होगा कि यदि आत्मा अविनाशी हो तो वह अवश्य ही सर्वव्यापी होगा एवं अपनी महिमा में ही प्रतिष्ठित रहेगा। यदि ऐसा ही हो तो आत्मा परिच्छिन्न शरीर में कैसे स्थित रह सकता है? और यदि शरीर का ही आश्रय करके रहता है तब तो वह शरीरादि के कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दुःख इत्यादि धर्मों तथा एवं कर्मफलों से लिप्त होगा। इसके उत्तर में कहते हैं—] **शरीरस्थः अपि न करोति न लिप्यते**—यह आत्मा अव्यय तथा निर्गुण होने के कारण शरीर में रहता हुआ भी कुछ नहीं करता है तथा कुछ न करने के कारण ही कर्मों के फलों से भी लिप्त नहीं होता है। आत्मा की शरीर में प्रतीति होती है, इसलिए यह शरीर में स्थित कहा जाता है। आत्मा आध्यात्मिक संबन्ध से शरीर में रहता है, अतः वह शरीरादि से अनुष्ठित कर्मों का कर्ता नहीं है। जो कर्ता होता है वही कर्मों के फल से लिप्त होता है परन्तु यह आत्मा अकर्ता है इसलिए फल से लिप्त नहीं होता है।

पूर्व पक्ष—तो फिर शरीर में ऐसा कौन है जो कर्म करता है और उसके फल से लिप्त होता है? यदि यह मान लिया जाय कि परमात्मा से भिन्न कोई देही कर्म करता है और उसके फल से लिप्त होता है तब तो 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' (क्षेत्रज्ञ भी तुम मुझे ही जानो—गीता १३।२), इसप्रकार क्षेत्रज्ञ और ईश्वर की जो एकता कही है वह अयुक्त हो जायेगी। और यदि यह माना जाय कि ईश्वर से अन्य कोई देही नहीं है तो यह बतलाना होगा कि कौन करता है और लिप्त होता है? अथवा यह कह देना होगा कि देहादि से पर (विलक्षण) कोई ईश्वर ही नहीं है।

यथार्थ बात यह है कि भगवान् द्वारा कहा हुआ यह उपनिषद् रूप दर्शन सर्व प्रकार से दुर्विज्ञेय और दुर्वाच्य है (दुर्विज्ञेय का अर्थ है कि इसके संबन्ध में कुछ जानना कठिन है और दुर्वाच्य का अर्थ है कि इसके विषय में कुछ कहना भी कठिन है) एवं इस कारण से ही वैशेषिक, सांख्य, जैन और बौद्ध—मतावलम्बियों के द्वारा यह परित्यक्त हुआ है।

उत्तर—इसप्रकार के प्रश्न का तो 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' (गीता ५।१४) अर्थात् स्वभाव ही सब कर्मों का कर्ता रूप से वर्तता है, ऐसा कहकर भगवान् ने स्वयं ही

उत्तर दे दिया है। क्योंकि जिसका स्वभाव अविद्या मात्र ही है अर्थात् अपने यथार्थ स्वरूप को भूल जाना ही जिसका स्वभाव है वही कर्म करता है और कर्म-फल में लिप्त होता है। इसप्रकार से ही सारे संसार का व्यवहार चल रहा है। वास्तव में एक अद्वितीय परमात्मा में कर्तापन और कर्म-फल में लिप्त होना भी नहीं है अतः जो पारमार्थिक ज्ञान-दर्शन में स्थित हैं उन ज्ञाननिष्ठ परमहंस परिव्राजक संन्यासियों का [जिन्होंने अविद्याजनित समस्त व्यवहारों का तिरस्कार कर दिया है (क्योंकि अविद्या के कार्य होने के कारण सब जागतिक व्यवहार के समान मिथ्या ही है) उनका] कर्म में अधिकार नहीं है यह बात स्थान-स्थान पर भगवान् द्वारा दिखलाई (कही) गई है।

[सर्वव्यापी परमात्मा आध्यासिक सम्बन्ध से शरीर में रहता है। जिस प्रकार आध्यासिक सम्बन्ध से जल में रहने वाला सूर्य उसके हिलने-डुलने पर भी नहीं हिलता-डुलता, उसी प्रकार शरीर के कर्म करने पर भी यह आत्मा कर्म नहीं करता अतः किसी कर्म के फल से लिप्त भी नहीं होता, क्योंकि जो पुरुष जिस कर्म को करता है वही उसके फल से लिप्त भी होता है, किन्तु आत्मा अकर्ता होने के कारण यह लिप्त नहीं होता—ऐसा इसका तात्पर्य है। इच्छा, द्वेष, सुख और दुःखादि भी क्षेत्र का ही धर्म है तथा 'सब कर्म प्रकृति से ही किये जाते हैं' (गीता १३। २९) इस प्रकार कहकर भगवान् ने कर्मों को माया का कार्य बताया है। इसी से परमार्थदर्शियों के लिए सभी प्रकार के कर्माधिकार की निवृत्ति हो जाती है—ऐसी पहले व्याख्या की जा चुकी है। इसके द्वारा आत्मा की निर्धर्मकता बताकर स्वगतभेद का भी निराकरण कर दिया है। 'प्रकृत्यैव च कर्माणि' इस स्थान में तो सजातीय भेद की निवृत्ति की है, 'यदा भूत-पृथग्भावम्' इस स्थान पर विजातीय भेद की तथा 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्' इस स्थान पर स्वगत भेद की निवृत्ति की है। अतः अद्वितीय ब्रह्म ही आत्मा है—यह सिद्ध होता है—(मधुसूदन)]।

टिप्पणी (१) श्रीधर—परमेश्वर जब संसार अवस्था में देह का आश्रय करके रहता है तब शरीर से सम्बन्ध होने के कारण शरीर से किये गए कर्म तथा उनके फलस्वरूप सुख-दुःख आदि से भिन्न-भिन्न देह में जो विषमता दिखाई पड़ती है उस

विषमता का परमेश्वर के लिए परिहार करना बड़ा कठिन है, इसी अवस्था में फिर समदर्शन कैसे हो सकता है ? इस पर कहते हैं—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् इत्यादि—जो उत्पत्ति वाला होता है वह व्यय (विनाश) को भी निश्चय ही प्राप्त होता है तथा जो गुणयुक्त है उसके गुण के नाश से भी उसका व्यय (नाश) होता है परन्तु यह परमात्मा अनादि और निर्गुण है, अतः यह **अव्ययः**—अर्थात् जन्म, वृद्धि इत्यादि सर्व प्रकार के विकारों से रहित है, यही कहने का अभिप्राय है। इसलिए हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! परमात्मा शरीर में स्थित रहते हुए भी न तो कुछ करता है और न शरीरादि से कृत कर्मों के फल से लिप्त होता है।

(२) **शंकरानंद**—(१) पूर्ववर्ती श्लोकों में 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं' इत्यादि से आत्मा सब भूतों को व्याप्त कर स्थित है, ऐसा कहा गया है। अतः 'आश्रय के नाश से आश्रित का भी नाश हो जाता है' इस न्याय से अपने आश्रयभूत भूतों के (देहादि सृष्ट पदार्थों के) नष्ट होने पर आश्रित आत्मा के भी विनाश का प्रसंग आ जाता है अर्थात् जैसे लकड़ी के नष्ट होने पर उसको आश्रय करके रहने वाली अग्नि का भी नाश हो जाता है ऐसे ही देहादि रूपी उपाधि के नाश से उपहित आत्मा का भी नाश होगा। फिर (२) जैसे अश्व की गति से उसमें अधिष्ठित सारथी का भी गमन देखने में आता है ऐसे ही प्रकृति के कर्म करने पर (प्रकृति तथा उसके कार्य रूप देहादि में स्थित) आत्मा में भी कर्म का अनुष्ठान तथा उनके फल के अनुभव का प्रसंग होगा अतः ऐसी अवस्था में आत्मा का अकर्तृत्व (अकर्तापन) और नित्यत्व (नित्यपन) कैसे होगा ? इस प्रकार सिंहावलोकन न्याय से पिछले दो श्लोकों के अर्थ में शंका होने पर उस शंका का निवारण करने के लिए आप कहते हैं कि—सब भूतों का नाश होने पर भी आत्मा अज (जन्मरहित) और निर्गुण होने के कारण आत्मा का विनाश नहीं होता तथा कूटस्थ होने के कारण आत्मा में विक्रिया की भी सम्भावना नहीं है, अतः उसमें कर्तृत्व आदि भी सम्भव नहीं है। **अनादित्वात्**—जिसकी उत्पत्ति का निमित्त या उपादान कारण नहीं है वह अनादि है। यह आत्मा अनादि है क्योंकि 'न तस्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः' (उसका न कोई उत्पन्न करने वाला है और न अधिपति है) इस श्रुति वाक्य से जनयिता (उत्पत्ति करनेवाला) का अभाव होने से आत्मा

कारण रहित (अनादि) है अथवा सभी (उत्पत्तिशील) वस्तुओं का जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय, हानि इन छः विकारों का भाव रहता है। अतः जिसको पहला विकार अर्थात् जन्म रूप भाव धर्म नहीं है अर्थात् निरवयव होने के कारण जो अजन्मा है वह अनादि है। 'अजो नित्यः' ऐसा श्रुति से भी सिद्ध होता है कि आत्मा अजन्मा है और नित्य है। अनादि का भाव अनादित्व है। जो सावयव है वह आदिमान् है अर्थात् वह उत्पत्तिशील है, जो आदिमान है वह विकारी है और जो विकारी है वह नाशवान् है। अतः सभी भूतों का व्यय (नाश) होता है किन्तु आत्मा का नहीं क्योंकि अनादित्वात् **अव्ययः**—अपने उपाधिरूप सब भूतों के नष्ट होने पर भी यह आत्मा निरवयव होने के कारण अनादि है एवं अनादि होने के कारण वह नष्ट नहीं होता है, अतः अव्यय है ! यदि उसका आदि (कारण) हो तो 'कारण के नाश से कार्य का भी नाश होता है' इस न्याय से भूतों के समान आत्मा के भी नाश का प्रसंग आ जायगा। परन्तु आत्मा का कारण (आदि) नहीं है इसलिए आश्रय का नाश होने पर आकाश के समान आत्मा का नाश नहीं होता। अतः आत्मा अव्यय (अविनाशी) है। 'अविनाशी वा अरेऽयमात्मा' (अरे ! यह आत्मा अविनाशी है), इस प्रकार श्रुति वाक्य से उपाधि के नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता है ऐसा सुनने में आता है।

निर्गुणत्वात् च—गुण अर्थात सत्व, रज, तम तीन गुण, शब्दादि पंच विषय एवं इच्छा आदि अन्तःकरण की वृत्तियां, इनसे जो रहित है वह निर्गुण है अथवा तीनों गुणों के कार्यभूत षोडश कला (सोलह कला) शब्द से वाच्य पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच प्राण तथा अन्तःकरण इनसे रहित होने के कारण निर्गुण अर्थात् निरवयव है। निर्गुण का भाव निर्गुणत्व है। जो सगुण है, वह गुणों के नाश से नष्ट हो जाता है परन्तु यह आत्मा निर्गुण होने के कारण नष्ट नहीं होता है। यदि आत्मा के गुणों का नाश हो और कारण का नाश हो तो उसका भी नाश होगा किन्तु आत्मा में उन सबका अभाव होने के कारण वह नष्ट नहीं होता है, इसलिए वह अव्यय है। जो अव्यय है वह नित्य भी है क्योंकि श्रुति कहती है-'नित्यो नित्यानाम्' (यह आत्मा नित्य का भी नित्य है)। अब शंका होगी कि अनादि तथा निर्गुण होने के कारण गुणों के

नाश से आत्मा का भले ही नाश न हो परन्तु घट आदि के समान दूसरे से अथवा वायु के समान अपने से आत्मा का तो नाश हो सकता है, इस पर कहते हैं **परमात्मा इति**—वह परम है तथा आत्मा भी है—ये दोनों हेतुगर्भित विशेषण हैं। युक्ति से आत्मा का अव्ययत्व (अविनाशित्व) इस प्रकार सिद्ध होता है 'आत्मा तलवार आदि से नष्ट नहीं होता, परम होने से, जो ऐसा नहीं वह ऐसा नहीं, जैसे देह'। अव्यक्त से भी निरवयव (अवयवरहित) होने के कारण जो अति सूक्ष्म है अर्थात् निरतिशय महान् है। इसलिए नाश करने वाले का अविषय है अतः वह परम है। फिर वह आत्मा होने से भी स्वयं अव्यय (नाशरहित) है। बुद्धि से लेकर स्थूल पर्यन्त सभी के प्रतिक्षण विपरीत भाव को प्राप्त होने पर भी सब अवस्थाओं में सर्वदा सबको 'मैं हूँ' इस प्रकार आत्मा की सत्ता का (अर्थात् अहं प्रत्यय के अर्थ रूप से) अनुभव होता है। इसलिए निरवयव, निराकार, नित्य, निष्क्रिय यह आत्मा **शरीरस्थः अपि न करोति न लिप्यते**—शरीर में स्थित होने पर भी [यद्यपि अपने नित्य, सर्वव्यापी चैतन्य स्वरूप में सदा स्थित रहने वाले परम महान् आत्मा का कोई अधिकरण (रहने का स्थान) नहीं हो सकता, तथापि शरीर में ही आत्मा का अनुभव होता है इसलिए वह शरीर में स्थित है, ऐसा कहा जाता है]। घटादि में सर्वव्यापी आकाश जिस प्रकार विद्यमान रहता है उसी प्रकार ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब तक सभी शरीरों में विद्यमान यह आत्मा शरीरादि के प्रवृत्त होने पर भी पुण्य-पाप रूप किसी भी कर्म को स्वयं नहीं करता किन्तु शरीरों में बुद्धि और बुद्धि की वृत्तियों के साक्षी रूप से चुपचाप स्थित रहता है अर्थात् वायु से वृक्ष के हिलने पर जिस प्रकार उसमें स्थित आकाश कुछ भी चेष्टा नहीं करता, उसी प्रकार आत्मा भी शरीरों में स्थित रहते हुए कुछ भी चेष्टा नहीं करता है। फिर निरवयव परिपूर्ण आत्मा का चलना भी असम्भव है क्योंकि श्रुति कहती है—'वृक्ष इव स्तब्धः दिवि तिष्ठति' [यह आत्मा वृक्ष के समान स्वर्ग में (सब से पृथक् रूप से) स्थित हैं]। अब प्रश्न होगा कि यद्यपि कूटस्थ आत्मा स्वयं कर्म नही कर सकता तथापि देह में स्थित होने के कारण देह के संयोग से देह इन्द्रियादि द्वारा अनुष्ठित कर्मों से उसका लेप (लिप्तता) अवश्य होगा क्योंकि 'तत्संयोगी च पंचमः' इस श्रुति-वचन ब्रह्म इत्यादि पाप करने वालों के साथ केवल संसर्ग होने से ही अकर्ता को भी

पाप के लेप (पाप के स्पर्श) की प्राप्ति होती है, ऐसा प्रतिपादन किया गया है। अतः उस न्याय के अनुसार आत्मा भी ऐसा ही होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं 'न लिप्यते' अर्थात् उक्त स्मृति-वचन में संयोग (संग) ही पापलेप की प्राप्ति का हेतु है, ऐसा कहा गया है। अतः ब्रह्म हत्यादि पाप करने वालों के साथ संसर्ग (संग) रखनेवालों को भी पाप का लेप होगा 'असंयोगी' अर्थात् जो उनके साथ संयोग नहीं करता है ऐसे उनसे दूर रहने वाले व्यक्ति को नहीं, उसी प्रकार आत्मा का भी निरवयव तथा अतिसूक्ष्म होने के कारण उनके देह इन्द्रियादि के साथ एवं उनके द्वारा किए गए कर्मों के साथ संयोग असम्भव है। अतः उनके द्वारा किये गए कर्मों का आत्मा से किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः देह, इन्द्रिय, उनके विकार, उनकी अवस्था तथा उनके व्यापारों का अविकारी एवं साक्षी रूप से स्थित आत्मा स्वयं असंग होने के कारण उनके द्वारा किए गए कर्मों से लिप्त नहीं होता है, वही कहने का अभिप्राय है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में कहा है कि ब्रह्मस्वरूप परमात्मा का आश्रय कर ही समस्त विश्व प्रपंच का अनन्त नाम रूपों से विस्तार होता है एवं अन्त में वे सब भिन्न-भिन्न वस्तुएँ उस परमात्मा में ही लय हो जाती हैं, इस तत्व को जो जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है अर्थात् परमानन्दस्वरूप मोक्षपद को प्राप्त होता है। अब उस परमात्मा का स्वरूप और स्पष्ट करके कह रहे हैं—विश्व प्रपंच विनाशी है क्योंकि वह आदिमत् अर्थात् उत्पत्तिशील है। जिसका जन्म होता है वह अवश्य ही जन्म, अस्तित्व, वृद्धि, विपरिणाम (विशेष भाव से निरन्तर परिणाम), अपक्षय (हानि) एवं नाश, इन छः विकारों को प्राप्त होगा किन्तु उनकी अधिष्ठान सत्ता जो शुद्ध चैतन्य स्वरूप परमात्मा है वह जगत्-प्रपंच से विलक्षण है, क्योंकि वह अनादि एवं निर्गुण होने के कारण अव्यय (अविनाशी) है। जिसका आदि (उत्पत्ति का कारण) नहीं है अर्थात् जिसका जन्म नहीं होता है उसे अनादि कहते हैं। जो जन्मरहित है उसमें वृद्धि, परिणाम, क्षय एवं नाशरूपी विकारों का भी अभाव है। अतः अनादि परमात्मा का किसी प्रकार से परिणाम तथा व्यय (नाश) होना असम्भव है। जागतिक सभी वस्तुएँ त्रिगुणात्मिका हैं (सत्व, रजः, तमः—इन तीनों गुणों से उत्पन्न हुई हैं)। अतः त्रिगुण का सदा ही परिणाम होने के कारण जागतिक सभी पदार्थ परिणामी (विकारी)

तथा नाशवान् हैं परन्तु परमात्मा गुणों से अतीत होने के कारण वह नित्य सनातन एक ही रूप में सदा स्थित है। इसीलिये भगवान् ने कहा है कि निर्गुण होने के कारण वह अव्यय (अविनाशी) है। प्रश्न होगा कि परमात्मा जब प्रत्येक प्राणी का आत्मा है तो शरीर आदि से जो कर्म होते हैं वे कर्म चेतन आत्मा से ही अनुष्ठित होंगे एवं वह आत्मा कर्म के फलों में भी लिप्त होगा। इस प्रकार की आशंका होने पर श्रीभगवान् कहते हैं—'शरीरस्थोऽपि न करोति न लिप्यते' अर्थात् आत्मा सर्व-व्यापी होते हुए भी शरीर में (हृदय गुहा में—बुद्धि में) ही उसकी उपलब्धि होती है एवं इसलिए आत्मा शरीर में स्थित है-ऐसा कहा जाता है। किन्तु आत्मा नित्य, सत्य, अखण्ड, अद्वितीय, अज, अमर चिदानन्दस्वरूप है और शरीरादि माया (अविद्या) से कल्पित होने के कारण तथा अनित्य, मिथ्या, भिन्न–भिन्न नाना नाम–रूप विशिष्ट, जड़ तथा दुःखमय होने के कारण आत्मा से सम्पूर्ण विलक्षण हैं। अतः आत्मा के साथ शरीरादि का कोई पारमार्थिक संबन्ध नहीं हो सकता। रज्जु में कल्पित सर्प, धारा, दंड इत्यादि के साथ रज्जु का जिस प्रकार सम्बन्ध कल्पित होता है, उसी प्रकार शरीरादि के साथ आत्मा का आध्यासिक (आरोपित) सम्बन्ध है। जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से जल चंचल होने पर प्रतिबिम्ब की भी चंचलता दिखाई पड़ती है परन्तु वास्तव में बिम्बस्वरूप सूर्य चंचल नहीं होता है, उसी प्रकार शरीरादि से जो कर्म अनुष्ठित होता है वह आत्म-प्रतिबिम्ब अर्थात् चिदाभासयुक्त शरीरादि से होता है, न कि नित्य शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा द्वारा। जब आत्मा किसी कर्म का कर्ता ही नहीं है तब वह कर्म फलों में कैसे लिप्त होगा ? कहने का अभिप्राय यह है कि इस अध्याय में पहले ही कहा गया है कि शरीरादि में अभिमानी पुरुष (जीवभूता पराप्रकृति) तथा क्षेत्ररूपा अपरा प्रकृति—इन दोनों के संयोग से ही जागतिक सब व्यापार निष्पन्न (सम्पादित) हो रहे हैं। भ्रान्तिवश देहादि के कर्मों व धर्मों में 'मैं ऐसा हूँ' इस प्रकार के अभिमान को ही चित्प्रतिबिम्ब, चिदाभास, जीव प्रकृति (परा प्रकृति) अथवा पुरुष कहा जाता है। यह चिदाभासरूप पुरुष ही अपने को कर्ता, भोक्ता मानकर कर्म फलों में लिप्त होकर संसार चक्र में भ्रमण करता है। इसको ही भगवान् ने पाँचवें अध्याय के चौदहवें श्लोक में 'स्वभाव' कहा है एवं यह भी स्पष्ट किया है कि स्वभाव ही देहादि को कर्म में

प्रवृत्त करता है एवं कर्म फल में लिप्त होता है। यह स्वभाव या चिदाभासरूप पुरुष अविद्यामात्र है। इसलिए महाभारत के शान्तिपर्व में कहा है—जो कर्ता, कर्म, काल, सुख, दुःख इत्यादि में अनुराग का कारण है वही स्वभाव है। स्वभाव व्याप्य होने पर अर्थात् परिच्छिन्न शरीरादि में आत्माभिमान करने पर जीव हो जाता है और व्यापक होने पर अर्थात् सर्वव्यापी परमात्मसत्ता में आत्मबुद्धि करने पर वह परमात्म-स्वरूप हो जाता है। अध्यात्म-रामायण में कहा है—

ज्ञेयं च परमात्मानं यज्ज्ञात्वा मुच्यते भयात्।
अनात्मनि शरीरादावात्मबुद्धिस्तु या भवेत्॥
सैव माया तयैवासौ संसारः परिकल्प्यते।

अर्थात्—इनके अतिरिक्त ज्ञेय परमात्मा का भी स्वरूप बतलाऊँगा, जिसके जान लेने पर मनुष्य संसार भय से मुक्त हो जाता है। शरीरादि अनात्मपदार्थों में जो आत्मबुद्धि होती है उसी को माया कहते हैं। उसी के द्वारा इस संसार की कल्पना हुई है। तथा—

देहोऽहमिति या बुद्धिरविद्या सा प्रकीर्तिता।
नाहं देहश्चिदात्मेति बुद्धिर्विद्येति भण्यते॥
अविद्या संसृतेर्हेतुर्विद्या तस्या निवर्तिका।

अर्थात्—'मैं देह हूँ' इस बुद्धि का नाम ही अविद्या है और 'मैं देह नहीं, चेतन आत्मा हूँ', इसी को विद्या कहते हैं। अविद्या जन्म-मरण रूप संसार का कारण है और विद्या उसको निवृत्त करनेवाली है। भागवत में भी कहा है—

शोक-मोह-सुखं-दुखं देहापत्तिश्च मायया।
स्वप्नो यथात्मना ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवो॥ (भागवत ११।११।२)

अर्थात्—शोक-मोह सुख-दुःख तथा देह का जन्म इत्यादि सभी स्वप्न दृश्यों के समान माया (अज्ञान) से आत्मा में भासते हैं। अतः संसारगति वास्तविक (सत्य) नहीं है, वह भी स्वप्न के समान मिथ्या ही है। इसलिये योगवासिष्ठ में कहा है—

अविच्छिन्नचिदात्मैकः पुमानस्तीह नेतरत्।
स संकल्पवशाद्बद्धो निःसंकल्पश्च मुच्यते॥ (मुमुक्षु प्र० १।३६)

अर्थात्—एक अखंड, निरवच्छिन्न चित् स्वरूप आत्मा ही एकमात्र पुरुष है, उससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वह अपने साथ अपने में यह विश्वलीला माया से कर रहा है। वह न बद्ध है और न मुक्त है तथापि संकल्प से वह अपने को बद्ध सा दिखता है एवं संकल्परहित होकर मुक्त होता है। सारांश यह है कि कर्म, कर्ता, करण तथा कर्मफल एवं संसार गति, ये सभी माया अथवा 'स्वभाव' के कार्य होने के कारण मिथ्या हैं। अतः पारमार्थिक दृष्टि से आत्मा न तो कुछ करता है और न ही किसी वस्तु में लिप्त ही होता है, यह कहना युक्त-संगत है।

आत्मा असंग होने के कारण शरीर में रहते हुए भी वह देहादि के द्वारा किये हुए कर्मों से तथा कर्मफलों से लिप्त नहीं होता यह पूर्ववर्ती श्लोक में कहा गया है। इस विषय में दृष्टान्त देते हैं—]

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

अन्वय—तथा सर्वगतं आकाशं सौक्ष्म्यात् न उपलिप्यते, तथा सर्वदेहे अवस्थित आत्मा न उपलिप्यते।

अनुवाद—जिस प्रकार सर्वगत होने पर भी अति सूक्ष्म होने के कारण आकाश किसी के साथ लिप्त नहीं होता उसी प्रकार शरीर में सर्वत्र रहने पर भी आत्मा उसके कर्म से लिप्त नहीं होता अर्थात् (सम्बन्धयुक्त) नहीं होता है।

भाष्यदीपिका—यथा सर्वगतम् आकाशम्—जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त हुआ भी **सौक्ष्म्यात्**—सूक्ष्म भाव के कारण अर्थात् अति सूक्ष्म होने के कारण **न उपलिप्यते**—'उप' (अर्थात् समीपस्थ धूल, कीचड़ आदि वस्तुओं के द्वारा) लिप्त (सम्बन्धयुक्त) नहीं होता। **तथा सर्वत्र देहे अवस्थितः आत्मा न उपलिप्यते**—उसी प्रकार आत्मा भी शरीर में सर्वत्र स्थित रहने पर भी शरीर के गुण-दोषों से लिप्त (सम्बन्धयुक्त) नहीं होता [यहाँ सूक्ष्म शब्द का अर्थ है 'अप्रतिहत स्वभाव' अर्थात् स्वभाव से ही किसी से बद्ध नहीं होता है—(आनन्दगिरि) अथवा 'असंगस्वभाव' जिसका स्वभाव से ही किसी के साथ संग होना असंभव है—(मधुसूदन)। सूक्ष्म के भाव को 'सौक्ष्म्य' कहा जाता है]।

टिप्पणी-(१)श्रीधर—आत्मा के अकर्तृत्व तथा निर्लिप्तता में दृष्टान्त देते हैं-**यथा सर्वगतम् इत्यादि**—जिसप्रकार सब स्थानों में अर्थात् कीचड़ आदि में भी स्थित हुआ आकाश सूक्ष्म (असंग) होने के कारण कीचड़ आदि से लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार सर्वत्र अर्थात् उत्तम, मध्यम या अधम शरीर में स्थित हुआ भी आत्मा लिप्त नहीं होता अर्थात् शरीर के गुण-दोषों से संयुक्त नहीं होता।

(२) शंकरानन्द—आत्मा की जितनी देहादि उपाधियाँ हैं वे सब प्रकार से अपने प्रारब्ध के अनुसार विद्यमान रहने पर भी उन उपाधियों में स्थित आत्मा उपाधियों के धर्म, उनके कर्म और उनकी अवस्थाओं से किसी स्थान में लेश मात्र भी लिप्त नहीं होता है। इस प्रकार जो दृढ़निश्चय है एवं जिनको आत्मा में ही आत्मभाव प्राप्त है ऐसे ब्रह्मविद् को अपने में कर्तृत्व भोक्तृत्व (कर्तापन, भोक्तापन) आदि भ्रमों को परित्याग कर मौन होकर सदा आत्मानन्द का रसास्वादन ही करना चाहिए, ऐसा सूचित करने के लिये श्रीभगवान् ने पहले जो कहा है कि—उपाधि द्वारा कृत कर्म से आत्मा लिप्त नहीं होता है। उस विषय का ही फिर से दृष्टान्त सहित प्रतिपादन करते हैं जिससे मंद बुद्धि वालों को भी कर्तृत्व, भोक्तृत्व रूपी भ्रमों की निवृत्ति हो सके-**सर्वगतम् आकाशं सौक्ष्म्यात्**-आकाश निरवयव है इसलिये उसका गमन असम्भव होने के कारण 'सर्वगत' शब्द का अर्थ है सर्व जिससे गत (व्याप्त) है अर्थात् सर्वव्यापी। जैसे आकाश घट, पट आदि दृष्ट, अदृष्ट सब मूर्त्त द्रव्यों में सर्वत्र (बाहर तथा भीतर) व्याप्त होकर विद्यमान रहने पर भी सूक्ष्म होने के कारण (अपने से द्रव्य की अपेक्षा स्वयं अति सूक्ष्म होने के कारण) व्याप्त हुए द्रव्य के गुण-दोषों से (सुगन्धि आदि से) और वर्षा, वायु, धूप, अग्नि धूम, धूलि, पंक (कीचड़) आदि से भी **यथा न उपलिप्यते**—उपलिप्त नहीं होता है अर्थात् लेप, लेपक और लेपन क्रिया का अविषय होने से किसी से भी लिप्त नहीं होता है अर्थात् कोई भी वस्तु आकाश को स्पर्श नहीं कर सकती है **तथा आत्मा सर्वत्र देहे अवस्थितः अपि न उपलिप्यते**-ऐसे ही सर्वत्र (सम्पूर्ण देह में) [अर्थात् देव, मनुष्य, तिर्यक् आदि ऊँच-नीच शरीरों में सर्वत्र (बाहर-भीतर) व्याप्त होकर] विद्यमान रहते हुए भी आत्मा सूक्ष्म [अर्थात् 'सूक्ष्मत्वाच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति' (सूक्ष्म से भी वह सूक्ष्मतर

भासता है) इस श्रुति के अनुसार अव्यक्त (महत्तत्त्व) आदि से भी परम सूक्ष्म] होने से देह, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि आदि से इस जन्म में या पहले के करोड़ों जन्मों में किये गए पुण्य-पाप रूपी कर्मों से उपलिप्त नहीं होता है अर्थात् किंचित् भी छूआ नहीं जाता है। [यहाँ 'देह' शब्द जाति में एक वचन है।] इससे यह सूचित किया गया है कि आत्मस्वरूप के यथार्थ दर्शन से जिनके अविद्या के सब कार्य नष्ट हो गये हैं ऐसे ब्रह्मविद् यतियों का कहीं आहार आदि के निमित्त किसी कर्म से भी लेप (सम्बन्ध) नहीं होता है। अतः कैवल्य (मोक्ष) सिद्धि में प्रतिबन्धक रूप से जो द्वैत वासना है उसकी निःशेष निवृत्ति के लिये और अपने स्वरूपानंद के (परमानन्द के) अनुभव के लिए 'समं पश्यन्हि सर्वत्र' (सर्वत्र सम देखते हुए) इस प्रकार कही हुई रीति से सर्वदा सम ब्रह्म के दर्शन की निष्ठा से ही स्थित रहना चाहिए, यह सूचित होता है क्योंकि इस प्रकार नहीं होने पर पूर्व में कहे हुए वचन से विरोध होना तथा संन्यास, श्रवण आदि परिश्रमों के फल का अभाव होगा। अतः सदा पूर्ण वृत्ति से ('मैं तथा सब ही पूर्ण ब्रह्म हैं' इस प्रकार की वृत्ति से) ज्ञानी पुरुष को स्थित रहना चाहिए यह सिद्ध हुआ।

(३) **नारायणी टीका**—आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में अब तक जो कुछ कहा गया है उसको दृष्टान्त से पुष्ट कर रहे हैं–जिस प्रकार आकाश सर्वगत (सर्वव्यापी) होने के कारण सभी वस्तुओं के साथ संयुक्त है, ऐसा प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में अतिसूक्ष्म होने के कारण वह असंगस्वभाव वाला है अर्थात् निरवयव आकाश के साथ सावयव दृश्य पदार्थों के संयोग की सम्भावना न रहने पर कीचड़, धूलि आदि पदार्थों में रहते हुए भी आकाश जिस प्रकार उनके दोषों से लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार सर्वव्यापी आत्मा उत्तम, मध्यम, अधम सभी देहों में स्थित होने पर भी उन-उन देहों के दोषगुणों से लिप्त (संयुक्त-संग प्राप्त) नहीं होता है अर्थात् सर्व अवस्था में ही आत्मा निस्संग तथा निर्लेप है।

केवल असंग स्वभाव होने के कारण ही आत्मा लिप्त नहीं होता–ऐसी बात नहीं है परन्तु प्रकाशक होने के कारण भी वह प्रकाश्य के धर्म से लिप्त नहीं होता, यह बात दृष्टान्त पूर्वक सिद्ध करते हैं—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

अन्वय—हे भारत ? यथा एकः रविः कृत्स्नम् इमं लोकं प्रकाशयति तथा क्षेत्री कृत्स्नं क्षेत्रं प्रकाशयति ।

अनुवाद—जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सारे लोक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार हे भारत ! एक क्षेत्री (क्षेत्रज्ञ पुरुष) सारे क्षेत्रों (देहादि) को प्रकाशित करता है ।

भाष्यदीपिका—हे भरतकुल के तिलक अर्जुन ! [तुम अर्जुन (शुद्ध बुद्धि) हो, अतः तुम्हारा चित्त सर्वदा ही 'भा' में (स्वयंप्रकाश एवं सर्वप्रकाशक आत्मा में) रत है । अतः आत्मा का जो स्वरूप दृष्टान्त द्वारा कह रहा हूँ उसे तुम अनायास ही समझ जाओगे, इसप्रकार आश्वासन देने के लिए ही श्रीभगवान् ने अर्जुन को यहाँ 'भारत' शब्द से सम्बोधित किया]। **यथा एकः रविः कृत्स्नं इमं लोकं प्रकाशयति**—जिस प्रकार एक ही सूर्य इस समस्त लोक को (परिदृश्यमान जगत् को अर्थात् देह और इन्द्रियों के संघात तथा रूपवान् वस्तुमात्र को) प्रकाशित करता है किन्तु [प्रकाश्य के धर्म से लिप्त अथवा प्रकाश्य के भेद से भिन्न (भेद भाव प्राप्त) नहीं होता है (मधुसूदन)] **तथा क्षेत्री कृत्स्नं क्षेत्रं प्रकाशयति**–उसी प्रकार क्षेत्री अर्थात् क्षेत्रज्ञ परमात्मा स्वयं एक होते हुये भी अकेला ही सारे क्षेत्र को (पूर्व ५ वें और छठवें श्लोकों में उक्त महाभूतों से लेकर धृति पर्यन्त देह, इन्द्रियादि को संघात रूप सारी दृश्य वस्तुओं को) प्रकाशित करता है । यहाँ आत्मा में सूर्य का दृष्टान्त दोनों प्रकार से उपयोगी है अर्थात् (१) आत्मा सूर्य के समान सर्वत्र (सब शरीरों में) व्याप्त रहते हुए भी एक (अभिन्न) है और (२) आत्मा अलिप्त भी है अर्थात् सर्वत्र विद्यमान रहने पर भी कोई वस्तु आत्मा को स्पर्श नहीं कर सकती। श्रुति में भी ऐसी ही बात कही गई है–

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥

अर्थात्—जिस प्रकार सम्पूर्ण लोक का नेत्र सूर्य नेत्र सम्बन्धी बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता, उसीप्रकार सम्पूर्ण भूतों का एक ही अन्तरात्मा लोक के दुःख से लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह उससे बाहर है ।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—इस श्लोक का अर्थ स्पष्ट है।

(२) शंकरानन्द—श्रुति, युक्ति और अनुभव से आत्मा प्रकृति से विलक्षण है ऐसा जानकर प्रकृति को आत्मा में लय कर आत्मा का समत्व (साम्यभाव) ही जो सदा देखता है उस यति को विदेह मुक्ति की प्राप्ति होती है, ऐसा निश्चय करके प्रकरण का उपसंहार करने की इच्छा कर, 'प्रकृति (क्षेत्र) से आत्मा (क्षेत्रज्ञ) विलक्षण है' इस प्रकार का ज्ञान ही मुक्ति का आदि कारण है। अतः मन्दबुद्धि वालों को उक्त ज्ञान में संशय न हो सके इसलिए श्रीभगवान् ने कहा—'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञः' (गीता १३।१) अर्थात् क्षेत्र को जो जानता है उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं। अत्र उक्त लक्षणों वाले क्षेत्रज्ञ आत्मा का क्षेत्र से वैलक्षण्य (पृथक्त्व) सूर्य के दृष्टान्त से विशेष रूप से स्पष्ट करते हैं—**एकः रविः**—एक ही तेजस्वी सूर्य (घनीभूत तेज रूप सूर्य) **इमम्**—भूः भुवः आदि से भिन्न इन **कृत्स्नं लोकं**—सम्पूर्ण लोकों को (ब्रह्माण्डों को) **यथा प्रकाशयति**—सब ओर से व्याप्त करके अपने तेज से जिस प्रकार प्रकाशित करता है अर्थात् सब पदार्थों को अपने से ही सत्ता तथा स्फूर्ति देता है। सूर्य के द्वारा घटादि सब जड़ पदार्थों की 'यह घट है' इस प्रकार सत्ता और 'यह प्रकाशित हो रहा है' इसप्रकार स्फूर्ति प्राप्त होती है। इसलिये सम्पूर्ण (समस्त) नाम, रूप विशेषों से अनेक प्रकार से भिन्न ब्रह्माण्ड को स्वयं अभिन्न स्वभाव वाला एक ही सूर्य अपने भास्य (प्रकाश्य) से विलक्षण (पृथक्) तथा उनके सम्बन्ध से रहित होकर भी जिस प्रकार प्रकाशित करता है **तथा क्षेत्री**—अव्यक्त से लेकर स्थूल पर्यन्त समष्टि-व्यष्टि रूप क्षेत्र (शरीर) जिसके विषय अर्थात् ज्ञेय तथा प्रकाश्य रूप से स्थित है, वह क्षेत्री है अर्थात् क्षेत्र तथा उसके कार्यों को जानने वाला एक ही चिद्घन क्षेत्रज्ञ आत्मा है। क्षेत्र और उसके स्वामी क्षेत्रज्ञ इन दोनों में अचेतनत्व-चेतनत्व, ज्ञेयत्व, ज्ञातृत्व, भास्यत्व-भासकत्व आदि धर्मों से विलक्षणता सूचित करने के लिए क्षेत्री शब्द का प्रयोग किया गया है। **क्षेत्रं कृत्स्नं प्रकाशयति**—जिस कारण से आत्मा क्षेत्रज्ञ है उसी कारण से क्षेत्र से भिन्न आत्मा भी सम्पूर्ण क्षेत्र को (अर्थात् महद् आदि सम्पूर्ण विकारों से युक्त, नाम, रूप, जाति, क्रिया और गुण विशेष रूप अनेक भेदों से भिन्न, उसकी अवस्था, उसके धर्म तथा उसके कर्म के साथ सम्पूर्ण क्षेत्र को) प्रकाशित करता

है। अपने में अध्यस्त महद् आदि से लेकर स्थूल तक सब विकारों को सत्ता, स्फूर्ति देता है, यही कहने का अभिप्राय है। इससे क्षेत्रज्ञ आत्मा, क्षेत्र उसके विकार उसके धर्म, उसके कर्म और उसकी अवस्थाओं का ज्ञाता है तथा स्वरूप में वह चेतन, नित्य एवं सब क्षेत्रों में एक है तथा बुद्धि आदि सब जड़ पदार्थों का प्रकाशक तथा स्वयं प्रकाशस्वरूप, स्वप्रकाश (अपने को ही अपने आप प्रकाशित करने वाला), वृद्धि और क्षय आदि का अविषय (वृद्धि–क्षय रहित), एक रूप, सर्व व्यापक, असंग, अविक्रिय, अकर्ता, अकारयिता, अभोक्ता, अभोजियता, सर्वद्रष्टा, सर्वदृश्यधर्मशून्य, अपनी सन्निधि मात्र से सबकी प्रवृत्ति का हेतु, सम्पूर्ण भास्यों के (दृश्यों के) गुणों एवं दोषों से अस्पृष्ट सर्व साक्षी, और अपने साक्षात्कार से तम (अविद्या) और तम (अविद्या) के कार्य का निवर्तक, ऐसा प्रतिपादित होता है। इसके द्वारा यह सूचित होता है कि उक्त लक्षणों से क्षेत्र से भिन्न क्षेत्रज्ञ आत्मा सूक्ष्म बुद्धि सम्पन्न तथा युक्ति–कुशल यतियों द्वारा अपने आत्मरूप से सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में आत्मा कल्पित प्रपञ्च के अधिष्ठान रूप से अवस्थित रहने पर भी अर्थात् **उसकी सत्ता से सब कुछ सत्तावान् होने पर भी**—अध्यस्थ वस्तुओं के गुण-दोषों से वह (आत्मा) अस्पृष्ट रहता है, यह कहा गया है। अब आत्मा के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित होने पर भी प्रकाश्य के धर्मों से आत्मा लिप्त नहीं होता है अथवा प्रकाश्य में नानात्व रहने पर भी आत्मा में कोई भेद नहीं होता है अर्थात् वह सदा ही एकरूप में स्थित है, यह बात सूर्य के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं–जिस प्रकार सूर्य एक होकर भी अपने प्रकाश से समस्त प्रपञ्चों के अनन्त नामरूपों को प्रकाशित करता है परन्तु जिनको प्रकाशित कर रहा है उनके धर्मों से (गुण-दोषों से) लिप्त नहीं होता है अथवा प्रकाश्य में अनन्त भेद रहने पर भी उनसे भिन्न नहीं होता है, उसी प्रकार क्षेत्री (क्षेत्रज्ञ परमात्मा) महद् आदि चतुर्विंशतितत्त्वात्मक [चौबीस तत्त्वों से तथा इच्छा-द्वेषादि विकारों से युक्त एवं बहु आकारों में आकारित समस्त क्षेत्रों को (प्रपञ्चों को) प्रकाशित करता है तथापि उनके धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, सुख-दुःख आदि से लिप्त नहीं होता है अथवा भिन्न-भिन्न वस्तुओ को प्रकाशित करता हुआ भी किसी प्रकार भेद-भाव प्राप्त नहीं होता है अर्थात्

आत्मा सदा ही निर्विकार, एवं निर्लेप (असंग) है क्योंकि मायारचित मिथ्या क्षेत्रों के धर्म पारमार्थिक सत्य वस्तु ब्रह्म स्वरूप परमात्मा को स्पर्श नहीं कर सकते।

[समग्र त्रयोदश अध्याय में क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ की जो विलक्षणता प्रतिपादित की गयी है उसके ज्ञान का फल निर्देश करके अध्याय के विषय का उपसंहार करते हैं—]

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

अन्वय—ये ज्ञानचक्षुषा क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः एवम् अन्तरं विदुः भूतप्रकृतिमोक्षं च (विदुः) ते परम् यान्ति ।

अनुवाद—जो लोग ज्ञानचक्षु द्वारा इस प्रकार (अर्थात् समस्त त्रयोदश अध्याय में जिस प्रकार कहा गया है उस प्रकार) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को (पारस्परिक भेद को) तथा सम्पूर्ण भूतों की प्रकृति (कारण) जो माया नाम की अविद्या है उसके मोक्ष के (माया की निवृत्ति के) विषय में जो जानते हैं वे परम् पद को प्राप्त कर लेते हैं।

भाष्यदीपिका—ये ज्ञानचक्षुषा—जो लोग ज्ञान चक्षु द्वारा अर्थात् शास्त्र और आचार्य के उपदेश से जो आत्मविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञानरूपी चक्षु से **क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः एवम् अन्तरं**—इस प्रकार अर्थात् पहले बतलाए हुए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को अर्थात् उनकी पारस्परिक विलक्षणता को [(पार्थक्य को)-जड़ता-चेतनता एवं विकारित्व-निर्विकारित्व, बहुत्व-एकत्व, मिथ्यात्व-सत्यत्व रूप पारस्परिक भेद को] **विदुः**—जानते हैं **भूतप्रकृतिमोक्षं च**—तथा सम्पूर्ण भूतों की प्रकृति (अव्यक्त नामक अविद्यारूप भूतों की प्रकृति) के मोक्ष को अर्थात् उसका अभाव कर देने को भी **विदुः**—जानते हैं [क्षेत्रज्ञ को क्षेत्र से पृथक् कर उसके स्वरूप का साक्षात् करने से सर्व भूतों की अविद्या की निवृत्ति द्वारा कारणभूता प्रकृति से मोक्ष की प्राप्ति होती है-यह जो जानते हैं] **ते परम् यान्ति**—वे परमार्थ-तत्त्व स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं, अतः पुनर्जन्म नहीं पाते (फिर शरीर ग्रहण नहीं करते)।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते हैं। एवम् जैसा इस अध्याय में कहा गया है उस प्रकार से **क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः अन्तरं**—क्षेत्र और

है। अपने में अध्यस्त महद् आदि से लेकर स्थूल तक सब विकारों को सत्ता, स्फूर्ति देता है, यही कहने का अभिप्राय है। इससे क्षेत्रज्ञ आत्मा, क्षेत्र उसके विकार उसके धर्म, उसके कर्म और उसकी अवस्थाओं का ज्ञाता है तथा स्वरूप में वह चेतन, नित्य एवं सब क्षेत्रों में एक है तथा बुद्धि आदि सब जड़ पदार्थों का प्रकाशक तथा स्वयं प्रकाशस्वरूप, स्वप्रकाश (अपने को ही अपने आप प्रकाशित करने वाला), वृद्धि और क्षय आदि का अविषय (वृद्धि–क्षय रहित), एक रूप, सर्व व्यापक, असंग, अविक्रिय, अकर्ता, अकारयिता, अभोक्ता, अभोजियता, सर्वद्रष्टा, सर्वदृश्यधर्मशून्य, अपनी सन्निधि मात्र से सबकी प्रवृत्ति का हेतु, सम्पूर्ण भास्यों के (दृश्यों के) गुणों एवं दोषों से अस्पृष्ट सर्व साक्षी, और अपने साक्षात्कार से तम (अविद्या) और तम (अविद्या) के कार्य का निवर्तक, ऐसा प्रतिपादित होता है। इसके द्वारा यह सूचित होता है कि उक्त लक्षणों से क्षेत्र से भिन्न क्षेत्रज्ञ आत्मा सूक्ष्म बुद्धि सम्पन्न तथा युक्ति–कुशल यतियों द्वारा अपने आत्मरूप से सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है।

(३) **नारायणी टीका**—पूर्व श्लोक में आत्मा कल्पित प्रपञ्च के अधिष्ठान रूप से अवस्थित रहने पर भी अर्थात् **उसकी सत्ता से सब कुछ सत्तावान् होने पर भी**—अध्यस्थ वस्तुओं के गुण-दोषों से वह (आत्मा) अस्पृष्ट रहता है, यह कहा गया है। अब आत्मा के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित होने पर भी प्रकाश्य के धर्मों से आत्मा लिप्त नहीं होता है अथवा प्रकाश्य में नानात्व रहने पर भी आत्मा में कोई भेद नहीं होता है अर्थात् वह सदा ही एकरूप में स्थित है, यह बात सूर्य के दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं–जिस प्रकार सूर्य एक होकर भी अपने प्रकाश से समस्त प्रपञ्चों के अनन्त नामरूपों को प्रकाशित करता है परन्तु जिनको प्रकाशित कर रहा है उनके धर्मों से (गुण-दोषों से) लिप्त नहीं होता है अथवा प्रकाश्य में अनन्त भेद रहने पर भी उनसे भिन्न नहीं होता है, उसी प्रकार क्षेत्री (क्षेत्रज्ञ परमात्मा) महद् आदि चतुर्विंशतितत्त्वात्मक [चौबीस तत्त्वों से तथा इच्छा-द्वेषादि विकारों से युक्त एवं बहु आकारों में आकारित समस्त क्षेत्रों को (प्रपञ्चों को) प्रकाशित करता है तथापि उनके धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, सुख-दुःख आदि से लिप्त नहीं होता है अथवा भिन्न-भिन्न वस्तुओं को प्रकाशित करता हुआ भी किसी प्रकार भेद-भाव प्राप्त नहीं होता है अर्थात्

आत्मा सदा ही निर्विकार, एवं निर्लेप (असंग) है क्योंकि मायारचित मिथ्या क्षेत्रों के धर्म पारमार्थिक सत्य वस्तु ब्रह्म स्वरूप परमात्मा को स्पर्श नहीं कर सकते।

[समग्र त्रयोदश अध्याय में क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ की जो विलक्षणता प्रतिपादित की गयी है उसके ज्ञान का फल निर्देश करके अध्याय के विषय का उपसंहार करते हैं—]

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

अन्वय—ये ज्ञानचक्षुषा क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः एवम् अन्तरं विदुः भूतप्रकृतिमोक्षं च (विदुः) ते परम् यान्ति ।

अनुवाद—जो लोग ज्ञानचक्षु द्वारा इस प्रकार (अर्थात् समस्त त्रयोदश अध्याय में जिस प्रकार कहा गया है उस प्रकार) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को (पारस्परिक भेद को) तथा सम्पूर्ण भूतों की प्रकृति (कारण) जो माया नाम की अविद्या है उसके मोक्ष के (माया की निवृत्ति के) विषय में जो जानते हैं वे परम् पद को प्राप्त कर लेते हैं।

भाष्यदीपिका—ये ज्ञानचक्षुषा—जो लोग ज्ञान चक्षु द्वारा अर्थात् शास्त्र और आचार्य के उपदेश से जो आत्मविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञानरूपी चक्षु से **क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः एवम् अन्तरं**—इस प्रकार अर्थात् पहले बतलाए हुए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर को अर्थात् उनकी पारस्परिक विलक्षणता को [(पार्थक्य को)—जड़ता-चेतनता एवं विकारित्व-निर्विकारित्व, बहुत्व-एकत्व, मिथ्यात्व-सत्यत्व रूप पारस्परिक भेद को] **विदुः**—जानते हैं **भूतप्रकृतिमोक्षं च**—तथा सम्पूर्ण भूतों की प्रकृति (अव्यक्त नामक अविद्यारूप भूतों की प्रकृति) के मोक्ष को अर्थात् उसका अभाव कर देने को भी **विदुः**—जानते हैं [क्षेत्रज्ञ को क्षेत्र से पृथक् कर उसके स्वरूप का साक्षात् करने से सर्व भूतों की अविद्या की निवृत्ति द्वारा कारणभूता प्रकृति से मोक्ष की प्राप्ति होती है-यह जो जानते हैं] **ते परम् यान्ति**—वे परमार्थ-तत्त्व स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं, अतः पुनर्जन्म नहीं पाते (फिर शरीर ग्रहण नहीं करते)।

टिप्पणी—(१) श्रीधर—अध्याय के अर्थ का उपसंहार करते हैं। एवम् जैसा इस अध्याय में कहा गया है उस प्रकार से **क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः अन्तरं**—क्षेत्र और

क्षेत्रज्ञ के अन्तर अर्थात् भेद को **ये ज्ञानचक्षुषा विदुः**—जो विवेक ज्ञान रूपी नेत्रों से (क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ को पृथक् कर) जानते हैं तथा **भूतप्रकृतिमोक्षं च विदुः**—तथा यह जो प्राणियों की प्रकृति कही गई है, उससे मोक्ष अर्थात् मुक्ति प्राप्ति के (छूटने के) उपाय जो ध्यान आदि हैं उसको भी जानते हैं **ते परम् पदं यान्ति**—वे परम् पद को (परमानन्द स्वरूप मोक्ष को) प्राप्त होते हैं—

विविक्तौ येन तत्त्वेन मिश्रौ प्रकृतिपुरुषौ।
तं वन्दे परमानन्दं नन्दनन्दनमीश्वरम् ॥

अर्थात्—मिले हुए प्रकृति और पुरुष इन दोनों को जिस परमात्मा के अनुग्रह से मनुष्य, तत्व के सहित अलग-अलग जानता है, उस परमानन्दनन्द नन्दन ईश्वर को मैं प्रणाम करता हूँ।

(२) **शंकरानन्द**—अध्याय का जितना अर्थ है उतने अर्थ का संक्षेप से प्रतिपादन करते हुए श्रीभगवान अध्याय का उपसंहार करते हैं। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः 'इदं शरीरं ज्ञात्वा क्षेत्रम्' इससे तथा 'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ' (गीता १३।१–२) इससे प्रतिपादित प्रकृति पुरुष के एवं 'महाभूतान्यहंकार' और 'ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि' इत्यादि वाक्यों से जैसा प्रतिपादित हुआ है इस प्रकार से **अन्तरं**—ज्ञेयत्व–ज्ञातित्व, बहुत्व-एकत्व, विकारित्व-अविकारित्व इत्यादि विशेषणों से क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ की विलक्षणता (पार्थक्य) को (क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ को पृथक् कर क्षेत्रज्ञ को अपने आत्मरूप से) तथा **भूतप्रकृतिमोक्षं च**—यहाँ 'भूत' शब्द से जो नाम रूपात्मक जगत् व्याप्त है एवं जो सत् शब्द से कहा जाता है उस जगत् को ग्रहण किया गया है। और प्रकृति शब्द से अव्यक्त नामक जगत् का जो कारण है जिसमें नाम, रूप स्पष्ट रूप से व्याप्त नहीं हुआ है एवं जिसको असत् शब्द से कहा जाता है, उसको ग्रहण किया गया है। उन भूतों और प्रकृति के मोक्ष को अर्थात वह न सत् और न असत् कहलाता है—इत्यादि श्लोक में जिस प्रकार कहा गया है उसी प्रकार से भूत और प्रकृति के मोक्ष को (उनका अभाव कर देने को) अर्थात् अविद्या रूपी मायाजनित व्यक्त तथा अव्यक्त जगत् की मूल सहित निवृत्ति के उपाय को ज्ञानचक्षु से अर्थात् पूर्वोक्त अमानित्व आदि साधन सम्पत्ति से और तीव्रमोक्ष की इच्छा से उत्तम रूप से अनुष्ठित श्रवण आदि से क्षेत्रज्ञ

और क्षेत्र के यथार्थ—स्वरूप को ग्रहण करने में समर्थ जो अतिसूक्ष्म ज्ञान है, वही चक्षु है, उस ज्ञानरूप चक्षु से **ये**—जो मुमुक्षु यति **विदुः**—जानते हैं अर्थात् प्रकृति और उसके कार्य के लय करने के पश्चात् उनके अधिष्ठानभूत निर्विशेष, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और सत् तथा आनन्दैकरस, अपूर्व, अनपर, अनन्तर, अग्राह्य तथा अद्वितीय ब्रह्म को 'यह मैं ही हूँ' इस प्रकार से जो जानते हैं वे परमपुरुषार्थ रूप विदेह कैवल्य को जाते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं।

(३) **नारायणी टीका**—अब सारे अध्याय का उपसंहार करके ज्ञान तथा ज्ञान का फल बतला रहे हैं। इस अध्याय में जिस प्रकार क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ का स्वरूप वर्णित हुआ है उसी रीति से जो क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का अन्तर अर्थात् पारस्परिक विशेष विलक्षणता अर्थात् दोनों में भेद (क्षेत्र जड़, विकारी, नाना, नाशवान्, दुःखमय, परिच्छिन्न तथा कल्पित होने के कारण मिथ्या है और क्षेत्रज्ञ चेतन, अविकारी, एक, अविनाशी, आनन्दस्वरूप, असीम (परिपूर्ण) एवं एक-मात्र सत्य वस्तु है, इस प्रकार के विशेष भेद को जो ज्ञानरूप चक्षु द्वारा [अमानित्व आदि विंशति प्रकार का जो ज्ञान अर्थात् ज्ञान के उपाय वर्णित हुए हैं (गीता १३।७–११) उनसे जो चक्षु (सम्यक् दर्शन) उत्पन्न होता है, उस ज्ञानदृष्टि से जो] जानता है कि परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान ही (अतः उस स्वरूप में स्थिति लाभ करना ही) भूत समूहों की जो कारणभूता प्रकृति (माया नामक अविद्या) है, उससे मोक्ष का अर्थात् उससे मुक्ति प्राप्ति का एकमात्र उपाय है, वह ब्रह्मस्वरूप परम पद को (मोक्ष को) प्राप्त होता है (एवं उसे प्राप्त कर फिर शरीर को ग्रहण नहीं करता है)।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

परिशिष्ट

नारायणी टीका

(त्रयोदश अध्याय क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग का तात्पर्य)

नारायणी टीका

त्रयोदश अध्याय का तात्पर्य

प्रत्येक प्राणी चाहता है—नित्यानन्द एवं परमशान्ति, दुःख या अशान्ति कोई नहीं चाहता है। इसीलिये प्राणीमात्र जो कुछ कर्म करता है उसका उद्देश्य होता है दुःख की निवृत्ति एवं आनन्द की प्राप्ति किन्तु जगत् की सभी वस्तुएँ ही अनित्य होने के कारण जागतिक किसी वस्तु की प्राप्ति से उसके नित्यानंद की प्यास नहीं मिटती। अतः जब तक जगत् प्रपंच के अनित्यत्व तथा असुखत्व (दुःखत्व) का अनुभव नहीं होता है तब तक जीव की अन्तर्मुखी होकर परमानन्दस्वरूप तथा परमशान्त अपने आत्मा का अनुसंधान करने की प्रवृत्ति नहीं होती है। खण्ड जीवचैतन्य जबतक अखण्ड, परमशान्त परमात्मा में प्रविष्ट होकर उस स्वरूप में स्थित नहीं होता है तबतक जीव की परमानन्द प्राप्ति की आशा कभी तृप्त नहीं हो सकती। जीव स्वरूपतः उसी आनन्द का स्वरूप है जिसको न जानने के कारण बाह्य पदार्थों से आनन्द की प्यास मिटाने के लिए वह जन्म-मरण के चक्र में सदा भटकता रहता है। जीव की आनन्दैकरस परमात्मा के साथ किस उपाय से मिलन होकर संसार प्रवाह से मुक्ति हो सकती है, उसे निर्धारण करना ही गीताशास्त्र का एकमात्र उद्देश्य है। इसलिए गीता के प्रथम छः अध्यायों में आत्मा के नित्य शुद्ध चैतन्यस्वरूप का वर्णन कर निष्काम कर्मयोग से चित्तशुद्धि प्राप्त करने के पश्चात् ज्ञानयोग का अधिकारी होकर आत्मसाक्षात्कार से निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त हो सकता है, यह विस्तृत रूप से कहा गया है। कर्मयोग से चित्तशुद्धि होने पर जो लोग स्वभावतः विचारवान् हैं वे ज्ञानयोग में प्रवृत्त होते हैं और जो लोग स्वभावतः कोमल हृदय से युक्त अर्थात् भाव-प्रवण होते हैं वे भक्तियोग का आश्रय करते हैं। यद्यपि साधन अवस्था में कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, इन तीनों का ही न्यूनाधिक समावेश रहता है तथापि जिसमें ज्ञानयोग का साधन प्रबल होता है उसे ज्ञानयोग कहते हैं एवं जिसमें भक्तियोग का साधन प्रबल होता है उसे भक्तियोग कहते हैं। कर्मयोग तो

दोनों के लिए ही साधारण साधन है। ज्ञानीभक्त के अलावा अन्य सभी भक्त ऐश्वर्ययुक्त भगवान् के अर्थात् सगुण ब्रह्म के उपासक होते हैं। इसलिए गीता के मध्यम षट्क में अर्थात् सात से लेकर बारह अध्याय तक आत्मस्वरूप भगवान् के ऐश्वर्य (विभूतियों) का निर्णय कर प्रधानतः भक्तियोग का लक्षण बतलाया है। यद्यपि इन छः अध्यायों में यथाक्रम से पाँचों उपासनाओं का ही वर्णन है, यथा–(१) ईश्वर में सर्व कर्म समर्पण रूप उपासना (२) मत्कर्मपरायणरूप (अर्थात् ईश्वर के लिए ही कर्म अनुष्ठान में तत्पर होना रूप) उपासना (३) विशेष-विशेष विभूतियों को भगवान् का प्रतीक मानकर उपासना अर्थात् प्रतीक (मूर्ति) उपासना (४) सगुण विश्वरूप की उपासना (५) अव्यक्त ब्रह्म की उपासना। किन्तु इन सभी उपासनाओं में भक्तियोग को ही प्राधान्य दिया गया है। गीता के तृतीय षट्क में अर्थात् त्रयोदश अध्याय से लेकर अठारह अध्याय पर्यन्त भक्तियोग तथा ज्ञानयोग का अन्तिम फल जो आत्मसाक्षात्कार अर्थात् ब्रह्म के साथ एकत्व अनुभवरूप सम्यक् दर्शन है, उसके लिए विशेष-विशेष साधन बतलाए गए हैं। प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही [अर्थात् नित्य शुद्ध चैतन्य-स्वरूप आत्मा जब प्रकृति के कार्य देहादि में माया (अविद्या) के कारण आत्म-अभिमान कर प्रकृति में जो संयोग प्राप्त होता है, उस संयोग से] स्थावरजङ्गमात्मक सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि होती है। अतः आत्मा अपनी कल्पनाशक्ति से सब कुछ सृष्टि कर अपने को बद्ध मानता है फिर दृश्य-प्रपंच से अपनी विलक्षणता जानने पर जब उस संयोग का अभाव होता है, तब प्रबुद्ध (जागा हुआ) पुरुष जिस प्रकार स्वप्न दृश्य से मुक्त होता है उसी प्रकार अपने यथार्थ स्वरूप में स्थिति लाभ कर आत्मा भी मुक्त हो जाता है। वस्तुतः वह न तो बद्ध होता है और न मुक्त होता है। इस तत्त्व का अवधारण करने के लिए चैतन्यस्वरूप (सबको सदा ही जानने वाला) आत्मा को जड़ प्रकृति से अलग करना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार पृथक्त्व ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। यही स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करने के लिए त्रयोदश अध्याय में क्षेत्रक्षेत्रज्ञ के विभाग योग की अवतारणा की गई है।

क्षेत्र कौन है, तथा क्षेत्रज्ञ कौन है एवं क्षेत्रज्ञ का स्वरूप तथा क्षेत्र का स्वरूप क्या है? (१३।१–६) (१) क्षेत्र है—यह शरीर अर्थात् इन्द्रियों तथा प्राण सहित समस्त भोगों के आश्रय जो देव, मनुष्यादि के शरीर हैं शास्त्रों में वही क्षेत्र नाम से कहलाता

है । [तत्त्वज्ञान से शीर्ण होता है अर्थात् तत्वज्ञान से यह शरीर सदा के लिए नष्ट हो जाता है अथवा जो क्षण-क्षण में क्षीण (नष्ट) होता है उसे शरीर कहते हैं अर्थात् त्रिगुणात्मिका प्रकृति देह—इन्द्रियादि रूपों में परिणत होकर पुरुष के भोग और अपवर्ग की सिद्धि के लिए जिस पिण्ड रूप से संहत (एकत्रित) होता है, उसे शरीर कहते हैं। वह शरीर ही क्षेत्र है क्योंकि वह अविद्या द्वारा आत्मा को क्षीण करता है एवं विद्या (ज्ञान) द्वारा आत्मा को त्राण करता है अथवा क्षेत्र के समान वह कर्म-बीजों के फलों की उत्पत्ति का स्थान होने के कारण उसे तत्वज्ञ पुरुष क्षेत्र कहते हैं। (१३।१) (२) क्षेत्रज्ञ कौन है—इस क्षेत्र को विषयरूप से (अपने से पृथक् रूप से) जो जानता है वह क्षेत्रज्ञ है, ऐसा क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के रहस्य को जानने वाले विद्वान् लोग कहते हैं (१३।१)। (३) क्षेत्रज्ञ का स्वरूप—क्षेत्रज्ञ दो प्रकार के हैं (क) व्यष्टि क्षेत्रज्ञ—जिसको जीव कहा जाता है अर्थात् अपने शरीरादि को विषयरूप से जानता है। (ख) दूसरा समष्टि क्षेत्रज्ञ—जो ब्रह्मादि स्तम्ब पर्यन्त समस्त शरीरों (क्षेत्रों) को जानता है उसे यथार्थ क्षेत्रज्ञ कहा जाता है अर्थात् जो समस्त शरीरों में चैतन्य-स्वरूप, नित्य, विभु, एवं अविद्या से आरोपित कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि समस्त संसार धर्म रूप उपाधियों से रहित है एवं जो असंसारी, अद्वितीय ब्रह्म सबके आत्मा रूप से विद्यमान है वही यथार्थ क्षेत्रज्ञ है (गीता १३।२)। अतः जीव जब देहादि में (क्षेत्र में) आत्माभिमान का परित्याग कर 'क्षेत्र दृश्य तथा मायाकल्पित होने के कारण मिथ्या है और मैं क्षेत्र तथा क्षेत्र के धर्म, कर्म सबको जानने वाला तथा सब क्षेत्रों का अधिष्ठान-रूप परमार्थ सत्य वस्तु क्षेत्रज्ञ, हूँ, इस प्रकार के ज्ञान को पारमार्थिक ज्ञान कहा जाता है क्योंकि इससे अविद्या का नाश कर आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करके जीव संसार से मुक्त हो सकता है। यही भगवान् का मत है [अर्थात् परमेश्वर के निश्वासभूत वेदादि सर्व शास्त्रों का मत अर्थात् सिद्धान्त है। इसलिए क्षेत्र से शुद्ध चैतन्य स्वरूप क्षेत्रज्ञ आत्मा को पृथक् कर उसके स्वरूप को जानना ही मनुष्य जीवन का परम पुरुषार्थ है यानी यथार्थ ज्ञान है (गीता १३।२)। (४) **क्षेत्र का परिचय**—(क) स्वरूप—क्षेत्र जड़ है, दृश्य है, परिच्छिन्न (सीमित) है, विकारी है, नाशवान है—यही क्षेत्र का (शरीरादि का) स्वरूप है।

(ख) क्षेत्र किसप्रकार धर्मादिविशिष्ट है—इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात (देह इन्द्रियादि की संहति—एकत्रित (कर रखना), चेतना (अग्नि में लोह पिण्ड के समान चैतन्यस्वरूप आत्मा के आभास से चेतनायुक्त होना), धृति (देह इन्द्रियादि अवसन्न होने पर प्रयत्न करके देह को सुस्थिर रखना)।

(ग) क्षेत्र किस प्रकार विकारयुक्त—क्षेत्र साक्षात् भाव से आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन पांचों महाभूतों का विकार है। पंच महाभूतों का कारण अहंकार (प्रकृति के कार्य में अभिमान) है; अहंकार का कारण बुद्धि (महत्तत्त्व) है क्योंकि समष्टि बुद्धि से ही प्रकृति के व्यष्टि कार्यों में (आकाशादि पंच महाभूतों में) अभिमान (अहंकार) होता है तथा बुद्धि का कारण है अव्यक्त (प्रधान या मूल प्रकृति)। अतः सांख्यमतानुसार क्षेत्र इस प्रकार विकारों के ही फलस्वरूप है। सत्व, रज, तम, इन तीनां गुणों की साम्यावस्था को अव्यक्त या मूल प्रकृति कहा जाता है। इन तीनों में चंचलता (विषम अवस्था) उत्पन्न होने पर अव्यक्त व्यक्त में परिणत होता है। अव्वक्त का पहला परिणाम है—महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि); महत्तत्त्व से व्यष्टिबुद्धि और व्यष्टि बुद्धि से अहंकार; अहंकार से पंचतन्मात्राएँ (आकाशादि प्रंचभूतों की अति सूक्ष्म परमाणु-अवस्था) एवं पंचतन्मात्राओं से पंच स्थूलभूत तथा पंचविषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध); अहंकार के राजसिक गुण से दस इन्द्रियाँ (पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ) एवं अहंकार के सात्विक गुण से इन्द्रियों के देवता तथा मन (अन्तः-करण) की सृष्टि होती है।

[वेदान्त मत में क्षेत्र इस प्रकार क्रमशः विकारयुक्त हुआ है। एकमात्र सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वरूप आत्मा ही सत्य वस्तु है और उनकी एक कल्पना शक्ति है जिसको माया कहते हैं। कल्पना कोई वस्तु न होने के कारण उनके (ब्रह्म के) अद्वैत की कोई हानि नहीं होती है। वह परम पुरुष अपनी माया का आश्रय कर अपने को पुरुष और प्रकृति में (द्रष्टा-दृश्य रूप से) विभक्त कर अपने आप में स्वप्न द्रष्टा के समान लील करता है एवं स्वयं ही जीव होकर अपनी ही मायाजाल में मानों मकड़ी के समान बद्ध हो गया हो—इसप्रकार नाटक करते हुए अपने स्वरूप को भूलकर जन्म-मरण के प्रवाह में घूमता है तथा अपने आपही तत्वज्ञान लाभकर

मायाजाल को अपने अन्दर ही समेट लेता है एवं अपने स्वरूप में स्थित होकर मानों मुक्त हो जाता है। वस्तुतः बन्धन-मुक्ति उसमें नहीं है। उनकी माया से ही इस प्रकार दिखाई पड़ता है। माया और मायावी ब्रह्म (शक्ति और शक्तिमान्) जब अभिन्न रहते हैं तब उसी अवस्था को अव्यक्त या अव्याकृत कहा जाता है। श्रुति कहती है— सदेव सौम्येदमग्र आसीत्—सोऽकामयत अहं बहु स्याम् प्रजायेयेति स तपोऽतप्यत। ततस्तत्त्वेदं सर्वमसृजत। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। अर्थात् एक-मात्र सद्ब्रह्म ही पहले था, उसने कामना (निश्चय) कर लिया कि मैं बहुरूपों में अपनी सृष्टि करूंगा फिर उन्होंने तप किया अर्थात् किस प्रकार से सृष्टि करेंगे यह धारणा की। फिर उसने जिस प्रकार संकल्प कर लिया था उसी प्रकार सृष्टि कर दी और सृष्टि करने के पश्चात् प्रत्येक वस्तु में उसी ने प्रवेश कर लिया। इसप्रकार उनकी कामना या निश्चय ही महत्तत्त्व या समष्टि बुद्धि है, 'बहु स्याम्' (बहु हो जाऊँ) यह अहंकार है एवं अहंकारसे आकाशादि अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों की (तै० उ०......) तथा पंच तन्मात्रा एवं स्थूल पञ्चीकृत एंव महाभूतों की क्रमशः उत्पत्ति हुई एवं साथ ही साथ इन्द्रियाँ, मन इत्यादि की भी उत्पत्ति हुई। वस्तुतः (वेदान्त मत में) सृष्टि हुई ही नहीं; वह तो केवल प्रतीति-मात्र है। इसलिए क्षेत्र तथा क्षेत्र के कर्म या धर्म जो कुछ कहे गए हैं वे सभी अज्ञान से दिखाई देते हैं। अतः वे सब मिथ्या ही हैं]। इसप्रकार विकार-युक्त क्षेत्र का संक्षेप से जो विवरण भगवान् ने दिया, उसको ध्यान से सुनने के लिए भगवान् ने अर्जुन को कहा क्यों इसप्रकार क्षेत्र का स्वरूप, धर्म, विकार आदि के श्रवण तथा मनन से ही इन सबके अनित्यत्व तथा मिथ्यात्व को निश्चय करके जोव अपने क्षेत्रज्ञ को पृथक् करने में समर्थ होता है एवं (निर्विकल्प समाधि से) अपने स्वरूप का साक्षात्कार कर मुक्त हो सकता है। ऋषि लोगों ने बहुत प्रकार से इन क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के स्वरूप को स्मृति पुराण आदि में प्रतिपादित किया है तथा ऋक् आदि वेदों में एवं शतपथादि ब्राह्मण भागों में क्षेत्रज्ञ आत्मा को क्षेत्र से पृथक् कर वर्णन किया है। उनमें दोनों का स्वरूप पृथक्-पृथक् वर्णित हुआ है एवं ब्रह्मसूत्र पदों में भी 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि से यह प्रतिपादित हुआ है। युक्तिवादियों ने भी नाना प्रकार की युक्तियों से क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का तत्त्व विशेष रूप से निर्णय कर वर्णन किया है एवं उसको ही

भगवान् ने संक्षेप में अर्जुन को बतलाया। अतः यह अत्यन्त ध्यान से सभी मुमुक्षुओं को सुनने के योग्य विषय है—यही भगवान् के कहने का अभिप्राय है (गीता १३।३-६)।

तत्त्वज्ञान प्राप्ति के उपाय (१३।७-१२)

दूसरे श्लोक में कहा गया है कि क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ को पृथक् कर क्षेत्रज्ञ का स्वरूप जानना ही यथार्थ ज्ञान है। उस ज्ञान (यथार्थ तत्वज्ञान) की प्राप्ति के लिए भगवान्ने बीस उपाय (साधन) बतलाए यथा—

(१) **अमानित्व**—मैं बड़ा हूँ इसप्रकार आत्मश्लाघा से रहित होना।

(२) **अदम्भित्व**—मैं बड़ा धार्मिक हूँ—इसप्रकार दम्भ प्रकट नहीं करना।

(३) **अहिंसा** शरीर, मन, वाणी से प्राणियों को पीड़ा न देना।

(४) **क्षान्ति**—दूसरे के द्वारा दिया हुआ उत्पीड़न सहन कर क्षमा करना।

(५) **आर्जव**—सरलता अर्थात् निष्कपटता [उपर्युक्त पांचों गुणों से सम्पन्न व्यक्तियों के चित्तविक्षेप का कोई हेतु न रहने के कारण स्वतः ही विषयों से उनके मनका प्रत्याहार करके आत्मध्यान करने की सामर्थ्य होती है। इसलिए ये सब तत्वज्ञान की प्राप्ति में अत्यन्त सहायक हैं]।

(६) **आचार्योपासन**—वेदादि शास्त्रों को जानने वाला तथा आत्मज्ञान सम्पन्न गुरु की शुश्रूषा, नमस्कार आदि सेवन करना [गुरु की निष्कपट सेवा से जो अहंकार आत्माको आवृत करके रखता है, उसकी निवृत्ति होती है। दूसरी बात यह है कि गुरु की प्रसन्नता तथा कृपा से ही आत्मदर्शन के मार्ग में साधक अग्रसर हो सकता है—अपनी बुद्धि से या सामर्थ्य से नहीं। इसलिए आचार्य की सेवा ज्ञानलाभ करने के लिए एक प्रधान साधन है।]

(७) **शौच**—मृत्तिका, जल इत्यादि द्वारा तथा सात्त्विक आहारादि द्वारा शारीरिक मल का नाश होता है एवं मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि द्वारा रागद्वेषादि रूप अन्तर्मल (भीतर का अर्थात् चित्त का मल) दूरीभूत होता है! बाह्य शौच का पुनः-पुनः अभ्यास करने से अपने शरीर तथा दूसरे के शरीर के

प्रति अनासक्ति होती है एवं अन्तर्शौच के अभ्यास से चित्त के सब प्रकार से मल नष्ट होने के कारण साधक आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त करता है क्योंकि स्वच्छ निर्मल चित्त में ही आत्मा का प्रकाश होता है—अन्यत्र नहीं।

(८) **स्थैर्य**—मोक्ष के मार्ग में बहु विघ्न उपस्थित होने पर भी मन को दृढ़ प्रयत्नों से ध्येय वस्तु में स्थिर रखने को स्थैर्य कहते हैं।

(९) **आत्मविनिग्रह**—आत्मा से भिन्न अन्य समस्त विषयों से आत्मा अर्थात् मन का विशेष रूप से निग्रह (निवृत्ति) करना आत्मविनिग्रह है।

(१०) **इन्द्रियार्थों मे वैराग्य**—आत्मा से अतिरिक्त बाह्यक शब्दादि विषयों से अर्थात् दृष्ट एवं अदृष्ट भोग्य वस्तुओं से विरक्ति।

(११) **अनहंकार**—अनात्म देहादि में आत्म-अभिमान करके देहादि के धर्मों को अपने धर्म मानने को अहंकार कहा जाता है इस प्रकार अहंकार से रहित होना अनहंकार है। [स्थैर्य से लेकर अनहंकार पर्यन्त जिन चारों साधनाओं का वर्णन है उनसे जो सम्पन्न नहीं है वह कभी समाधि को प्राप्त नहीं हो सकता है क्योंकि इससे विपरीत अवस्था रहने पर चित्त की चंचलता अवश्य रहेगी अतः निर्विकल्प समाधि से आत्मदर्शन भी सम्भव नहीं हो सकेगा।]

(१२) क—**जन्मदुःख**—मातृगर्भ में वास एवं गर्भ से निस्सरण अतिशय क्लेशकर होने के कारण जन्म भी दुःख ही है।

(ख) **मृत्युदुःख**—मर्म स्थान समूह को छिन्न-भिन्न कर जब प्राण का उत्क्रमण होता है तब अत्यन्त दुःख होता है—इस विषय पर तो कहना ही क्या है ?)।

(ग) **जरादुःख**—(जरा वार्धक्य से आक्रान्त होने पर शरीर बल एवं प्रज्ञाशक्ति से रहित होता है। इसलिए यह अत्यन्त दुःखदायक है।

(१३) **व्याधिदुःख**—इस दुःख का अनुभव तो सबको ही होता है [अतः इसप्रकार चारों दुःखों का पुनः पुनः दोषदर्शन (आलोचना) करने पर देह के प्रति आसक्ति तथा विषय भोग की वासना क्षीण (नाश) होती हैं एवं इससे जो देह तथा

विषय के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है वह आत्मज्ञान की प्राप्ति की तृष्णा जाग्रत कर देता है इसलिए इन सबका दोषदर्शन आत्मज्ञान का साधन है।]

(१४) **असक्ति तथा अनभिष्वंग**—(लिप्ता के अभाव) पुत्र, दारा, गृहादि में एवं दूसरी सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति 'ये मेरा हैं', इसप्रकार की विशेष वृत्ति को सक्ति कहते हैं और सक्ति की परिपक्व अवस्था में स्त्री पुत्रादि का सुख ही मेरा सुख है, उनका दुःख ही मेरा दुःख है, उनका जीवन तथा मरण मेरा भी जीवन और मरण ही है—इस प्रकार के मन के भाव को अभिष्वंग कहते हैं। सक्ति एवं अभिष्वंग का अभाव अर्थात् असक्ति (अनासक्ति) एवं अभिष्वंग जिसको पुत्र दारादि विषयों में है, वही परमात्मा के ध्यान में निश्चल मन से मग्न रह सकता है। इसलिए यह ज्ञान का उपाय है।)

(१०) **समचित्तता**—इष्ट एवं अनिष्ट उपस्थित होने पर भी इष्ट प्राप्ति में हर्ष नहीं है एवं अनिष्ट प्राप्ति में जो उद्वेग से शून्य है वह नित्य समचित्त है। इस प्रकार चित्त ही आत्मप्रकाश को ग्रहण करने में समर्थ होता है अतः यह तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का उपाय है।

(१६) **अनन्य योग से भगवान् में अव्यभिचारिणी भक्ति**—सर्वात्मा भगवान् वासुदेव के अतिरिक्त और कोई श्रेष्ठ नहीं है, अतः वही मेरी परमगति है, ऐसी बुद्धि को अनन्य योग कहते हैं। इस प्रकार की बुद्धि से मुझमें (परमात्मा वासुदेव में) स्थिर (अविचलित) भक्ति से अर्थात् किसी प्रकार प्रतिकूल अवस्था होने पर भी जो भक्ति विचलित नहीं होता है इसप्रकार की भक्ति से ही साधक निरन्तर भगवान् का स्मरण कर सकता है एवं उसके साथ एक होकर उनके स्वरूप का साक्षात् अनुभव कर सकता है।

(१७) **विविक्त देशको सेवा**—विविक्त अर्थात् स्वभावतः या संस्कार से शुद्ध अर्थात् अशुचि, चोर, सर्प, व्याघ्रादि के भयशून्य तथा चित्तप्रसादकर निर्जन स्थान की सेवा करने पर ही अर्थात् पवित्र एवं निर्जन स्थान में रहने पर ही आत्म-भावना सम्भव होती है। इसलिए यह तत्वज्ञानप्राप्ति का एक विशेष उपाय है,

(१८) **आत्मज्ञान से विमुख जन समाज में रतिहीनता (अरुचि)**— आत्मज्ञान से विमुख संस्कारहीन अज्ञ जन समाज के प्रति अरति अरुचि ।

(१९) **अध्यात्मज्ञान में निरंतर निष्ठा**—[आत्मा को अधिकार करके जो ज्ञान होता है उसको (आत्मविषयक ज्ञान को) अध्यात्मज्ञान कहते हैं। अनात्मवस्तु से आत्मा को पृथक् कर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही अध्यात्मज्ञान है अर्थात् आत्मस्वरूप का ज्ञान ही अध्यात्म-ज्ञान है। उसमें नित्यत्व (नित्यभाव) या निष्ठा जिस साधक की है वही आत्मसाक्षात्कार का अधिकारी पुरुष है।]

(२०) **तत्वज्ञानार्थदर्शनम्**—तत्वज्ञान का अर्थ अर्थात् मोक्ष (संसार से उपराम) रूप प्रयोजन की निरन्तर आलोचना करता हुआ योगी ही शीघ्र आत्म-साक्षात्कार कर सकता है।

उपर्युक्त बीस प्रकार से ज्ञान का वर्णन किया गया है। इन सबका निरन्तर अनुष्ठान करने पर तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। अतः ये **ज्ञान के साधन**—होने के कारण इनको ज्ञान कहा गया है। इसके विपरीत मानित्व, दम्भित्व आदि सभी ज्ञान स्वरूप परमात्मा से हटा कर चित्त को विचलित करके संसार के विषयों में डाल देते हैं। अतः ये सभी अज्ञान नाम से अभिहित होते हैं।

उक्त अमानित्व आदि बीस प्रकार के साधनों में निषिद्ध का त्याग, विहित का ग्रहण, भगवान् में भक्ति तथा परोक्ष ज्ञान—इन सब अत्यावश्यक मोक्ष के उपायों का वर्णन किया गया है।

ज्ञेय का स्वरूप (१३।१२–१७)

पांच से ग्यारह श्लोक तक कहे गए साधनों से जिस वस्तु को जाना जाता है एवं जिसको जान लेने पर जीव मृत्युरहित (अमृत) मोक्ष पद को प्राप्त होता है, उस ब्रह्म का स्वरूप भगवान् ने अर्जुन को बतलाया। परम् ब्रह्म ही वह ज्ञेय (जानने योग्य) वस्तु है। वह ब्रह्म—

(१) **अनादिमत्**—है अर्थात् ब्रह्म नित्य एवं स्वयंप्रकाश होने के कारण

इसका कोई आदि (कारण) नहीं है अर्थात् ब्रह्म कार्य–कारणात्मक जगत् से अतीत तथा विलक्षण है।

(२) **सद् भी नहीं है, असद् भी नहीं है**—वह अस्ति वाचक शब्द का विषय एवं नास्ति (निषेध) वाचक शब्द का विषय भी नहीं है। साधारणतः व्यक्त कार्यों को (जो चक्षु, कर्ण इत्यादि इन्द्रियों का विषय होता है उन प्रकृति से उत्पन्न हुए कार्यों को) 'सत्' कहते हैं एवं जो स्थूल रूप से प्रकट नहीं होता है परन्तु अव्यक्त कारण रूप में स्थित है उसे 'असत्' कहते हैं। ब्रह्म अनादि तथा अनन्त होने के कारण न तो वह कार्य रूप सत् है और न ही कारण रूप असत् है अर्थात् ब्रह्म को किसी विशेषण से विशेषित नहीं किया जा सकता है। कार्य-कारणात्मक सब विषयों का प्रतिषेध कर (नेति-नेति कर) सर्वप्रपञ्च का उपशम होने पर वह अपने आप केवल अपने अद्वितीय स्वरूप में निरन्तर स्थित रहता है। उस स्वरूप का साक्षात्कार होने पर ही जीव कृतकृत्य होता है (१३।१२)।

(३) **सर्वव्यापी है**—अर्थात् वह सर्वत्र हाथ, आँख, सिर, मुख एवं कर्ण विशिष्ट है अर्थात् सर्व शरीरों में जितने हाथ, आँख, सिर, मुख, कान अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त हैं ये सब चेतन क्षेत्रज्ञ के ही हैं। एक अद्वितीय ब्रह्म ही सब अचेतन दृश्य वर्ग को (जागतिक सब वस्तुओं को) अपनी सत्ता और स्फूर्ति से सत्तावान और प्रकाशित कर आध्यासिक सम्बन्ध से व्याप्त करते हुए भी अपने निर्विकार स्वरूप में सदा ही स्थित रहता है अतः (क) वह जड़ प्रपंच से **गुण तथा दोष द्वारा अणुमात्र भी सम्बद्ध नहीं होता है**—(ख) सर्वव्यापी होने के कारण देह नाना होने से भी **आत्मा एक ही है**। (ग) सब वस्तुओं के साथ केवल आध्यासिक (औपचारिक) संबंध रहने से आत्मा के अतिरिक्त सब वस्तुओं का मिथ्यात्व तथा आत्मा का नित्यत्व, एवं अद्वितीयत्व सिद्ध होता है।

(४) सर्व इन्द्रियों से वर्जित होने पर भी आत्मा सर्व इन्द्रियों के गुणों में (अध्यवसाय-संकल्प-श्रवणवचनादि रूप व्यापारों में) व्यापृत है, ऐसा प्रतीत होता है अर्थात सर्व **इन्द्रियों के गुणों में (व्यापारों में) उसका प्रकाश अनुभूत होता है।**

(५) परन्तु वह **असक्त है**। अर्थात् सबको व्याप्त करके रहने पर भी (सर्व व्यापी होने पर भी) किसी से संस्पर्श या संग प्राप्त नहीं होता है।

(६) वह सर्व भूतों का आधार या अधिष्ठान है अर्थात् माया से कल्पित तथा निरन्तर परिवर्तनशील जगत् प्रपंच का **भरण पोषण करता है**।

(७) **निर्गुण है**—अर्थात् सत्त्व, रजः, तमः गुणों से रहित है तथापि वह गुणों का भोक्ता है अर्थात् चैतन्यस्वरूप होने के कारण सत्त्व, रजः, तमः गुणों से उत्पन्न हुए शब्दादि विषयों का तथा उनके परिणाम स्वरूप सुख, दुःख, मोहादि का **भोक्ता**—(उपलब्धि करने वाला) है अथवा वह गुणों का भोक्ता अर्थात् पालक है। सिनेमा का सफेद पर्दा जिस प्रकार सिनेमा के दृश्यों का अधिष्ठानरूप से पालन करता है उसी प्रकार सबके अधिष्ठानरूप ब्रह्म त्रिगुणों के सभी परिणामों का सदा पालन करता है क्योंकि चेतन के बिना उनका परिणाम तथा पालन नहीं हो सकता (१३।१३–१४)।

(८) **चराचर सर्वभूतों के अन्दर तथा बाहर विद्यमान है**। जिस प्रकार रज्जु में कल्पित दण्ड, धारा इत्यादि में बाहर, भीतर एक मात्र सर्प ही विद्यमान रहता है उसी प्रकार आत्मा में कल्पित दृश्यप्रपंचों के बाहर, भीतर एक-मात्र परमात्मा की सत्ता ही विद्यमान है।

(९) वह निरवयव होने के कारण **अतिसूक्ष्म है**—अतः इन्द्रियादि का अविषय होने के कारण 'इदमेवम्' (यह इस प्रकार है) ऐसा अज्ञानी (बहिर्मुखी) लोग नहीं जान सकते हैं। अतः उनके लिए **अविज्ञेय**—है (जानने के योग्य नहीं है)।

(१०) इस कारण आत्मज्ञान के साधनों से शून्य मूढ़ व्यक्तियों के लिए वह **दूर से भी दूर स्थित है**—एवं

(११) ज्ञान के साधनों से सम्पन्न विद्वानों के वह **अति निकट है**—क्योंकि वे जानते हैं कि वह ब्रह्म अपनी ही आत्मा है (१३।१४)।

(१२) वह ज्ञेय ब्रह्म आकाश के समान **अविभक्त होने पर भी**—घटाकाश, गृहाकाश के समान भिन्न-भिन्न प्राणियों में 'मैं देव हूँ', 'मैं मनुष्य हूँ,' इस प्रकार प्रति

देह में भिन्न-भिन्न अभिमानी पुरुष के रूप से अज्ञान के कारण प्रतीयमान होता है अर्थात् ब्रह्म एक, पूर्ण तथा अनन्त है तथापि उपाधि भेद से वह विभक्त (भिन्न भिन्न), अपूर्ण तथा सीमित प्रतीत होता है।

(१३) वह सर्वभूतों का **पालनकर्ता, संहार (ग्रास) कर्ता**—तथा **सृष्टिकर्ता**—है। वस्तुतः सृष्टि, पालन तथा संहार माया के ही कार्य हैं एवं उसके परमात्मा में अध्यस्त (आरोपित) होने से परमात्मा ही सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय करता है–ऐसा दिखाई देता है (१३।१६)।

(१४) वह **ज्योति का भी**—अर्थात् सूर्यादि का भी **ज्योति**—(प्रकाशक) है अर्थात् ब्रह्म स्वयंप्रकाश होने के कारण तथा जगत् प्रपंच ब्रह्मरूप अधिष्ठान में अविद्या से कल्पित (अतः मिथ्या) होने के कारण ब्रह्म की सत्ता से ही ये सब सत्तावान् तथा ब्रह्म के प्रकाश से ही ये सब प्रकाशित हो रहे हैं, इसलिए श्रुति कहती है—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

(१०) वह **तम से परे हैं**—अर्थात् अविद्याजनित प्रकृति तथा प्रकृति के कार्यों से अतीत है अर्थात् अज्ञान से उत्पन्न हुए जड़ दृश्य प्रपंच उसे स्पर्श भी नहीं कर सकते।

(१६) ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई पारमार्थिक वस्तु न रहने के कारण वह **ज्ञान**—अर्थात् अमानित्व आदि जो ज्ञान के साधन बतलाए गए हैं उन सब के रूप में भी ब्रह्म ही अविद्या से प्रतीत होता है। वह **ज्ञेय**—है अर्थात् उक्त साधनों से जानने के योग्य ज्ञेय (ब्रह्म) है, फिर वही **ज्ञानगम्य**—है अर्थात् ब्रह्म को जान लेने पर जो अमृतत्व (मोक्ष) रूपी फल प्राप्त होता है वह भी ब्रह्म ही है। और वह दूर भी नहीं है क्योंकि वह ज्ञान, ज्ञेय एवं ज्ञानगम्य रूपों से सभी के हृदय (बुद्धि) में आत्मा के रूप से अधिष्ठित (स्थित) है अर्थात् अपने स्वरूप से लेशमात्र भी विचलित न होकर सदा ही स्थित रहता है (१३।१७)।

[ज्ञेय ब्रह्म के उक्त प्रकार के जो सब लक्षण बतलाए गए हैं वे सभी तटस्थ लक्षण हैं अर्थात् उपाधियुक्त ईश्वर के लक्षण हैं।]

उपर्युक्त क्षेत्र, ज्ञान (ज्ञान के साधन) तथा ज्ञेय ब्रह्म के स्वरूप को जानने का क्या फल है ! (१३।१८)

जो भगवान् का भक्त होता है अर्थात् परमगुरु भगवान् वासुदेव ही सबकी आत्मा हैं–ऐसा निश्चय कर जो अनन्य भावना से एकमात्र भगवान् की ही शरण लेता है, वह विवेक-बुद्धि से क्षेत्र, ज्ञान के साधन तथा ज्ञेय का स्वरूप जानकर विशेष भाव से भगवान् के भाव को अर्थात् सर्व अनर्थों के नाश करनेवाले परमानन्द स्वरूप मोक्ष भाव (मोक्ष पद) को प्राप्त करने में समर्थ है। भगवान् में एकान्त भक्ति के विना यह सम्भव नहीं होता है क्योंकि परमात्मा ही जीव रूप में नाटक कर रहे हैं, अतः उनकी प्रेरणा तथा कृपा विना जीव-बुद्धि से हजारों प्रयत्न करने पर भी साधक उनके स्वरूप को जानने में समर्थ नहीं होता है। इसलिए भगवान् ने विशेष रूप से कहा है–'मद्भक्त एतद्विज्ञाय' इत्यादि। [अध्यात्म रामायण में (आदि काण्ड ७।३५–३७), (उत्तर काण्ड ३।५१–५३), (लंका काण्ड ७।६६–६७) में यही बात विस्तृत रूप से कही गई है।]

माया की दो शक्तियाँ पुरुष और प्रकृति अनादि हैं (१३।१९)

त्रिगुणात्मिका पारमेश्वरी माया शक्ति दो प्रकार से प्रकट होती है–(१) क्षेत्र जिसको सातवें अध्याय में ४–५ श्लोकों में अपरा प्रकृति कहा गया है एवं (२) व्यष्टि क्षेत्रज्ञ जिसको जीव रूपी पराप्रकृति कहा गया है एवं जिसको अब पुरुष नाम से अभिहित कर रहे हैं। पहले ही कह चुके हैं कि प्रकृति ही जगत् की सृष्टि, स्थिति, प्रलय का कारण है परन्तु केवल जड़ प्रकृति चेतन की सहायता के विना कोई भी कर्म करने में असमर्थ है। यह भी कहना ठीक है कि पूर्ण चैतन्यस्वरूप निर्विकार परमात्मा का कोई प्रयोजन न रहने के कारण उनसे कोई क्रिया हो ही नहीं सकती, तथापि जब अनिर्वचनीय माया (अविद्या) का शक्ति के प्रभाव से उस शुद्धचैतन्य-स्वरूप परमात्मा की कल्पना से उत्पन्न हुए अन्तःकरण में तथा उसके धर्मों में आत्माभिमान (तादात्म्य बुद्धि) होता है तब वह अन्तःकरण एवं उसके साथ-साथ इन्द्रियाँ, देह आदि भी चेतन के समान कार्य करते हैं। इसप्रकार चिदाभासयुक्त अन्तःकरण को

व्यष्टि क्षेत्रज्ञ अथवा जीवाख्य पराप्रकृति अथवा पुरुष कहा जाता है। अतः पुरुष और प्रकृति से ही जागतिक कार्य सम्पन्न हो रहा है एवं शुद्ध आत्मा इन दोनों से विलक्षण है, इस तत्व को जानना मुमुक्षु को जन्म-मृत्यु के प्रवाह से छुटकारा पाने के लिए आवश्यक है। माया कोई वस्तु नहीं है अतः उसका आदि या कारण नहीं हो सकता अर्थात् वह अनादि है। इसलिए माया से प्रतीत होने वाली क्षेत्रस्वरूपा अपरा-प्रकृति तथा जीव नामक पराप्रकृति अर्थात् पुरुष, दोनों ही अनादि हैं। एवं ये दोनों प्रकृतियाँ जब तक कार्य करती हैं तब तक ही ईश्वर का ईश्वरत्व है। इनका अभाव होने पर ईश्वर का ईश्वरत्व भी नहीं रहता है।

प्रकृति और पुरुष का धर्म क्या है? (१३।२०)

(१) प्रकृति (अपरा प्रकृति) का धर्म है कार्यकारण कर्तृत्व—जगत् में सत्त्व, रजः, तमः ये तीनों गुण एवं तीनों गुणों से उत्पन्न हुआ सुख, दुःख, मोह तथा इन तीनों गुणों के विकार आकाशादि महाभूत, तथा चक्षु, कर्ण इत्यादि करण (इन्द्रियाँ) तथा मन बुद्धि, अहंकार इत्यादि सब प्रकार के विकार प्रकृति से (अपरा प्रकृति से) ही उत्पन्न हुए हैं अर्थात् ये सब अपरा प्रकृति के परिणाम ही हैं। अतः कार्य एवं कारण रूप में तथा उन कार्यकारणों के कर्तृत्व में (तत्–तत् आकार में परिणाम प्राप्ति में) जो कुछ दिखाई देता है उन सबका हेतु (कारण) प्रकृति ही है, ऐसा कपिलादि सभी ऋषि लोगों ने निर्णय किया है।

(२) परा प्रकृति या पुरुष का धर्म भोक्तृत्व—अपरा प्रकृति से उत्पन्न हुए विषयों के संग से जो सुख, दुःख, मोह उत्पन्न होते हैं उनके भोक्तृत्व में [या यदि अन्य प्रकार भोग्यत्व बुद्धि का उदय होता है तो उनके भोक्तृत्व में] पुरुष अर्थात् जीवाख्य पराप्रकृति हेतु (कारण) है। अपरा प्रकृति जड़ है। अतः चेतन स्वरूप चिदाभासयुक्त पुरुष की सन्निधि में सभी कार्यों में अपरा प्रकृति का कर्तृत्व सम्भव होता है। भोक्तृत्व शब्द का अर्थ है दुःख, सुख इत्यादि का संवेदन (सम्यक् प्रकार का बोध), अतः भोक्तृत्व चेतन का धर्म ही है किन्तु प्रकृति की सन्निधि से अर्थात् प्रकृति के

साथ संग करने से ही पुरुष का भोक्तृत्व संभव होता है–अन्यथा स्वरूप में उसका भोक्तृत्व नहीं है। (गीता १३।२०)।

शुभ और अशुभ योनियों में भ्रमण का कारण है प्रकृति और पुरुष का संयोग (१३।२१)

पुरुष अपने स्वरूप से परमब्रह्म ही है। जब तक वह अविद्या स्वरूपा कार्य-कारण रूप से परिणता अपरा प्रकृति तथा उसके कार्यों में आत्माभिमान (मैं और मेरापन) करता रहता है तब तक ही उसे पुरुष, पराप्रकृति या जीवचैतन्य कहा जाता है क्योंकि वह इस प्रकार प्रकृति में स्थित होकर ही अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न हुए कार्यों को (दृश्य पदार्थों का) द्रष्टा होकर भी उनमें आत्मबुद्धि करके प्रकृति से उत्पन्न हुए सुख, दुःख इत्यादि को भोगता है अर्थात् अपना मानता है। अतः गुण संग [सत्त्व, रज, तम गुणात्मिका प्रकृति के संग (उसमें आत्मभाव)] करने के कारण ही शुभ-अशुभ एवं शुभाशुभ मिश्रित योनियों में जीव भ्रमण करता रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि केवल प्रकृति से उत्पन्न हुए प्रपञ्च रूप विषय पुरुष के संसार बन्धन का हेतु नहीं है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति से रचित विषयों का ध्यान करते हुए जब पुरुष का उनमें संग होता है (गुणों के साथ संग होना है) तभी उनकी प्राप्ति के लिए काम (इच्छा) जाग्रत होती है। काम की सिद्धि के लिए क्रतु (उपायों का संकल्प) होता है, संकल्पानुसार शुभाशुभ कर्म होता है एवं जिस प्रकार कर्म होता है उसी के अनुसार फिर शुभ (देवादि), अशुभ (सर्प, कीट, व्याघ्र इत्यादि) एवं शुभाशुभ मिश्रित इस प्रकार जन्म प्रवाह एवं सुख, दुःख इत्यादि का भोग तब तक ही चलता है जब तक कि जीव **'प्रकृतिस्थ'** रहता है अर्थात् अपने स्वरूप को भूलकर प्रकृति के कार्यों को ही अपने कार्य मानकर प्रकृति में मग्न रहता है। यही संसार-बन्धन है और जब प्रकृति को त्याग करके 'आत्मस्थ' होता है (अपने यथार्थ स्वरूप में स्थित होता है) तब वही जीव परमब्रह्म की स्वरूपता प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। वस्तुतः आत्मा में बन्धन या मोक्ष नहीं है। बन्धन-मोक्ष, जन्म-मृत्यु इत्यादि तो मिथ्याज्ञान (मिथ्याभिमान) के ही

खेल हैं। अतः जीवरूपी पराप्रकृति तथा अपरा प्रकृति दोनों ही माया का आभास होने के कारण मिथ्या ही हैं। (१३।२१)

पुरुष का यथार्थ स्वरूप (१३।२२)

अपरा प्रकृति के परिणामस्वरूप इस देह में जीव रूप से विद्यमान रहने पर भी पुरुष का यथार्थ स्वरूप विषय के भोक्ता तथा जन्म-मरण प्रवाह में चलने वाले जीव से भिन्न है—

(क) क्योंकि अपने स्वरूप से वह असंसारी होने के कारण प्रकृति के गुण किसी प्रकार से उसको स्पर्श नहीं कर सकते। स्वरूपतः वह **उपद्रष्टा** है अर्थात् प्रकृति के कार्यों में स्वयं अप्रवृत्त रहकर उसकी सन्निधि में प्रकृति जो कार्य कर रही है उनको उदासीन भाव से केवल देखता (जानता) ही रहता है।

(ख) उसी प्रकार उसकी सन्निधि में स्वतन्त्र भाव से सर्व प्रकार से कर्म करती हुई भी प्रकृति को उन कार्यों से आत्मा कभी निवृत्त नहीं करता है (नहीं रोकता है), यही मानो उसका अनुमोदन है। इसलिए स्वरूप में जीव कर्ता, भोक्ता नहीं है, वह **अनुमन्ता** है।

(ग) फिर वह **भर्ता** भी है अर्थात् रज्जु जिस प्रकार अपने अधिष्ठान में प्रतीत हुए सर्प, धारा, दण्डादि को धारण या पोषण करती है उसी प्रकार आत्मा भी प्रकृति के कार्यों को अपनी सत्ता से सत्तावान् कर तथा अपनी स्फूर्ति से प्रकाशित कर धारण या पोषण करता है।

(घ) वह आत्मा **भोक्ता** भी है। भोक्तृत्व चेतन का धर्म है। प्रकृति अपना सारा कार्य उस चेतन सत्ता को ही अर्पण करती है परन्तु आत्मा केवल निर्विकार रूप से उन सब भोग्य वस्तुओं तथा अर्पणरूप क्रियाओं की उपलब्धि करता है—देखता है। इसलिए आत्मा को भोक्ता कहा जाता है अर्थात् आत्मा का भोग न रहते हुए भी वह द्रष्टा या विज्ञाता होने के कारण भोक्ता कहा जाता है।

(ङ) वह **महेश्वर** है क्योंकि स्वतन्त्र तथा सर्व व्यापी होने के कारण वह

महान् है एवं उसकी चैतन्य सत्ता से ही प्रेरित होकर जड़ प्रकृति के सब कार्य होते हैं इसलिए वह ईश्वर भी है। महान् तथा ईश्वर होने के कारण वह महेश्वर है।

(च) वह **परमात्मा** है। देह, बुद्धि इत्यादि को मिथ्या ज्ञान से (अज्ञान से) जीव अपनी आत्मा मानता है उस आत्मा से उपद्रष्टृत्व आदि पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट आत्मा परम है (विलक्षण तथा श्रेष्ठ है)। इस कारण से तथा सर्व भूतों की आत्मा होने से वह परमात्मा कहलाता है। आगे भी कहेंगे (गीता १५।१७) कि जो जीवरूपी पुरुष से उत्तम है अर्थात् शुद्धचैतन्यस्वरूप पुरुषोत्तम है उसको परमात्मा कहा जाता है। इस प्रकार परमात्मा में जब स्थित हो जाता है तभी संसार से प्रकृति से) जीव मुक्त हो जाता है, यही कहने का अभिप्राय है (गीता १३।२२)।

पुरुष और प्रकृति का ज्ञान ही मुक्ति का उपाय है (१३।२३),

उक्त उपद्रष्टृत्व आदि विशेषणयुक्त परमपुरुष परमात्मा में स्थित होकर जो जीवरूपी पुरुष प्रकृति एवं उसके गुणों के विकारों को दृश्य रूप से जानता है वह सर्वथा वर्तमान रहते हुए भी अर्थात् प्रारब्धवश शास्त्रविधि का उल्लंघन करके कर्म करते हुए भी पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं करता है क्योंकि इस ज्ञान के फल से वह जानता है कि गुणों के विकार देहइन्द्रियादि गुणों के विकार रूप शुभाशुभ विषयों में प्रवृत्त हैं एवं दोनों ही स्वप्नवत् कल्पित (मिथ्या) हैं। स्वप्न दृश्य में किए जाने वाले पाप-पुण्य रूप कर्म तथा उन कर्मों के फल जिस प्रकार स्वप्नद्रव्य को स्पर्श नहीं करते हैं, उसी प्रकार पुरुष (पराप्रकृति) तथा गुणों के सहित प्रकृति (अपराप्रकृति) तत्त्व को जो जानता है, वह भी कर्मों या कर्म-फलों से लिप्त नहीं होता है। अतः वह पुनः जन्म नहीं लेता है क्योंकि वह जानता है कि—(१) 'मैं प्रकृति तथा पुरुष से सम्पूर्ण विलक्षण नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, पुरुषोत्तम, परमात्मा हूँ' अतः मैं जन्म-मरण से रहित हूँ। (२) त्रिगुणात्मिका प्रकृति तथा पुरुष (अपरा एवं परा प्रकृति) दोनों ही माया से (अज्ञान से) कल्पित तथा मिथ्या हैं। कल्पित कर्म तथा कर्म-बीज किसी के जन्म का हेतु नहीं बन सकता। (३) इस प्रकार पुरुष और प्रकृति के विवेक ज्ञान से जो सम्यक

ज्ञान उत्पन्न होता है उससे सर्व कर्म तथा कर्म-फल भस्मीभूत हो जाते हैं। अतः पुनर्जन्म की कोई सम्भावना नहीं हो सकती। इस प्रकार के ज्ञान से जीवन्मुक्त-अवस्था तथा देह के पतन के पश्चात् विदेह-कैवल्य प्राप्त होता है।

उक्त आत्मदर्शन के साक्षात् (अन्तरंग) साधन क्या हैं (१३।२४-२५)?

(१) जो निष्काम भाव से शास्त्र विहित कर्मों का अनुष्ठान कर चित्त शुद्धि प्राप्त हुए हैं तथा गुरु मुख से वेदान्त वाक्य श्रवण कर आत्मा के सम्बन्ध में परोक्ष-ज्ञान लाभ किए हैं उन उत्तम अधिकारियों के आत्मदर्शन के लिए **ध्यानयोग** प्रकृष्ट उपाय है। शब्दादि समस्त विषयों का मिथ्यात्व तथा एकमात्र आत्मा का सत्यत्व निश्चय कर समस्त विषयों से इन्द्रियों तथा मन को निवृत्त कर तथा आत्माकारा वृत्ति से भिन्न अन्य वृत्तियों का तिरस्कार कर एकाग्रता पूर्वक तैलधारावत् निरन्तर अविच्छिन्न प्रत्यय (वृत्ति) से आत्मचिन्तन करने को ध्यान कहा जाता है। इस प्रकार ध्यान से आत्मा द्वारा आत्मा में शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का उत्तम योगी साक्षात्-कार कर लेता हैं। आत्मा से भिन्न (अतिरिक्त) किसी वस्तु की सत्ता उसमें न रहने के कारण कर्ता, कर्म, अधिकरण इत्यादि रूपों से सभी उसके अनुभव में आत्मा ही रह जाता है इसलिए कहा है 'आत्मनि आत्मना आत्मानं पश्यन्ति'।

(२) मध्यम अधिकारी **सांख्ययोग**—द्वारा आत्मदर्शन करते हैं। सांख्य ही योग (साधन) है इस अर्थ से सांख्ययोग पद निष्पन्न हुआ है। सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण तथा इन तीनों गुणों के सब विकार मेरे दृश्य हैं, अतः इन सब से विलक्षण मैं साक्षीस्वरूप आत्मा हूँ इस प्रकार गुण तथा गुणों की क्रियाओं से निवृत्त होकर (समस्त जड़ प्रपंचों से सम्बन्धशून्य होकर) 'नित्य, सत्य, सर्वव्यापी, निर्विकार, चैतन्यस्वरूप, साक्षीभूत आत्मा मैं हूँ', इस प्रकार चिन्तन करते हुए योगी आत्मा में ही स्थित होता है एवं आत्मा से आत्मा को आत्मा में साक्षात्कार कर लेता है।

(३) जो लोग उक्त प्रकार के ध्यानयोग या सांख्ययोग के अनुष्ठान में समर्थ नहीं हैं वे मन्द अधिकारी पुरुष कर्मयोग का आश्रय करके आत्मा का दर्शन कर

लेते हैं। अपने-अपने वर्ण तथा आश्रम के लिए वेदादि शास्त्रों में जो जो कर्म विहित हैं, उन कर्मों का निष्काम भाव से तथा ईश्वर-अर्पण बुद्धि से अनुष्ठान करने को कर्मयोग कहते हैं। इसप्रकार कर्म से चित्तशुद्धि (अर्थात् मिथ्या-विषयों में विराग तथा परमेश्वर के लिए विशेष राग) उत्पन्न होती है, चित्त-शुद्धि से अपने यथार्थ स्वरूप को जानने की जिज्ञासा उत्पन्न होती है, जिज्ञासा उत्पन्न होने के पश्चात् गुरु मुख से वेदान्त वाक्यों का श्रवण करने पर उसके तात्पर्य को धारण करने की सामर्थ्य होती है। तत्पश्चात् मनन द्वारा अनात्म वस्तु से आत्मा को पृथक् कर निदिध्यासन (ध्यान) द्वारा निर्विकल्प समाधि-अवस्था प्राप्त कर आत्मा में आत्मा का आत्मा द्वारा साक्षात्कार होता है। अतः कर्म-योग द्वारा क्रमशः सांख्ययोग का अधिकारी होता है। इसलिए कर्मयोग, सांख्ययोग तथा ध्यानयोग ये तीनों आत्मदर्शन के लिए एक के पश्चात् एक साधन का क्रम है क्योंकि अन्त में ध्यान तथा निर्विकल्प समाधि के बिना आत्मदर्शन सम्भव नहीं है।

(४) जो लोग उक्त तीनों प्रकार के साधनों से आत्मा को जान लेने में असमर्थ हैं वे विवेकरहित होने पर भी यदि करुणामय योग्य गुरु की शरण लेकर उनमें प्रकृति पुरुष तथा पुरुषोत्तम आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में निरन्तर श्रद्धा पूर्वक सुनते रहें (अर्थात् श्रवणमात्र में निष्ठावान् हों) तो उनकी भी मोक्ष मार्ग में प्रवृत्ति होगी एवं क्रमशः कर्मयोग, सांख्ययोग तथा ध्यानयोग द्वारा आत्मा का साक्षात् दर्शन कर मृत्युरूप संसार को अतिक्रमण कर सकेंगे (गीता १३।२५)।

तत्वज्ञानी के ज्ञान फल (१३।२६-३१)

(१) **जगत् मिथ्या है**—स्थावरजङ्गम रूप से जितनी भी जागतिक वस्तुये हैं वे सब क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न हुई हैं—ऐसा तत्वज्ञानी जानता है। अनिर्वचनीया माया (अविद्या) के कार्यरूप से जो जगत्-प्रपंच रूप दृश्य पदार्थ उत्पन्न हुए हैं वे क्षेत्र हैं। माया (कल्पना) से रचित वस्तुओं की कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है। उनसे विलक्षण तथा इन सब दृश्य पदार्थों के भासक एक अद्वितीय, स्वप्रकाश, असंग, उदासीन, निर्गुण, निर्धर्मक परमार्थ सत् चैतन्यस्वरूप क्षेत्रज्ञ आत्मा

इन सबके अधिष्ठान रूप से विद्यमान है। तथापि मायावश इन दोनों का (जड़ क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का) अविवेक के कारण परस्पर मिथ्या तादात्म्य अध्यास होता है अर्थात् आत्मा जड़ क्षेत्र के धर्म तथा कार्यों को अपना मानता है एवं जड़ क्षेत्र भी इसप्रकार के अभिमान के निमित्त चेतन के समान कार्य करता है। इसको ही परस्पर का संयोग कहा जाता है। निष्काम परिपूर्ण आत्मा में मायावश कामना का उदय होता है एवं [श्रुति इसलिए कहती है 'सोऽकामयत अहं बहु स्याम्'—(तै० उ०)] काम से संकल्प एवं संकल्प से विश्वप्रपंच (क्षेत्र) की सृष्टि होती है। साथ ही साथ अपनी ही माया से रचित दृश्य पदार्थों में क्षेत्रों का द्रष्टा होते हुए भी (दृश्य देहादि पदार्थों में) आत्माभिमान करता है (अर्थात् 'मैं और 'मेरा' पन करता है)—यहीं संयोग है। इसप्रकार संयोग होने पर ही कर्म होता है एवं कर्मों के फल भोगने के लिए नाना योनियों में जन्म तथा मरण का चक्र चलता रहता है। इस तत्त्वको यथार्थ रूप से जानना आत्मदर्शन के पश्चात् ही संभव है, अतः आत्मदर्शी के लिए जगत् को स्वप्न दृश्यवत् मिथ्या जानकर आत्मा में निरन्तर स्थित रहना भी संभव होता है अतः अपने स्वरूप के सम्बन्ध में अज्ञान ही संसार का कारण है एवं स्वरूप के ज्ञान से संसार स्वप्न के समान नष्ट हो जाता है, यह आत्मज्ञानी पुरुष प्रत्यक्ष जान लेता है (१३।२६)!

(२) सर्वत्र समभाव से अवस्थित अविनाशी परमेश्वर ही एकमात्र सत्य वस्तु है (१३।२७) ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब तक समस्त सृष्ट पदार्थ स्वप्न दृश्य के समान अथवा गन्धर्व नगर आदि के समान विकारी (विनाशशील) हैं। अतः यह सब असत् (सत्ताहीन) होकर भी सत्य रूप से भासता है परन्तु इन सभी विनाशशील पदार्थों में अविनाशी, सदापूर्ण, नित्यचैतन्य स्वरूप परमेश्वर निर्विशेष रूप से विद्यमान है। इसप्रकार जो देखता है अर्थात् जिसको इसप्रकार प्रत्यक्ष अनुभवजनित ज्ञान होता है वही ठीक-ठीक देखता है अर्थात् यथार्थ तत्वदर्शी है। अज्ञानी पुरुष देखते हुए भी नहीं देखता है क्योंकि वह आत्मा का दर्शन न कर मिथ्या जगत् को देखता है, जैसे भ्रान्त पुरुष रज्जु में सर्प को देखता है। इसलिए वह 'विपरीतदर्शी' है।

(३) वह परमेश्वर ही आत्मा है (१३।२८) सर्व भूतों में सर्वत्र समान (तुल्य) रूप से अवस्थित निर्विशेष परमेश्वर को देखने वाला ('वह मैं ही हूँ' इसप्रकार

साक्षात् दर्शन करने वाला) पुरुष सर्वत्र अपने को ही (आत्मा को ही) देखता है इसलिये वह दूसरे की हिंसा नहीं करता है (पीड़ा नहीं देता है उसी प्रकार अपनी आत्मा को भी अपने स्वरूप से विच्युत कर नाना योनि संकट में जन्म मृत्यु के चक्र मे) डालकर पीड़ा नहीं देता है अर्थात् आत्मा का घात नहीं करता है। अतः वह परमगति अर्थात् मोक्ष को ही प्राप्तकर लेता है। आत्मा सबसे प्रियतम वस्तु है इसलिए अपने सभी कर्मों से आत्मा को आनन्द पहुँचाना ही एकमात्र लक्ष्य वस्तु है। इसलिए आत्मदर्शी का आत्माद्वारा आत्मा की हिंसा करना संभव नहीं है।

(४) आत्मा अकर्ता है (१३।२९)—आत्मा का सर्वत्र समभाव से दर्शन न करना ही आत्म-घात है यह कहा जा चुका है किन्तु संसार (जगत्) में सर्वत्र नानात्व ही दिखाई देता है अर्थात् प्रकृति के कार्य देहादि कहीं भी एक जैसे दिखाई नहीं देते हैं—एक दूसरे से सदा ही भिन्न हैं। इस अवस्था में आत्मा का समत्व दर्शन सर्वत्र कैसे संभव होता है।

उत्तर—ऐसा दर्शन संभव है क्योंकि कर्मसमूह सर्व प्रकार से प्रकृति द्वारा ही सम्पन्न हो रहे हैं अर्थात् देहादि विशिष्ट कर्ता, इन्द्रियादि करण एवं नाना क्रियायें सभी त्रिगुणात्मिका प्रकृति (माया) के ही कार्य हैं इस मायानाटक के अधिष्ठान के रूप से सर्व उपाधिवर्जित, असंग, अद्वितीय, सर्वत्र सम एक क्षेत्रज्ञ आत्मा ही निष्क्रिय (अकर्ता) होकर उदासीन साक्षी पुरुष के समान नित्य विराजमान है, इसप्रकार जो देखता है वही सम्यगदर्शी (यथार्थ तत्त्वदर्शी) है। अतः जो इसप्रकार साक्षात् दर्शन (अनुभव) कर कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि विशिष्ट प्रकृति से (माया-मरीचिका से) अपने को सम्पूर्ण पृथक् कर अपने निर्गुण, निष्क्रिय, परमशान्त आत्मा में स्थित होता है वह जीवनमुक्ति तथा शरीर के पतन के पश्चात् विदेहकैवल्य को प्राप्त होगा, इस विषय में तो कहना क्या है ? [गीता में भगवान् ने अन्यत्र भी कहा है—'नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्' (गीता ५।१३) अर्थात् नौ द्वार विशिष्ट पुर (शरीर) में देही (आत्मा) अहंभाव से शून्य होकर रहता है। अहंकार का अभाव रहने के कारण ही उस शरीर के द्वारा स्वयं न करता हुआ और ममता का अभाव होने के कारण शरीर से न कराता हुआ ही रहता है।]

(५) सभी पृथक्-पृथक् भाव एक आत्मा में ही स्थित हैं तथा एक आत्मा से ही पृथक्-पृथक् भूतों का विस्तार होता है—(जिसप्रकार स्वप्न द्रष्टा स्वप्न से जाग्रत होने के पश्चात् जानता है कि जितनी पृथक्-पृथक् वस्तुयें स्वप्न में देखी गई थीं वह उससे ही विस्तार को प्राप्त हुई थीं एवं स्वप्न भंग होने के साथ-साथ वे सब पृथक्-पृथक् दृश्य स्वप्नद्रष्टा में ही लय होकर उसके साथ एक हो जाती थी। उसी प्रकार तत्वदर्शी भी समाधि में अपने में स्थावरजङ्गमात्मक जड़ दृश्य वर्गों के पृथक्-पृथक् भावों को अपनी आत्मा में लीन हुए देखता है (क्योंकि उस समय द्वैत नामक कोई वस्तु नहीं रहती है), फिर व्युत्थान अवस्था में उसी आत्मा से विश्व प्रपञ्च का विस्तार देखता है। इसप्रकार निश्चय-ज्ञान से प्रकृति में मिथ्यात्वबुद्धि सुदृढ़ होने के कारण 'पर वैराग्य' उपस्थित होता है एवं उस ज्ञानीकी दृष्टि में आत्मा से अतिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता न रहने के कारण वह पूर्णतया आत्मसंस्थ (ब्रह्मनिष्ठ) होता है।

(६) शरीर में रहते हुए भी अनादि, निगुर्ण, अव्यय (सर्व विकारशून्य) **परमात्मा न कोई कर्म करता है और न तो कर्म फल में लिप्त होता है**—(१३।३१)। अतः तत्त्वदर्शी पुरुष आत्मा और परमात्मा का एकत्व अनुभव कर यह जान लेता है कि वह स्वयं भी अनादि, निर्गुण होने के कारण जन्मादि सर्व विकारों से रहित है। जिसप्रकार भ्रान्ति से प्रतीत हुए सर्प, दंड, धारा इत्यादि में समभाव से विद्यमान रहने पर भी रज्जु उदासीन तथा निष्क्रिय ही रहता है उसी प्रकार आत्मा भी आध्यासिक (आरोपित) संबन्ध से शरीर में रहते हुए भी न कोई कर्म करता है और न तो कर्म फल में लिप्त ही होता है [अतः ज्ञानी स्पष्ट रूप से जान लेता है कि प्रकृति से उत्पन्न हुए देहादि कर्ता हैं एवं अहंकार ही कर्मफल में लिप्त होता है तथा कर्ता, कर्म, कर्मफल इत्यादि सभी अज्ञान से] कल्पित, अतः मिथ्या हैं अतः ज्ञानी के कर्मों में कर्तृत्वबुद्धि तथा कर्मफल में लिप्तता (आकांक्षा) न रहने के कारण पुनर्जन्म की संभावना ही नही हो सकती है]

तत्त्वज्ञानी के दर्शन की उपमा (१३।३२-३३)।

आत्मा कुछ नही करता है एवं किसी में लिप्त नहीं होता है—इस सम्बन्ध में आकाश एक स्थूल उपमा (दृष्टान्त) है। जैसे सर्वव्यापी आकाश सर्व वस्तुओं के साथ

सम्बन्ध युक्त होने पर भी अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अर्थात् स्वतः ही असंग-स्वभाव होने के कारण किसी में लिप्त नहीं होता है अर्थात् कीचड़ में स्थित आकाश कीचड़ से लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार आत्मा भी उत्तम मध्यम, अधम अर्थात् देव, मनुष्य, कीट पतंग आदि के देह में विद्यमान (अवस्थित) रहने पर भी उन देहों के दोष गुणों से लिप्त (दोषी या गुणी) नहीं होता है। फिर सर्व प्रकाश होते हुए भी आत्मा एक तथा निर्लिप्त कैसे रह सकता है ? इस संबन्ध में दृष्टान्त सूर्य है। जिस प्रकार एक ही सूर्य नाना नाम रूपात्मक इस समस्त लोक को (जगत् को) प्रकाशित करता है, तथापि प्रकाश्य के धर्म से लिप्त नहीं होता है अथवा प्रकाश्य के भेद से भिन्नता प्राप्त न होकर एक ही स्वरूप में सदा ही स्थित रहता है, उसी प्रकार महत्तत्व से लेकर स्थूल जगत् पर्यन्त समस्त क्षेत्र (दृश्य जगत्) को एक ही क्षेत्री (परमात्मा) प्रकाशित करता हुआ भी प्रकाश्य धर्म (नाम-रूपात्मक किसी वस्तु के धर्म से अर्थात् अधर्म, पाप-पुण्य सुख, दुःखादि से) लिप्त नहीं होता है और नही प्रकाश्य के भेद से भिन्नता को प्राप्त होता है।

उपसंहार (१३।३४)।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के पृथक्त्व का ज्ञान ही संसार से मुक्त होकर परमपद की प्राप्ति का उपाय है। इस अध्याय में जैसा कहा गया है उसी रीति से क्षेत्र जड़ है, नाना है, विकारी है, नाशवान् है, परिच्छिन्न है, दुःखमय है, अज्ञान से कल्पित है अतः मिथ्या है और सर्व क्षेत्रों को जानने वाला साक्षी क्षेत्रज्ञ आत्मा चैतन्यस्वरूप है, एक है, अविकारी है, अव्यय (अविनाशी) है, असीम (अनन्त) है, आनन्दस्वरूप है, नित्यसत्य है। इसप्रकार इस क्षेत्रज्ञ आत्मा का साक्षात् अनुभव करने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उस ज्ञानरूप चक्षु से अर्थात् सम्यग्दर्शन से जो जान लेता है कि आत्मा में स्थित होने पर ही सर्वभूतों के (विश्व प्रपंच के) कारण अविद्यारूपा प्रकृति से मोक्षण (मुक्ति) हो जाता है, वह तत्वज्ञानी परमपद को (ब्रह्मपद को अर्थात् कैवल्य को) प्राप्त होता है अर्थात् उसका पुनर्जन्म नहीं होता है। अतः प्रकृति-पुरुष का (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का) विवेक (पार्थक्य) ज्ञान ही मोक्ष का उपाय है (१३।३४)।

त्रयोदशोऽध्यायः समाप्तः

शुद्धिपत्र

एकसठ वें (६१) पृष्ठ में १३।२ श्लोक की शंकरानन्द टीका के पश्चात् नारायणी टीका इस प्रकार सन्निविष्ट होनी चाहिए—

(३) **नारायणी टीका**—किसी वस्तु का यथार्थ स्वरूप न जानने से उसके साथ संयोग अथवा उससे वियोग होना उचित है कि नहीं, यह निश्चय करना सम्भव नहीं है। इसलिए भगवान् क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का स्वरूप स्पष्ट करने के लिये सभी ज्ञातव्य विषय बोल रहे हैं ?

उत्तर—(क) क्षेत्र के सम्बन्ध में ज्ञातव्य—

(१) क्षेत्र का क्या स्वरूप है ?—क्षेत्र जड़ है, द्रश्य है तथा परिच्छिन्न स्वभाव-विशिष्ट है।

(२) क्षेत्र किस प्रकार का है ?—क्षेत्र इच्छा, द्वेषादि धर्मविशिष्ट है।

(३) क्षेत्र किस प्रकार विकार युक्त है ?—क्षेत्र महत् आदि रूपों में परिणत होता है एवं व्यष्टि शरीर में इन्द्रियादि विकारों से युक्त है।

(४) क्षेत्र किससे उत्पन्न होता है ?—प्रकृति तथा पुरुष के संयोग से उत्पन्न

(५) क्षेत्र क्या है ?—प्रकृति के कार्य रूप से उत्पन्न होकर स्थावरजङ्गमादि भेद से पृथक्-पृथक् आकार विशिष्ट होता है।

(ख) क्षेत्र के सम्बन्ध में ज्ञातव्य—

(१) क्षेत्र का क्या स्वरूप है ?—स्वरूपतः वह स्वप्रकाश, चैतन्य तथा आनन्द स्वभाव वाला है।

(२) क्षेत्रज्ञ का प्रभाव क्या है ?—क्षेत्रज्ञ उपाधि से नाना प्रकार के प्रभाव (शक्ति) से युक्त होता है।

क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के सम्बन्ध में सभी संशयों की निवृत्ति द्वारा क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर जीव मुक्त हो सकता है। अज्ञानी की दृष्टि से ही क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ की सत्ता प्रतीयमान होती है। क्षेत्र यदि मायाकल्पित है तो क्षेत्रज्ञ भी कल्पित ही है अर्थात् क्षेत्र यदि मिथ्या हो तो उसका जानने वाला क्षेत्रज्ञ भी मिथ्या होगा। इसलिये उनके स्वरूप का विस्तार से वर्णन भी कल्पना को आश्रय करके ही सम्भव है एवं उसका अंत भी नहीं हो सकता ('नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे'–गीता १०।१९) इसलिये भगवान् ने इन दोनों के स्वरूप का वर्णन संक्षेप से किया जिससे अर्जुन उसको सुनकर ही भ्रान्ति से मुक्त होकर एक अखण्ड, अद्वय सर्वात्मा ब्रह्म ही सत्य है एवं वही क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ रूपों से अज्ञान से प्रतीत हो रहा है, इसप्रकार सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर तन्निष्ठ हो सके (अर्थात् उसमें स्थिति लाभ कर सके)। परमगुरु पुरुषोत्तम भगवान् ही क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ के रूपों से विद्यमान हैं अतः वही इन दोनों के यथार्थ स्वरूप को बतला सकते हैं–दूसरा नहीं। इसलिये भगवान् कह रहे हैं—'तत् समासेन मे शृणु' (वह मुझसे संक्षेप में सुन लो)।

श्रीहरि शरणम्

सम्मति

गीता हमारी आत्मा की मुक्ति का महागीत ही नहीं, हमारी कर्मसंहिता भी है। इस बृहद् ज्ञानकोष पर अनेक साधक और चिन्तकों ने अनेक दृष्टियों से प्रकाश डाला है।

प्रस्तुत व्याख्या का विशेष महत्त्व होना स्वाभाविक है। उसमें विद्वान् और साधक व्याख्याकार ने प्रत्येक अध्याय पर जैसी व्याख्या प्रस्तुत करने का संकल्प और अनुष्ठान किया है, वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

विश्वास है, हिन्दी के जिज्ञासुओं को प्रस्तुत हिन्दी रूपान्तर में, जो मूल बंगला से लिया गया है, गीता का सन्देश ग्रहण करने में सुविधा होगी।

तिथि १०-३-६५

महादेवी वर्मा एम. ए.
डि० लिट्०, पद्मभूषण,
कुलपति—प्रयाग महिला विद्यापीठ
(महिला विश्वविद्यालय)
१०६ १५३, हीवेट रोड
इलाहाबाद।